महाभारत

सम्पादक
डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

२

महाभारत

सभापर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
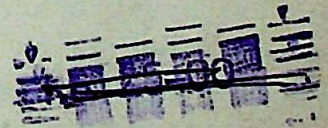
पारडी [जि. बलसाड]

भूमिका

महाभारतके अठारह पर्वोंमेंसे सभापर्व दूसरा पर्व है। इसमें अनेक प्रकारकी सभाओंका वर्णन है, इसीलिए इस पर्वका नाम सभापर्व रखा गया है।

इससे पूर्व आदिपर्व अर्जुन और श्रीकृष्ण द्वारा खाण्डव-दाहके प्रसंग पर आकर समाप्त हो चुका था। उसमें चार पक्षी, तक्षक और मय दानवको छोडकर सभी कुछ अग्निदेव भक्षण कर चुके थे। मयको भी जब श्रीकृष्ण अपने बाणका लक्ष्य बनाना चाहते थे, उसी समय मयकी प्रार्थनाको सुनकर अर्जुनने उसे अभयदान दे दिया। इस कारण वह श्रीकृष्णका वध्य न हो सका। यह प्रसंग सभापर्वका पूर्व रंग था।

सभापर्वमें भी अनेकों उपपर्व हैं। उनमें प्रथम सभापर्व ही है।

इस उपपर्वमें अर्जुन और श्रीकृष्णके एकान्तमें बैठे रहने पर मयदानव उनके पास जाता है और उनसे कहता है कि आप दोनोंने मेरे प्राण बचाये हैं, इसलिए इस उपकारके बदले में आपका कुछ काम करना चाहता हूं। तब अर्जुनकी सम्मतिसे श्रीकृष्ण उसे एक ऐसी अलौकिक सभा बनानेका आदेश देते हैं कि जिसकी तुलना कहीं भी न मिल सके। तब मयदानव सभा अर्थात् राजमहलका निर्माण करता है। उस सभामें बैठे हुए युधिष्ठिर एक दिन नारदको आता हुवा देखते है। उनके आनेपर उनका सत्कार करते हैं। कुशल प्रश्न पूछनेके बाद युधिष्ठिर नारदसे पूछते हैं, हे मुने! तुमने इतनी सुन्दर सभा कहीं देखी है? तब नारद कहते हैं कि इस मर्त्यलोकमें तो ऐसी सभा कहीं नहीं है, पर यम, वरुण, इन्द्र, शिव और ब्रह्माकी सभायें इतनी ही भव्य हैं। तब युधिष्ठिरकी प्रार्थना पर नारद इन सब सभाओंका वर्णन करते हैं। अन्तमें जाते जाते नारद युधिष्ठिरसे राजसूय यज्ञ करनेकी सलाह दे जाते हैं। यहां सभापर्व समाप्त होता है।

मंत्रपर्वमें युधिष्ठिर अपने भाइयोंसे सलाह लेते हैं, सभी भाई उन्हें राजसूय यज्ञ करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं। फिर भी युधिष्ठिर श्रीकृष्णके विचार जाननेके लिए उन्हें बुलवा भेजते हैं। श्रीकृष्ण आकर युधिष्ठिरसे कहते हैं कि राजसूय यज्ञका विचार तो उत्तम है, पर उसके पूर्व महाबली मगधराज जरासंधको विनष्ट करना चाहिए। तब श्रीकृष्ण उसके वीरताका वर्णन करते हैं। इसी मंत्रपर्वमें मगधराज बृहद्रथका निस्सन्तान होना, चण्डकौशिक ऋषिसे प्रार्थना, चण्डकौशिकका आमफल देना, बृहद्रथकी दोनों रानियों द्वारा आधा आधा फल खा लेना, यथासमय दोनों रानियोंके गर्भसे आधे आधे अवयवका पैदा होना, डरकर रानियों द्वारा उसको फिकवा देना, जरा नामकी राक्षसीका आना, दो शरीर खण्डोंको देखकर उन्हें जोड देना, जोड देनेपर उस बालकका चिल्लाना, राजपरिवारका उसे देखकर खुश होना, जरा राक्षसीके द्वारा जोड दिए जानेके कारण जरासंध नाम पडना आदि बातोंका वर्णन है।

जरासंधवधपर्वमें श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमका ब्राह्मण वेशमें मगध जाना, वहां जरासंधको युद्धके लिए श्रीकृष्णका आह्वान करना, भीम और जरासंधमें मल्लयुद्ध, श्रीकृष्णके संकेत पर भीमका जरासंधको दो भागोंमें चीरकर मार डालना, मारनेके बाद जरासंधके द्वारा कैद किए गए राजा-

ओंकी मक्तता, जरासंधके पुत्र सहदेवका राज्याभिषेक आदि बातोंका वर्णन है।

दिग्विजयपर्वमें अर्जुन द्वारा उत्तर दिशा, भीमसेनके द्वारा पूर्व, सहदेवके द्वारा दक्षिण और नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाको जीतकर अपार धनराशि लाकर युधिष्ठिरको समर्पित करनेका वर्णन है।

राजसूययज्ञपर्वमें युधिष्ठिरके द्वारा राजसूय यज्ञ करनेका, नकुलका जाकर कौरवोंको निमंत्रित करने और नाना दिशाओंसे राजाओंके आनेका वर्णन है।

अर्घाभिहरणपर्वमें राजसूय यज्ञके अन्तमें भीष्मसे युधिष्ठिरके द्वारा पूजाके योग्य व्यक्तिके पूछने पर भीष्मका श्रीकृष्णकी पूजा करनेके लिए कहना, यह देखकर चेदिराज शिशुपालका भीष्म, युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण आदिसे अपशब्द कहना, भीष्म, सहदेव और भीमका प्रत्युत्तर, चेदिराज शिशुपालका सभासे उठकर चला जाना आदिका वर्णन है।

शिशुपालवधपर्वमें युधिष्ठिरका शिशुपालको मना कर लाना, शिशुपालका भीष्मको भलाबुरा कहना, भीमका संताप, भीष्मका शिशुपालकी उत्पत्तिका वृत्तान्त कहना, अन्तमें क्रुद्ध होकर श्रीकृष्णका चक्रसे शिशुपालके वधका वर्णन है।

द्यूतपर्वमें दुर्योधन और शकुनिका युधिष्ठिरकी सभाको देखकर ईर्ष्या करना, दुर्योधनको जलमें गिरते और दीवारसे टकरा जाने पर भीमका हंसना, दुर्योधनका इस अपमानको न सहकर आत्महत्याका विचार करना, शकुनिका समझा बुझाकर युधिष्ठिरसे जुआ खेलकर सब कुछ जीत लेनेका उपाय बताना, सुनकर दुर्योधनका प्रसन्न होना, धृतराष्ट्रके पास जाकर दुर्योधनका यज्ञमें राजाओं द्वारा लाए गए धनका वर्णन करना, धृतराष्ट्रसे जुआ खेलनेकी आज्ञा मांगना, धृतराष्ट्रका विदुरको युधिष्ठिरके पास भजना, युधिष्ठिरका आकर जुएमें सब हार जाना, दुःशासन द्वारा द्रौपदीका वस्त्रहरणका वर्णन है।

अनुद्यूतपर्वमें बारह वर्ष वनवास और एक वर्षके अज्ञातवासकी शर्तपर युधिष्ठिरका पुनः जुआ खेलना, फिर हारकर वनवासके लिए चल पडना, जाते समय भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदीकी प्रतिज्ञायें, चले जानेके बाद धृतराष्ट्रका शोक आदिका वणन है।

इस प्रकार सभापर्वमें इन सब बातोंका वर्णन व्यासने किया है। वह सभापर्व पाठकोंके सामने प्रस्तुत है।

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
[जि. वलसाड] (गुजरात)

पं. श्री. दा. सातवलेकर
प्रधान सम्पादक

सभापर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ बी. एम. बिरलाजी का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

म हा भा र त

स भा प र्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ॥

: १ :

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद (श्रीकृष्ण, अर्जुन और मयदानव तीनोंके एकत्र होकर उस सुन्दर नदीके तटपर बैठने पर) मयदानवने कृष्णके सामने अर्जुनकी बारबार पूजा करके दोनों हाथ जोडकर मीठी बाणीसे कहा ॥ १ ॥

अस्माच्च कृष्णात्संक्रुद्धात्पावकाच्च दिधक्षतः।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २ ॥

हे कुंतीनन्दन अर्जुन! इन क्रोधयुक्त श्रीकृष्ण और जलानेकी इच्छा करनेवाले प्रज्ज्वलित अग्निसे आपने मेरी रक्षा की है, अतः कहें, मैं आपका क्या उपकार करूं? ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच—

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर।
प्रीतिमान्भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले— हे महासुर! तुम्हारे वचनहींसे हमें सब कुछ मिल गया, तुम्हारा कल्याण हो। अब जहां जी चाहे जाओ; तुम सदा हम पर प्रेम रखना और हम भी तुम पर प्रेम रखें ॥ ३ ॥

मय उवाच—

युक्तमेतत्त्वयि विभो यथात्थ पुरुषर्षभ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित्कर्तुमिच्छामि भारत ॥ ४ ॥

मय बोला— हे पुरुषश्रेष्ठ प्रभो! आप जो कहते हैं, वह तो आपहीके योग्य है, पर तो भी, हे भारत! मैं प्रीतिसे आपके लिए कुछ करना चाहता हूं ॥ ४ ॥

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः।
सोऽहं वै त्वत्कृते किंचित्कर्तुमिच्छामि पाण्डव ॥ ५ ॥

हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! मैं शिल्पकार्यमें दक्ष और दानवोंका विश्वकर्मा हूं, इसी हेतु मैं आपके लिये कुछ करना चाहता हूं ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच—

प्राणकृच्छ्राद्विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित्कारयितुं त्वया ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले— हे मय! तुम जो यह मानते हो कि मेरे द्वारा मृत्युके मुखसे तुम मुक्त कराये गये हो अर्थात् मैंने तुम्हारी प्राणसंकटसे रक्षा की है, अतः उसका बदला देना चाहते हो, अतः इस दशामें तुमसे कोई कार्य नहीं करवा सकूंगा ॥ ६ ॥

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित्तथा प्रतिकृतं मयि ॥ ७ ॥

हे दानव! पर तुम्हारे संकल्पको व्यर्थ करना भी नहीं चाहता, अतः तुम श्रीकृष्णका कोई कार्य कर दो, उसीसे मेरा प्रत्युपकार हो जायगा ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ८ ॥

वैशंपायन बोले– अर्जुनकी आज्ञासे जब मयदानवने वासुदेवसे प्रार्थना की, तो वे थोडी देरतक सोचते रहे कि इसे किस कार्य में लगाऊँ ॥ ८ ॥

चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥ ९ ॥

फिर सोचकर श्रीकृष्णने आज्ञा दी, कि, हे दितिके पुत्र मय ! युधिष्ठिरके लिये जैसा तुम अच्छा समझो, एक सभा बना दो ॥ ९ ॥

यां कृतां नानुकुर्युस्ते मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः ।
मनुष्यलोके कृत्स्नेऽस्मिंस्तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ १० ॥

तुम एक ऐसी सभा बनाओ कि जिसे देखकर धरती भरका कोई भी मनुष्य वैसी दूसरी सभा न बना सके और सब लोग उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाएं ॥ १० ॥

यत्र दिव्यानभिप्रायान्पश्येम विहितांस्त्वया ।
आसुरान्मानुषांश्चैव तां सभां कुरु वै मय ॥ ११ ॥

और, हे मय ! तुम्हारे द्वारा निर्मित जिस सभामें दिव्य, आसुर वा मानवीय सब प्रकारकी बनावट हम देख सकें, ऐसी एक सभा बनाओ ॥ ११ ॥

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं संप्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य सभां मुदा ॥ १२ ॥

खुश होकर मयदानवने प्रसन्नचित्तसे वह बात मानकर पाण्डवोंके लिये विमानके आकार-वाले एक सभामण्डपकी छवि बनायी ॥ १२ ॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतद्यथावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १३ ॥

इसके बाद कृष्ण और अर्जुन दोनोंने यह सब वृत्तान्त धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा और वे मयदानवको युधिष्ठिरके संमुख ले गये ॥ १३ ॥

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत्तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य सत्कृतः ॥ १४ ॥

तब, हे भारत ! युधिष्ठिरने उसकी यथायोग्य पूजा की और मयने भी युधिष्ठिरका सम्मान करके बडे सम्मानसे पूजा ग्रहण की ॥ १४ ॥

×

स पूर्वदेवचरितं तत्र तत्र विशां पते।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ॥ १५ ॥

हे भरतवंशोत्पन्न महाराज जनमेजय ! दितिपुत्र मयदानव तब पाण्डवोंसे पूर्वदेव अर्थात् दानवों की पुरानी कथायें कहने लगा ॥ १५ ॥

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा प्रचिन्त्य च
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

बादमें कुछ कालतक आराम करके थकावट दूरकर विश्वकर्मा मयने सोच विचारकर महात्मा पाण्डवोंके सभाकी नींव डाली ॥ १६ ॥

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ १७ ॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान्पायसेन सहस्रशः।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥ १८ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आदिके मतसे वीर्यवान् महातेजस्वी मयदानवने शुभ दिनको विधिपूर्वक पुण्यकर्म करके सहस्रों ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके धन दे कर तथा पायसान्नसे भली प्रकार तृप्त किया ॥ १७-१८ ॥

सर्वर्तुगुणसंपन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम्
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ १९ ॥

फिर सब ऋतुओंमें सुख देनेवाली, दिव्य रूपवाली होनेके कारण मन हरनेवाली दस हजार हाथतक फैली हुई उस सभाकी भूमिको चारों ओरसे मापा ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥ १९ ॥

: २ :

वैशम्पायन उवाच—

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— पूजाके योग्य जनार्दनने खाण्डवप्रस्थमें परम प्रीतिपूर्वक पाण्डवोंसे सब भांति पूजे जाकर कुछ दिन परम सुखसे बिताये ॥ १ ॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ।
धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥

इसके बाद पिताको देखनेकी इच्छावाले तथा बडी बडी आंखोंवाले श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और पृथा कुन्तीसे सलाह मशविरा लेकर जानेकी इच्छा की ॥ २ ॥

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः ।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥

जगके द्वारा वन्दनीय श्रीकृष्णने अपनी फूफी कुन्तीके दोनों पांवोंमें गिरकर प्रणाम किया। पृथाने उसका सिर सूंघकर उन्हें गलेसे लगाया ॥ ३ ॥

ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः ।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥

इसके बाद अति यशस्वी भगवान् हृषीकेश कृष्ण आनन्दके आंसुओंसे नेत्रोंको भरकर अपनी बहिन सुभद्राके पास गये और उन्होंने उसे देखा ॥ ४ ॥

अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तमम् ।
उवाच भगवान्भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥

और हमेशा मीठा बोलनेवाली उस कल्याणमयी सुभद्रासे भगवान् बडे प्रेमसे संक्षेपमें अर्थ पूरित, हितकारक अत्यन्त उत्तम सत्य वचन बोले ॥ ५ ॥

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः ।
संपूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ॥ ६ ॥

सुभद्राने भी सिरसे बार बार उनके पांव छूकर और सम्मान करके स्वजनोंसे जो कुछ कहना था, उन सब बातोंको कह दिया ॥ ६ ॥

तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् ।
ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥

वृष्णिवंशी श्रीकृष्णने बहिनका उचित आदर कर और उसे आज्ञा देकर जनार्दन कृष्णने द्रौपदी और धौम्यसे भेंट की ॥ ७ ॥

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः ।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद्धीमान्पार्थेन सहितो बली ।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥

और पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ उस कृष्णने धौम्यकी यथोचित पूजा की; फिर द्रौपदीको हर तरहसे सांत्वना देकर और उसकी अनुमति लेकर महाबलवान् विद्वान् जनार्दन कृष्ण अर्जुनके साथ युधिष्ठिरादि भाइयोंके निकट गये । इन्द्र जिस प्रकार देवोंसे घिरे हुए होते हैं, उसीप्रकार श्रीकृष्ण पांच भाइयोंसे घिरे गये ॥ ८-९ ॥

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुंगवः।
माल्यजप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि।
स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः ॥ १० ॥

प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ और यदुवंशियोंके नेता श्रीकृष्णने देवों और द्विजोंकी माला, मन्त्र, नमस्कार और नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थोंसे पूजा की और सब काम करनेके बाद वे चल पडे ॥ १० ॥

स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान्दधिपात्रफलाक्षतैः।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ ११

पूजनीय ब्राह्मणोंसे दहीसे भरे पात्र, फल और अक्षतसे स्वस्ति कहलाकर और उन्हें धन देकर उनकी परिक्रमा की ॥ ११ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम्।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैश्च समन्वितम् ॥ १२ ॥
तिथावथ च नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः सैन्यसुग्रीववाहनः ॥ १३ ॥

इसके बाद गदा, चक्र, तलवार, शार्ङ्ग आदि अनेक अस्त्रोंसे सजे सजाये, गरुडध्वजवाले तथा शीघ्रतासे जानेवाले और सैन्य तथा सुग्रीवादि चार घोडोंसे युक्त सोनेके रथ पर चढकर कमलके समान आंखोंवाले भगवान् कृष्ण शुभ तिथिको, शुभ नक्षत्र और उत्तम गुणवाले शुभमुहूर्त पर चल पडे ॥ १२–१३ ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम्।
अभीषून्संप्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ॥ १४ ॥

तब राजा युधिष्ठिर भी प्रेमसे उनके पीछे रथ पर चढे और कुरुराज युधिष्ठिरने सारथियोंमें श्रेष्ठ सारथी दारुकको अलग करके आप ही उस रथकी रास थाम ली ॥ १४ ॥

उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम्।
रुक्मदण्डं बृहन्मूर्ध्नि दुधावाभिप्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

अर्जुन भी रथ पर चढकर श्रीकृष्णकी परिक्रमा करके सुवर्ण दण्डसे युक्त श्वेत चंवर भगवान्के सिर पर डुलाने लगे ॥ १५ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो वशी।
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैर्वृतः ॥ १६ ॥

उसी प्रकार शत्रुओंको वशमें करनेवाले भीम अपने दोनों भाई नकुल और सहदेवके साथ नागरिक जनों और ऋत्विजोंसे घिरकर श्रीकृष्णके पीछे पीछे चलने लगे ॥ १६ ॥

स तथा भ्रातृभिः सार्धं केशवः परवीरहा ।
अनुगम्यमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः　　　　॥ १७ ॥

अपने प्रिय शिष्योंके पीछे पीछे चलनेसे गुरु जिस प्रकार सुशोभित होते हैं उसीप्रकार शत्रुनाशी कृष्ण भी भाइयोंके पीछे चलनेसे शोभा पाने लगे ॥ १७ ॥

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य च पीडितम् ।
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा　　　　॥ १८ ॥

इसके बाद गोविन्दने दुःखी अर्जुनसे अनुमति ले करके तथा उसे बडे प्रेमसे गले लगाकर युधिष्ठिर तथा भीमसेनकी पूजा की और नकुल सहदेवको भी गले लगाकर प्यार किया ॥ १८ ॥

परिष्वक्तो भृशं ताभ्यां यमाभ्यामभिवादितः ।
ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः　　　　॥ १९ ॥
निवर्तयित्वा च तदा पाण्डवान्सपदानुगान्
स्वां पुरीं प्रययौ कृष्णः पुरंदर इवापरः　　　　॥ २० ॥

तब उन नकुल सहदेवने भी कृष्णको गले लगाया । इसप्रकार उन दोनोंके द्वारा पूजित होकर मधुसूदन " फिर आऊंगा " इत्यादि यथायोग्य सम्भाषण करके पैदल ही जो पीछे चले आ रहे हैं, ऐसे उन पाण्डवोंको लौटाकर दूसरे इन्द्रके समान अपनी पुरीको गये ॥ १९-२० ॥

लोचनैरनुजग्मुस्ते तमा दृष्टिपथात्तदा ।
मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात्　　　　॥ २१ ॥

जितनी दूरतक आंख जा पाई वहांतक पाण्डव आंखोंके द्वारा ही श्रीकृष्णके पीछे पीछे चलते रहे अर्थात् पाण्डवोंकी दृष्टि श्रीकृष्ण पर ही जमी रही और (श्रीकृष्णके आंखोंसे ओझल हो जानेके बाद भी) अति प्रेमके कारण वे मनके द्वारा श्रीकृष्णके पीछे पीछे चले अर्थात् उनका मन श्रीकृष्णमें ही लगा रहा ॥ २१ ॥

अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ।
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः　　　　॥ २२ ॥

केशवको बारबार देखने पर भी जिनका मन तृप्त नहीं हुआ, ऐसे पाण्डवगणोंकी नजरोंसे प्रियदर्शन श्रीकृष्ण शीघ्र ही ओझल हो गए ॥ २२ ॥

अकामा इव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ।
निवृत्योपययुः सर्वे स्वपुरं पुरुषर्षभाः ।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि समये द्वारकामगात्　　　　॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्णमें मन लगाये हुए पुरुषोंमें श्रेष्ठ सब पाण्डवगण इच्छा न रहने पर भी लौटकर अपने नगरको आ गए और उधर श्रीकृष्ण भी रथसे अपने समय पर द्वारका पहुंच गए ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥ ४२ ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच—

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि क्षिप्रमेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद मय दानव विजयशीलोंमें श्रेष्ठ पृथापुत्र अर्जुनसे बोला– आपकी आज्ञा हो, तो अब विदा लेकर शीघ्र चला जाऊं और जल्दी ही चला आऊंगा ॥ १ ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यक्ष्यमाणेषु सर्वेषु दानवेषु तदा मया ।
कृतं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति ॥ २ ॥

पहिले मैंने कैलासके उत्तरमें मैनाक पर्वतके निकट सब दानवोंके यज्ञ करनेके समय बिन्दु-सरोवरके पास एक विचित्र सुन्दर मणियुक्त बर्तन बनाया था ॥ २ ॥

सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद्वृषपर्वणः ।
आगमिष्यामि तद्गृह्य यदि तिष्ठति भारत ॥ ३ ॥

उस समय उसे सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले वृषपर्वाकी सभामें रख दिया था । हे भारत ! यदि वह अभीतक वहां विद्यमान हो, तो मैं (मैनाकसे लौटते समय) उसे लेकर चला आऊंगा ॥ ३ ॥

ततः सभां करिष्यामि पाण्डवाय यशस्विने ।
मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ ४ ॥

और तब इसके बाद यशस्वी आप पाण्डवके लिए मनको आनन्द देनवाली सर्वरत्नोंसे सुशोभित एक विचित्र सभा बनाऊंगा ॥ ४ ॥

अस्ति बिन्दुसरस्येव गदा श्रेष्ठा कुरूद्वह ।
निहिता यौवनाश्वेन राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! उसी बिन्दुसरोवरमें एक बडी श्रेष्ठ, भारी, अत्यन्त बोझको सहनेवाली, दृढ तथा सोनेसे चित्रित गदा भी पडी है जिसे यौवनाश्वने शत्रुओंको मारकर उस तालावमें छिपा दी थी ॥ ५ ॥

सा वै शतसहस्रस्य संमिता सर्वघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ६ ॥

सर्वनाशी गाण्डीव जैसे आपके योग्य है, उसीप्रकार लाखों गदाओं समान सबका नाश करनेवाली वह गदा भी भीमसेनके योग्य है ॥ ६ ॥

वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत्प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ।
इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीमगाद्दिशम्　　　॥ ७ ॥

इसके अलावा वरुणका देवदत्त नामक बहुत बजनेवाला बडा भारी शङ्ख भी उस सरोवरमें है; मैं वह सब लाकर आपको दे दूंगा इसमें जरासा भी सन्देह नहीं है। वह असुर ऐसा अर्जुनसे कहके पूर्वोत्तर दिशाकी ओर चला गया ॥ ७ ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
हिरण्यशृङ्गो भगवान्महामणिमयो गिरिः　　　॥ ८ ॥

कैलासके उत्तरमें मैनाकपर्वतके निकट हिरण्यशृङ्ग नामक अनेक ऐश्वर्यों और मणियोंसे भरा हुआ भारी पर्वत है ॥ ८ ॥

रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ।
दृष्ट्वा भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः　　　॥ ९ ॥

वहीं सुन्दर बिंदुसरोवर विद्यमान है, जिस सरोवरके तटपर राजा भगीरथने गङ्गाके दर्शन करके बहुत वर्ष बिताये थे ॥ ९ ॥

यत्रेष्ट्वा सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ।
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम　　　॥ १० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस स्थानमें सर्वभूतोंके अधीश महात्मा इन्द्रने सौ प्रधान प्रधान यज्ञ किये थे ॥ १० ॥

यत्र यूपा मणिमयाश्चित्याश्चापि हिरण्मयाः ।
शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः　　　॥ ११ ॥

उसी स्थानपर रत्नोंके यज्ञस्तम्भ और सोनेके मन्दिर केवल शोभाके लिए बनाये गए, वे शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार नहीं बनाये गए थे ॥ ११ ॥

यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ।
यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वलोकान्सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजा वृतो भूतैः सहस्रशः　　　॥ १२ ॥

जहां यज्ञ करके उन शचीपति सहस्राक्ष इन्द्रने सिद्धि लाभ की थी। अति तेजस्वी सनातन भूतनाथ महादेव सब लोकोंको रचकर जिस स्थानमें विराजमान होकर सहस्रों भूतोंसे पूजे जाते हैं ॥ १२ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये　　　॥ १३ ॥

जिस स्थानमें नर, नारायण, ब्रह्मा, यम और पांचवें रुद्र सहस्र युगोंके अन्त होनेपर यज्ञ किया करते हैं ॥ १३ ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच—

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि क्षिप्रमेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद मय दानव विजयशीलोंमें श्रेष्ठ पृथापुत्र अर्जुनसे बोला– आपकी आज्ञा हो, तो अब विदा लेकर शीघ्र चला जाऊं और जल्दी ही चला आऊंगा ॥ १ ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यक्ष्यमाणेषु सर्वेषु दानवेषु तदा मया ।
कृतं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति ॥ २ ॥

पहिले मैंने कैलासके उत्तरमें मैनाक पर्वतके निकट सब दानवोंके यज्ञ करनेके समय बिन्दु-सरोवरके पास एक विचित्र सुन्दर मणियुक्त बर्तन बनाया था ॥ २ ॥

सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद्वृषपर्वणः ।
आगमिष्यामि तद्गृह्य यदि तिष्ठति भारत ॥ ३ ॥

उस समय उसे सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले वृषपर्वाकी सभामें रख दिया था । हे भारत ! यदि वह अभीतक वहां विद्यमान हो, तो मैं (मैनाकसे लौटते समय) उसे लेकर चला आऊंगा ॥ ३ ॥

ततः सभां करिष्यामि पाण्डवाय यशस्विने ।
मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ ४ ॥

और तब इसके बाद यशस्वी आप पाण्डवके लिए मनको आनन्द देनवाली सर्वरत्नोंसे सुशोभित एक विचित्र सभा बनाऊंगा ॥ ४ ॥

अस्ति बिन्दुसरस्येव गदा श्रेष्ठा कुरूद्वह ।
निहिता यौवनाश्वेन राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! उसी बिन्दुसरोवरमें एक बडी श्रेष्ठ, भारी, अत्यन्त बोझको सहनेवाली, दृढ तथा सोनेसे चित्रित गदा भी पडी है जिसे यौवनाश्वने शत्रुओंको मारकर उस तालाबमें छिपा दी थी ॥ ५ ॥

सा वै शतसहस्रस्य संमिता सर्वघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ६ ॥

सर्वनाशी गाण्डीव जैसे आपके योग्य है, उसीप्रकार लाखों गदाओं समान सबका नाश करनेवाली वह गदा भी भीमसेनके योग्य है ॥ ६ ॥

वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत्प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ।
इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीमगाद्दिशम् ॥ ७ ॥

इसके अलावा वरुणका देवदत्त नामक बहुत बजनेवाला बडा भारी शङ्ख भी उस सरोवरमें है; मैं वह सब लाकर आपको दे दूंगा इसमें जरासा भी सन्देह नहीं है। वह असुर ऐसा अर्जुनसे कहके पूर्वोत्तर दिशाकी ओर चला गया ॥ ७ ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
हिरण्यशृङ्गो भगवान्महामणिमयो गिरिः ॥ ८ ॥

कैलासके उत्तरमें मैनाकपवर्तके निकट हिरण्यशृङ्ग नामक अनेक ऐश्वर्यों और मणियोंसे भरा हुआ भारी पर्वत है ॥ ८ ॥

रुम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ।
दृष्ट्वा भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ॥ ९ ॥

वहीं सुन्दर बिंदुसरोवर विद्यमान है, जिस सरोवरके तटपर राजा भगीरथने गङ्गाके दर्शन करके बहुत वर्ष बिताये थे ॥ ९ ॥

यत्रेष्ट्वा सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ।
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ॥ १० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस स्थानमें सर्वभूतोंके अधीश महात्मा इन्द्रने सौ प्रधान प्रधान यज्ञ किये थे ॥ १० ॥

यत्र यूपा मणिमयाश्चित्याश्चापि हिरण्मयाः ।
शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ॥ ११ ॥

उसी स्थानपर रत्नोंके यज्ञस्तम्भ और सोनेके मन्दिर केवल शोभाके लिए बनाये गए, वे शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार नहीं बनाये गए थे ॥ ११ ॥

यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ।
यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वलोकान्सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजा वृतो भूतैः सहस्रशः ॥ १२ ॥

जहां यज्ञ करके उन शचीपति सहस्राक्ष इन्द्रने सिद्धि लाभ की थी। अति तेजस्वी सनातन भूतनाथ महादेव सब लोकोंको रचकर जिस स्थानमें विराजमान होकर सहस्रों भूतोंसे पूजे जाते हैं ॥ १२ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १३ ॥

जिस स्थानमें नर, नारायण, ब्रह्मा, यम और पांचवें रुद्र सहस्र युगोंके अन्त होनेपर यज्ञ किया करते हैं ॥ १३ ॥

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षसहस्रकैः ।
श्रद्दधानेन सततं शिष्टसंप्रतिपत्तये ॥ १४ ॥

वासुदेव केशवने धर्म संस्थापन करनेके लिए जिस स्थानमें बहुत वर्षोंतक सदा श्रद्धा सहित हजारों यज्ञ किये थे ॥ १४ ॥

सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्याश्चाप्यतिभास्वराः ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १५ ॥

और जिस स्थानमें केशवने सुवर्णमालायुक्त यूप बहुत चमकीले चैत्य और दूसरी सहस्रों और लाखों वस्तुयें दानमें दी थीं ॥ १५ ॥

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शङ्खं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद्वृषपर्वणः ।
किंकरैः सह रक्षोभिरगृह्णात्सर्वमेव तत् ॥ १६ ॥

उस स्थानपर जाकर, हे भरतनन्दन ! मयदानवने वृषपर्वाकी गदा, शङ्ख और सभा बनानेके योग्य जितनी स्फटिककी सामग्री थी, सब किंकर और राक्षसोंकी सहायतासे ले ली ॥ १६ ॥

तदाहृत्य तु तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥ १७ ॥

वह सब लाकर उस असुरने तीनों लोकोंमें प्रशंसित, मणिकी उस अप्रतिम सुन्दर और दिव्य सभाको रचा ॥ १७ ॥

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं च पार्थाय ददौ शङ्खमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

और भीमको वह श्रेष्ठ गदा तथा अर्जुनको देवदत्त नामक वह अत्यन्त श्रेष्ठ शङ्ख दे दिया ॥ १८ ॥

सभा तु सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ।
दश किष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत् ॥ १९ ॥

महाराज ! सुनहले वृक्षोंसे सुहावनी वह सभा चारों ओरसे दस हजार हाथ चौडी बनी ॥ १९ ॥

यथा वह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथैव सा ।
भ्राजमाना तथा दिव्या बभार परमं वपुः ॥ २० ॥

जिस तरहकी अग्निकी, जिस तरहकी सूर्यकी और जिस तरहकी चन्द्रकी चमक होती है, उसी प्रकारका अति सुन्दर स्वरूप उस चमकती हुई दिव्य सभाने प्राप्त किया ॥ २० ॥

प्रतिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ।
प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ॥ २१ ॥

अपनी प्रभाके प्रभावसे सूर्यके तेजकी प्रभाको भी फीका करती हुई वह दिव्य सभा लोकोंमें न दीखनेवाले तेजसे मानों जलते हुएकी भांति शोभित हुई ॥ २१ ॥

नगमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला श्लक्ष्णा विपाप्मा विगतक्लमा ॥ २२ ॥
उत्तमद्रव्यसंपन्ना मणिप्राकारमालिनी ।
बहुरत्ना बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा । ॥ २३ ॥

पर्वतके सदृश मेघोंकी चमकवाली, द्युलोकको भी घेरकर स्थित, बहुत चौडी, चिकनी, दोष रहित, थकावटको दूर करनेवाली, उत्तम ऐश्वर्योंसे युक्त, मणियोंके परकोटोंकी मालाओंसे सम्पन्न, अनेक रत्नोंसे युक्त, बहुत धनवाली सभा विश्वकर्माके द्वारा उत्तम रीतिसे बनाई गई थी ॥ २२-२३ ॥

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वापि तादृशी ।
आसीद्रूपेण संपन्ना यां चक्रेऽतिमां मयः ॥ २४ ॥

बहुत बुद्धिमान् मयने जिसे बनाया, वह सभा इतने सुन्दर रूपसे युक्त थी कि वैसी सभा न तो श्रीकृष्णकी थी और न ब्रह्माकी और न किसी दूसरे देवकी ही थी ॥ २४ ॥

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥ २५ ॥
अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिंगलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ॥ २६ ॥

आकाशमें उडनेवाले, भयंकर, महाबली, भारी देहधारी, लालनेत्र तथा पीली आंखोंवाले अस्त्र लिये हुए आठ हजार किङ्कर नामक राक्षस मयकी आज्ञासे उस सभाकी रक्षा करने और ढोनेके लिए नियुक्त थे ॥ २५-२६ ॥

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैडूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ २७ ॥

उस सभामें मयने एक अद्वितीय सरोवर खुदवाया । उस सरोवरमें मणिके मृणालवाले कमलके फूल और वैडूर्यमणिके पत्ते थे ॥ २७ ॥

×

पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्ममत्स्यैश्च शोभिताम् ॥ २८ ॥

उस सरोवरमें सुगन्धीसे युक्त कमल थे और भांति भांतिके पक्षी इधर उधर खेल कूद रहे थे, खिले कमल और मछली तथा कछुओंसे चित्रित ॥ २८ ॥

सूपतीर्थामकलुषां सर्वर्तुसलिलां शुभाम् ।
मारुतेनैव चोद्धूतैर्मुक्ताबिन्दुभिराचिताम् ॥ २९ ॥
मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः ।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात्प्रपतन्त्युत ॥ ३० ॥

स्फटिककी सीढीवाले सब ऋतुओंमें जिसमें पानी भरा हुआ रहता है ऐसी पवनसे धोई हुई, मोती बिन्दुओंसे खचित, मणियों और रत्नोंसे जडे हुए उस तालाबके पास आकर और उसे देखकर भी कुछ राजा गण उस तालाबको न जान सके और इस अपने अज्ञानसे वे उस तालावमें गिर गए ॥ २९–३० ॥

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन्नानाविधा नीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥ ३१ ॥
काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
हंसकारण्डवयुताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३२ ॥

उस सभाके चारों ओर फूलवाले, नीले, ठण्ढी छांहवाले अनेक भांतिके मन हरनेहारे बडे बडे वृक्ष और सुगन्धी वन तथा हंस, कारण्डव तथा चकवोंसे भरे तालाव इधर उधर सुहाते थे ॥ ३१–३२ ॥

जलजानां च माल्यानां स्थलजानां च सर्वशः ।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान्स्म निषेवते ॥ ३३ ॥

हवा भी सर्वत्र जलमें तथा उपजे हुए कमलों, पृथ्वी पर उपजे हुए अन्य फूलोंकी सुगन्ध ले जाकर पाण्डवोंकी सेवा कियां करती थी ॥ ३३ ॥

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राज्ञे न्यवेदयत् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ७६ ॥

मयने चौदह महीनेमें ऐसी अच्छी सभाको पूरी तरह बनाकर धर्मराजको सूचना दी ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥ ७६ ॥

: ४ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रवेशनं चक्रे तस्यां राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयामास ब्राह्मणानां नराधिपः ॥ १ ॥
घृतपायसेन मधुना भक्ष्यैर्मूलफलैस्तथा ।
अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके बाद नरनाथ राजा युधिष्ठिरने उस गृहमें प्रवेश किया और राजाने हजारों ब्राह्मणोंको मधुयुक्त, घृतमिश्रित पायसान्न, नानातरहके खाने योग्य फल मूलोंसे, कोरे कपडों तथा गहनोंसे प्रसन्न किया ॥ १–२ ॥

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः प्रभुः ।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद्दिवस्पृगिव भारत ॥ ३ ॥

उस राजाने उनमेंसे हरेकको हजार हजार गायें दानमें दीं । हे भरतनन्दन ! उस कालमें पुण्याहध्वनि अर्थात् " आज कैसा शुभदिन है " लोगोंका यह आनन्द कोलाहल आकाशको भी छूने लगा ॥ ३ ॥

वादित्रैर्विविधैर्गीतैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ॥ ४ ॥
तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा ।
उपतस्थुर्महात्मानं सप्तरात्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

बाजे और फूल धूपादिकी मनको हरनेवाली गन्धसे देवोंकी पूजाकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके सभामें घुसने पर वहां मल्ल, मल्ल, नट, सूत और स्तुति गाने वाले सभी लोग सात दिनतक महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें रहे ॥ ४–५ ॥

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ॥ ६ ॥
सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः ॥ ७ ॥

इस प्रकार पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ उस पूजाको समाप्त करके, अमरावतीमें बैठे देवराजकी भांति परम सुखसे उस सुन्दर सभामें पाण्डवोंके साथ ऋषिगण भी बैठते थे, तथा नाना देशोंसे आए हुए अनेक राजागण भी उस सभामें बैठते थे ॥ ६–७ ॥

अंसितो देवलः सत्यः सर्पमाली महाशिराः ।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः ॥ ८ ॥

असित, देवल, सत्य, सर्पमाली, महाशिरा, अर्वावसु और सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि ॥८॥

बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः ।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ॥ ९ ॥

बक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन, शुक, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, व्यासके सब शिष्य, तथा हम ॥ ९ ॥

तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः ।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥ १० ॥

तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, लोमहर्षण और उनके पुत्र, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक ॥ १० ॥

दामोष्णीषस्त्रैवणिश्च पर्णादो घटजानुकः ।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकौ ॥ ११ ॥

दामोष्णीष और त्रैवणि, पर्णाद, घटजानुक; मौञ्जायन, वायुभक्ष पाराशर्य, सारिक ॥ ११ ॥

बलवाकः शिनीवाकः सुत्यपालः कृतश्रमः ।
जातूकर्णः शिखावांश्च सुबलः पारिजातकः ॥ १२ ॥

बलवाक, शिनिवाक, सुत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण और शिखावान, सुबल, पारिजातक ॥१२॥

पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयस्तथा मुनिः ।
पवित्रपाणिः सावर्णिर्भालुकिर्गालवस्तथा ॥ १३ ॥

महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्णि, भालुकि, गालव ॥ १३ ॥

जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगश्रवा भृगुः ।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥ १४ ॥

जङ्घाबन्धु, रैभ्य, कोपवेगश्रवा, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन ॥ १४ ॥

कक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः ।
पैङ्गो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः ।
कर्करो वेणुजङ्घश्च कलापः कठ एव च ॥ १५ ॥

कक्षीवान्, उशिजका पुत्र, नचिकेताका पुत्र, गौतम, पैंग, वराह, शुनक, महातपस्वी शांडिल्य, कर्कर, वेणुजंघ, कलाप और कठ ॥ १५ ॥

मुनयो धर्मसहिता धृतात्मानो जितेन्द्रियाः ।
एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः । ॥ १६ ॥
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ।
कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः ॥ १७ ॥

ये सब संयतात्मा और जितेन्द्रिय और वेद वेदांगों में पण्डित, धर्मज्ञ और पवित्र दूसरे अनेक ऋषि श्रेष्ठ बहुविध विशुद्ध पुण्यकथायें कहते हुए इस सभामें महात्मा धर्मराजकी उपासना किया करते थे ॥ १६-१७ ॥

तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ।
श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ॥ १८ ॥

और उसी प्रकार इस सभामें अनेकों क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ राजा धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना किया करते थे । (उनके कुछ नाम इस प्रकार हैं) श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतु, विवर्धन ॥१८॥

संग्रामजिद्दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ।
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः ।
काम्बोजराजः कमलः कम्पनश्च महाबलः ॥ १९ ॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ।
यथासुरान्कालकेयान्देवो वज्रधरस्तथा ॥ २० ॥

संग्रामजित्, दुर्मुख, वीर्यवान् उग्रसेन, पृथ्वीनाथ कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, काम्बोजराज कमठ तथा जिस प्रकार वज्रको धारण करनेवाले इन्द्र देवने कालकेय आदि असुरोंको कंपाया था, उसी प्रकार जिस अकेलेने ही यवनोंको हमेशा कंपाया था, ऐसा महा पराक्रमी कम्पन ॥ १९-२० ॥

जटासुरो मद्रकान्तश्च राजा कुन्तिः कुणिन्दश्च किरातराजः ।
तथाङ्गवङ्गौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योड्रराजौ सह चान्ध्रकेण ॥ २१ ॥
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ।
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ॥ २२ ॥

जटासुर और मद्रकान्त, राजा कुन्ति किरातराज कुणिन्द्र, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्रक, पाण्डय, उड्रराज, अन्धक, किरातराज सुमना तथा यवनराज चाणूर, देवरात, भोज और भीमरथ ॥२१-२२॥

श्रुतायुधश्च कालिंगो जयत्सेनश्च मागधः
सुशर्मा चेकितानश्च सुरथोऽमित्रकर्षणः ॥ २३ ॥

कलिंगराज श्रुतायुध, मगधराज जयसेन, सुशर्मा, चेकितान, शत्रुनाशी सुरथ ॥ २३ ॥

केतुमान्वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ॥ २४ ॥

केतुमान् और वसुदान तथा वैदेहराज कृतक्षण, सुधर्मा अनिरुद्ध और अति बलवान् श्रुतायु ॥ २४ ॥

अनूपराजो दुर्धर्षः क्षेमजिच्च सुदक्षिणः ।
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ॥ २५ ॥

दुर्द्धर्ष अनूपराज, सुदक्षिण, क्षेमजित्, पुत्रसहित शिशुपाल तथा करूषाधिप ॥ २५ ॥

वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ।
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ॥ २६ ॥

वृष्णिवंशके अपराजेय देवरूपी कुमारगण, आहुक, विपृथु, गद और सारण ॥ २६ ॥

अक्रूरः कृतवर्मा च सात्यकिश्च शिनेः सुतः ।
भीष्मकोऽथाहृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥ २७ ॥

अक्रूर, कृतवर्म्मा, शिनिपुत्र सात्यकि, भीष्मक, आहृति और वीर्य्यवान् द्युमत्सेन, बड़े बड़े धनुषधारी कैकेयगण और सोमकपुत्र यज्ञसेन (ये सब राजा युधिष्ठिरकी सेनामें उपस्थित रहते थे) ॥ २७ ॥

अर्जुनं चापि संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ।
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ॥ २८ ॥

रौरवनामक मृगके छालेको पहने हुए अनेकों महाबली राजपुत्र अर्जुनकी सहायतासे धनुर्वेद सीखते थे ॥ २८ ॥

तत्रैव शिक्षिता राजन्कुमारा वृष्णिनन्दनाः ।
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २९ ॥

वहीं पर, हे महाराज ! प्रद्युम्न, साम्ब, युयुधान, सात्यकि, आदि वृष्णिवंशियोंको आनंद देनेवाले कुमारगण अर्जुनसे अस्त्र सीखते थे ॥ २९ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ।
धनञ्जयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३० ॥

इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे राजागण तथा धनञ्जय अर्जुनके सखा तुम्बुरु, वहां हमेशा रहते थे ॥ ॥ ३० ॥

चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
गीतवादित्रकुशला शम्याताल विशारदाः ॥ ३१ ॥

अमात्य सहित चित्रसेन और तालळयमें चतुर तथा गाने बजानेमें कुशल गन्धर्व किन्नर और अप्सरायें निकट रहती थीं ॥ ३१ ॥

प्रमाणेऽथ लयस्थाने किंनराः कृतनिश्रमाः ।
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वाः सहिता जगुः ॥ ३२ ॥

लयस्थान तथा प्रमाणके सीखने में जिन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया है, ऐसे किन्नर गन्धर्वोंके साथ तुम्बुरुकी आज्ञा पाकर गाते थे ॥ ३२ ॥

गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ।
पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ॥ ३३ ॥

वे मनस्वी किन्नर गंधर्व आदि दिव्यतानसे नियमपूर्वक गा बजाकर पाण्डवों और ऋषियोंको उस सभामें प्रसन्न करते थे ॥ ३३ ॥

तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ११० ॥

स्वर्गमें देवगण जैसे ब्रह्माकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार उस सभामें बैठे हुए सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले, व्रतशील पुरुषगण युधिष्ठिरकी उपासना करते थे ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥ ११० ॥

: ५ :

वैशम्पायन उवाच—

तथा तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥
लोकाननुचरन्सर्वानागमत्तां सभामृषिः ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाभारत ! एक दिन महात्मा पाण्डवोंके उस सभामें बैठजाने पर साथमें महान् महान् गंधर्वोंके भी बैठ जानेपर सभी लोकमण्डलमें घूमते घामते हुए महातेजस्वी ऋषि नारद अन्य ऋषियोंके साथ सभामें आए ॥ १–२ ॥

पारिजातेन राजेन्द्र रैवतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ।
सभास्थान्पाण्डवान्द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ॥ ३ ॥

हे राजेन्द्र ! पारिजात, बुद्धिमान् रैवत और सौम्य सुमुखके साथ अत्यन्त तेजस्वी देवर्षि नारद मनके समान वेगसे प्रसन्न होकर पाण्डवोंको देखनेके लिए सभामें आए ॥ ३ ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ।
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ॥ ४ ॥

उस ऋषि नारदको आते देखकर सब धर्मोंको जाननेवाले पाण्डवोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने अति नम्र होकर एकाएक अपने भाइयोंके समेत खडे होकर प्रीतिसे सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥४॥

तदर्हमासनं तस्मै संप्रदाय यथाविधि ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् । ॥ ५ ॥
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः ।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ ६ ॥

उनके योग्य आसन उन्हें विधिपूर्वक देकर रत्नों और सब कामनाओंसे उनकी धर्मज्ञ युधिष्ठिरने पूजा की । सभी पाण्डवोंसे योग्य पूजा पाकर प्रसन्न हुए वेदोंमें विद्वान् महर्षि नारदने युधिष्ठिरसे धर्म, अर्थ और कामसे युक्त यह नीचे लिखे प्रश्न किये ॥ ५–६ ॥

नारद उवाच—

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ ७ ॥

नारद बोले– महाराज ! तुम्हारा सञ्चित धन उचित कार्यमें तो व्यय हो रहा है न ? तुम्हारा मन धर्ममें रमता तो है न ? तुम्हें सुखका तो अनुभव होता है न ? तुम्हारा मन कहीं प्रतिबन्धित तो नहीं होता ? ॥ ७ ॥

कच्चिदाचरितां पूर्वैर्नरदेव पितामहैः ।
वर्तसे वृत्तिमक्षीणां धर्मार्थसहितां नृषु ॥ ८ ॥

हे मनुष्योंमें देवके समान युधिष्ठिर ! तुम्हारे पूर्वज पितामह उत्तम, मध्यम और निकृष्ट प्रजासे जैसे धर्म अर्थकी रीतिसे अच्छा बर्ताव करते थे, वैसे ही तुम भी करते हो न ? ॥८॥

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा ।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ ९ ॥

अर्थके लिये धर्मकी और धर्मके लिये अर्थकी हानि तो नहीं करते ? अथवा क्षणिक सुख देनेवाले कामके वशमें हो करके धर्म और अर्थको कहीं नष्ट तो नहीं करते ? ॥ ९ ॥

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सदा वरद सेवसे ॥ १० ॥

हे शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ, वर देनेवाले तथा कालको जाननेवाले युधिष्ठिर ! तुम धर्म, अर्थ और कामका समय समय पर यथायोग्य विभाग करके उनका ठीक ठीक उपयोग तो करते हो न ? ॥ १० ॥

कच्चिद्राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ ।
बलाबलं तथा सम्यक्चतुर्दश परीक्षसे ॥ ११ ॥

हे अनघ ! छः राज-गुण,[1] सात उपाय,[2] बलाबल तथा राजाओंके चौदह दोषोंकी[3] भली प्रकार परीक्षा तो करते हो न ? ॥ ११ ॥

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ १२ ॥

हे विजयशीलोंमें श्रेष्ठ ! अपनी और शत्रुकी दशाको समझ बूझकर तो कार्य करते हो न ? और शत्रुओंसे हेल मेलकर आठ प्रकारके कर्म[4] तो करते हो न ? ॥ १२

कच्चित्प्रकृतयः षट् ते न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढयास्तथाऽव्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ १३ ॥

हे भरतोंमें श्रेष्ठ ! कहीं तुम्हारी प्रकृतिका लोप हो गया अथवा शत्रुओंसे मोहित तो नहीं हो गई ? ये सभी प्रकृतियां[5] गुणसम्पन्न और दुःखरहित होकर तुझ पर हर तरहसे प्रेम तो करती हैं न ? ॥ १२ ॥

कच्चिन्न तर्कैर्दूतैर्वा ये चाप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव वामात्यैर्भिद्यते जातु मन्त्रितम् ॥ १४ ॥

तर्कसे, दूतोंसे अथवा जो दूसरे निडर व्यक्ति हैं उनसे, तुमसे अथवा तुम्हारे मन्त्रियोंसे तुम्हारा रहस्य प्रकट तो नहीं हो जाता ? ॥ १४ ॥

---

१ वक्तृत्व, प्रागल्भ्य अर्थात् शत्रुओंको दमन करनेकी तैय्यारी, तर्ककुशलता, स्मरणशक्ति, नीतिशास्त्रज्ञता और विद्वत्ता- ६ राजगुण ।

२ साम, दाम, दण्ड, भेद, मंत्र, औषधि और इन्द्रजाल- ७ उपाय ।

३ नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषसे न मिलना, आलस्य, व्यसनोंमें आसक्ति, अत्यन्त लालच, मूर्खोंकी सलाह मानना, एक बार कार्यका निश्चय करके उसे न करना, गुप्तता न रखना, उत्सवादि न करना और एक ही समयमें अनेक शत्रुओं पर चढाई करना- १४ राजदोष ।

४ खेती, व्यापार, किले, पुल, हाथियोंकी सुरक्षा, रत्नोंकी खान, सोने आदि धातुओंकी खान, करवसूली ८ कर्म ।

५ अमात्य, मित्र, कोषाध्यक्ष, राष्ट्राध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, सेनापति- ६ प्रकृतियां ।

×

कच्चित्संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे।
कच्चिद्वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुवर्तसे ॥ १५ ॥

उचित कालमें सन्धि और विग्रह तो करते हो न? उदासीन और मध्यस्थों पर मध्यस्थताकी नीति तो अपनाते हो? ॥ १५ ॥

कच्चिदात्मसमा बुद्ध्या शुचयो जीवितक्षमाः।
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ॥ १६ ॥

हे वीरवर! तुम बुद्धिमें अपने सदृश, शुद्ध, जीवनके लिए योग्य कुलीन तथा तुम पर प्रेम करनेवालोंको मन्त्रीके पदों पर प्रतिष्ठित तो करते हो न? ॥ १६ ॥

विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञां भवति भारत।
सुसंवृतो मन्त्रधनैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १७ ॥

हे भारत! (यह जान लो कि) शास्त्रों में पंडित, मंत्रको ही अपना धन माननेवाले मंत्रियोंके द्वारा अच्छी प्रकार सुरक्षित मंत्र ही राजाओंके विजय की जड होता है ॥ १७ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्काले विबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ १८ ॥

तुम कहीं निद्राके अधीन तो नहीं होते? उचित समय पर जागते तो हो न? हे अर्थज्ञ! रातके चौथे पहरमें उचित अनुचितकी चिंता तो कर लेते हो न? ॥ १८ ॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रमनुधावति ॥ १९ ॥

कहीं अकेले ही तो विचार नहीं करते? अथवा अनेकोंके साथ युक्ति तो नहीं करते? कहीं तुम्हारी गुप्तयुक्ति तो राज्यमें भी नहीं फैल जाती? ॥ १९ ॥

कच्चिदर्थान्विनिश्चित्य लघुमूलान्महोदयान्।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ २० ॥

थोडी चेष्टासे मिलनेवाले, पर बडे फलदायी ऐसे कार्योंको शीघ्र आरंभ तो करते हो? किसी हेतुसे इसमें बाधा तो नहीं डालते? ॥ २० ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं ह्यत्र कारणम् ॥ २१ ॥

सब कार्योंका अन्तभाग तुम्हारी दृष्टिमें पडता और निशङ्क होता है कि नहीं? एक बार आरम्भ करके उन सब कार्योंको त्यागना तो नहीं पडता? अथवा उन सबोंका प्रबन्ध बिगडता तो नहीं? ॥ २१ ॥

कच्चिद्राजन्कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ।
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ॥ २२ ॥

महाराज ! लोग तुम्हारे किये गये वा किये जाते हुए कार्योंको जान तो लेते हैं ? हे वीरवर ! जो कार्य नहीं हुए हैं, उन्हें तो कोई जान नहीं पाता न ? ॥ २२ ॥

कच्चित्कारणिकाः सर्वे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ २३ ॥

सब शास्त्रोंमें पण्डित आचार्यगण कुमारों और मुख्य मुख्य योद्धाओंको धर्मकी शिक्षा तो देते हैं ? ॥ २३ ॥

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ २४ ॥

सहस्रों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको मोल लेते हो कि नहीं ? क्योंकि पंडित लोग बडी से बडी विपत्तिसे भी उद्धार करके राजाओंका कल्याण करते हैं ॥ २४ ॥

कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः । ॥ २५ ॥

तुम्हारे दुर्ग, धन, धान्य, रत्न, अस्त्र, शस्त्र, जल, यन्त्र, दल, शिल्पीगण और धनुर्धारियोंसे भरे हुऐ तो हैं ? ॥ २५ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २६ ॥

मेधावी, शूर, जितेन्द्रिय और चतुर एकही राजमन्त्री भी राजा वा राजकुमार को बहुत बडी लक्ष्मी प्राप्त करा सकता है (सो ऐसा कोई मन्त्री आपके यहां है तो न) ? ॥ २६ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ २७ ॥

हे शत्रुमथन ! तीन तीन गुप्तचरोंसे विपक्षियोंके पुरोहितादि अठारह तीर्थ[1] और अपने पक्षके पन्दरह तीर्थ[2] जान तो लेते हो ? ॥ २७ ॥

कच्चिद्द्विषामविदितः प्रतियत्तश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून्सर्वान्वीक्षसे रिपुसूदन ॥ २८ ॥

शत्रुओंको अपना रहस्य न देते हुए सदा सावधान और यत्नवान् होकर उनका सब हाल जान तो लेते हो न ? ॥ २८ ॥

---

१ मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तःपुररक्षक, जेलका अधिकारी, कोषाध्यक्ष, आयव्यय, निरीक्षक, उपदेशक, नगराध्यक्ष. योजनाधिकारी, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, किलेका रक्षक, सीमारक्षक ओर अरण्य रक्षक-१८ शत्रुपक्षके तीर्थ ।

२ मंत्री, पुरोहित, युवराजको छोडकर १५ अपने पक्षके तीर्थ ।

कच्चिद्विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ २९ ॥

विनयी, सुवंशी, बडे यशस्वी, असूयासे रहित और महानुभाव पुरोहितोंका तुम विना कहे हुए ही सदा आदर तो करते हो न ? ॥ २९ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ ३० ॥

कोई सरल चित्तवाला विधिदर्शी मनुष्य तुम्हारे अग्निहोत्र कार्यमें नियुक्त होकर यह तो बताता है, कि कब हवन हुआ और कब करना चाहिये ? ॥ ३० ॥

कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषां प्रतिपादकः।
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ॥ ३१ ॥

जो तुम्हारे ज्योतिषशास्त्रके प्रतिपादक हैं, वह सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार अङ्ग परीक्षामें पण्डित, दैवी अभिप्रायोंके जानकार और दैवादि विपत्तिके रोकनेमें दक्ष तो हैं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ ३२ ॥

बडे बडे कामोंको करनेके लिए बडे बडे, मध्यम कामोंपर मध्यम और निकृष्ट कामोंपर निकृष्ट नौकर नियुक्त तो हैं न ? ॥ ३२ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्छुचीन्।
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ३३ ॥

कुलकी परम्परासे चले आते हुए, अकपट, अमल-चित्त श्रेष्ठ मंत्रियोंको श्रेष्ठ कार्योंमें नियुक्त तो करते हो ? ॥ ३३ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजितप्रजाः।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

तुम्हारे कडे दण्डसे प्रजा चिढती तो नहीं ? हे भरतश्रेष्ठ ! मंत्रिगण तुम्हारी आज्ञासे राज्यशासन तो करते हैं ? ॥ ३४ ॥

कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ ३५ ॥

जिसप्रकार याजक जैसे पतित जनका और नारियां कडे स्वभावी स्वेच्छाविहारी पतिका अनादर करती हैं, वैसे मन्त्रीलोग तुम्हारा अनादर तो नहीं करते ? ॥ ३५ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्शुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तव ॥ ३६ ॥

तुम्हारा सेनापति प्रगल्भ, शूर, मतिमान्, धीरजवान्, शुचि, सुवंशी, प्यारा और काममें दक्ष तो है ? ॥ ३६ ॥

कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वे युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३७ ॥

अपने सैनिकोंमें सब युद्धमें दक्ष, प्रगल्भ, शुद्धचित्त, पराक्रमी और बडे बडे जनोंका आदर पूर्वक सम्मान तो करते हो ? ॥ ३७ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ३८ ॥

सदा सेनाओंका अन्न और वेतन ठीक समयमें तो देते हो ? समय आने पर उन्हें जो देना चाहिए वह देकर उन्हें सुखी तो रखते हो न ? ॥ ३८ ॥

कालातिक्रमणाद्ध्येते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति दौर्गत्यात्सोऽनर्थः सुमहान्स्मृतः ॥ ३९ ॥

क्योंकि उचित समय पर उनको अन्न वेतन न देनेसे वे कुगतिसे प्रभु पर रुष्ट होते हैं; उस अनर्थको पण्डितलोग बडा अनर्थ कहते हैं ॥ ३९ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ॥ ४० ॥

सुवंशी और प्यारे बडे बडे जन तुम्हारे हितके निमित्त युद्धमें प्रसन्न मनसे प्राण छोडनेको हमेशा प्रस्तुत तो हैं ? ॥ ४० ॥

कच्चिन्नैको बहूनर्थान्सर्वशः सांपरायिकान् ।
अनुशास्सि यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥ ४१ ॥

शासनाधीन कामात्मा अकेला बहुविध युद्धलीला स्वेच्छासे करनेवाले होकर शासन तो नहीं करते ? ॥ ४१ ॥

कच्चित्पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ४२ ॥

कोई पुरुषार्थ प्रकटकर अपना कर्म उज्वल बनाके तुमसे बहुत सम्मान अथवा बहुत अन्न और वेतन तो पाते हैं ? ॥ ४२ ॥

कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान्।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्यवपद्यसे ॥ ४३ ॥

विद्या बिनयसे युक्त, ज्ञानसे सम्पन्न, लोगोंको तुम गुणके अनुसार उचित पारितोषिक तो देते हो ? ॥ ४३ ॥

कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमेयुषाम्।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ४४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे लिये प्राण छोडे अथवा विपत्तिमें पडे हुए परिवारोंको पालते पोषते तो हो ? ॥ ४४ ॥

कच्चिद्भयादुपनतं क्लीबं वा रिपुमागतम्।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत्परिरक्षसि ॥ ४५ ॥

भय पाये, वा शक्ति खोये, अथवा युद्धमें हारे, शरण लिये हुए शत्रुओंको पुत्रके समान पालते तो हो ? ॥ ४५ ॥

कच्चित्त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते।
समश्च नाभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ४६ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! धरती भरके सब लोग तुमको पक्षपातसे रहित और पिता माताकी भांति भयसे रहित जानते तो हैं ? ॥ ४६ ॥

कच्चिद्व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ४७ ॥

शत्रु व्यसनमें है, सुनके तुम मन्त्र, कोष और उत्साह इन तीन प्रकारके बलकी भली भांति आलोचना कर उस शत्रुपर शीघ्र आक्रमण करते हो कि नहीं ? ॥ ४७ ॥

पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम्।
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ॥ ४८ ॥

हे अरिन्दम ! पार्ष्णिग्राह आदि बारह प्रकारके मण्डल कृत्य निश्चय और पराजय विशेष रूपसे जानके और सैनिकोंका अग्रिम वेतन चुकाकर दैवादि व्यसन सब भली प्रकार आलोचना करके ॥ ४८ ॥

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ४९ ॥

हे शत्रुतापन ! शत्रुराज्यमें आपसका बिगाड उभाडनेके हेतु बडे बडे शत्रु सैनिकोंको उनकी योग्यताके अनुसार रत्न इत्यादि तो देते हो ? ॥ ४९ ॥

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
पराञ्जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ५० ॥

हे पृथापुत्र ! पहिले अपनेको जयकर जितेन्द्रिय होकर पीछे अजितेन्द्रिय प्रमत्त शत्रुको परास्त करना तो चाहते हो ? ॥ ५० ॥

कच्चित्ते यास्यतः शत्रून्पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद्गुणाः ॥ ५१ ॥

शत्रुओं पर चढ जानेके पहिले भले प्रकार अनुष्ठान किये हुए साम, दान, भेद और दण्ड यह चार उपाय विधिपूर्वक प्रयोग तो किये जाते हैं ? ॥ ५१ ॥

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा यात्रां यासि विशां पते
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ५२ ॥

अपने राज्यकी भली रीतिसे रक्षा करके पीछे शत्रुओंको जय करनेके लिये बल विक्रम प्रगट तो करते हो ? जय करके उनकी रक्षा तो करते हो ? ॥ ५२ ॥

कच्चिदष्टांगसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिबाधनी ॥ ५३ ॥

हे शत्रुनाशी ! अष्टाङ्ग युक्त चार प्रकारके बल रखती हुई सेना बडे बडे योधोंसे सिखायी जाकर तुम्हारे शत्रुको मारने तो जाती है ? ॥ ५३ ॥

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप ।
अविहाय महाराज विहंसि समरे रिपून् ॥ ५४ ॥

हे महाराज ! पराये राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके कालको न त्याग करके युद्धमें शत्रुओंकी हिंसा तो करते हो ? ॥ ५४ ॥

कच्चित्स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान्समनुतिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ५५ ॥

अपने और पराये राज्यमें बहुविध नौकर चाकर बहुविध काममें नियुक्त रहकर उस कामोंको करते और एक दूसरेको बचाते तो हैं ? ॥ ५५ ॥

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शकानि च ।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ५६ ॥

हे महाराज ! तुम्हारे विश्वासी जन भोजनकी सामग्री और वस्त्र चन्दनादि तो एकत्र रखते हैं ? ॥ ५६ ॥

कच्चित्कोशं च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ५७ ॥

कोष, शस्यगृह, वहान, द्वार, अस्त्र और आय यह सब तुम्हारे मङ्गल चाहनेवाले भक्त नौकरोंसे रखे तो जाते हैं ? ॥ ५७ ॥

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशां पते ।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥ ५८ ॥

हे प्रजानाथ ! रसोइया आदि भीतरी और सेनापति आदि बाहरी जनोंसे पहिले अपनी रक्षा कर पीछे पुत्रादि आत्मजनोंसे उनकी और उनमें परस्परसे परस्परकी रक्षा तो करते हो ? ॥५८॥

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च ।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ५९ ॥

दिनके पहिले भागमें तुम्हारा पान, सुन्दरी, चौसर आदिके व्यर्थ व्ययका हाल कोई जान तो नहीं सकता ? ॥ ५९ ॥

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते तव ॥ ६० ॥

तुम्हारी आयके आधे, तीसरे वा चौथे भागसे तुम्हारा व्यय पूजता तो है ? ॥ ६० ॥

कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ६१ ॥

सदा धन धान्य देकर गुरु, वृद्ध, वणिक्, शिल्पी, शरणागत और कुदशामें पडे जनों पर कृपा दिखाते तो हो ? ॥ ६१ ॥

कच्चिदायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायव्ययं तव ॥ ६२ ॥

आय व्ययमें लगे लेखक और गणक नित्य दिनके पूर्व भागमें तुम्हारा आय व्ययका हिसाब लगाते तो हैं ? ॥ ६२ ॥

कच्चिदर्थेषु संप्रौढान्हितकामाननुप्रियान् ।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ६३ ॥

विषयमें चिन्तन लगाये हितैषी प्यारे कर्मचारी बिनादोष कर्मसे निकाले तो नहीं जाते ?॥६३॥

कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ६४ ॥

हे भरतनन्दन ! भले, बुरे और मझले जन भले प्रकार जांचे जाकर योग्य कर्ममें नियुक्त तो होते हैं ? ॥ ६४ ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशां पते।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ६५ ॥

हे प्रजाधिपते! चोर, लोभी, शत्रु अथवा बालक तो तुम्हारे कार्यमें नहीं नियुक्त होते? ॥६५॥

कच्चिन्न लुब्धैश्चौरैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीडयते राष्ट्रं कच्चित्पुष्टाः कृषीवलाः ॥ ६६ ॥

चोर, लोभी, कुमार वा नारी अथवा तुमसे राज्यमें कोई बखेडा तो नहीं उठता? तुम्हारे राज्यके किसान तो सदा पुष्ट रहते हैं? ॥ ६६ ॥

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च महान्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ६७ ॥

बडे बडे ताल जलसे लबालब होकर विभागके अनुसार ठौरठौरमें बने तो हैं? कृषिकार्यमें वृष्टिका कोई बडा प्रयोजन तो नहीं है? ॥ ६७ ॥

कच्चिद्बीजं च भक्तं च कर्षकायावसीदते।
प्रतिकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ६८ ॥

हर सैंकडेमें चौथा भाग बढती लेकर कृपाचित्तसे उनको ऋण तो देते हो? तुम्हारी कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और ऋणदान यह चार प्रकारकी वार्ता तो सुचरित्र जनोंसे भले प्रकार की जाती है? ॥ ६८ ॥

कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्त्ता ते साधुभिर्जनैः।
वार्त्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ६९ ॥

हे तात! वार्त्ताके प्रबन्ध रहने हीसे लोग सुखी हो सकते हैं, तुम सज्जनोंसे वार्त्ता तो करते हो? ॥ ६९ ॥

कच्चिच्छुचिकृतः प्राज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ७० ॥

और ज्ञानी पांच मनुष्य पुरवासी-पालन, दुर्ग-पालन, वणिक्-पालन, कृषिका देखना भालना और दुष्टोंका शासन इन पांच कार्योंमें नियुक्त रहकर एकमतसे तुम्हारे जनपदोंके मङ्गल का प्रबन्ध करते तो हैं? ॥ ७० ॥

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः।
ग्रामवच्च कृता रक्षा ते च सर्वे तदर्पणाः ॥ ७१ ॥

राज्यरक्षाके लिये ग्राम नगरके समान और प्रान्तभाग ग्रामके समान बने हैं कि नहीं? ॥७१॥

×

कच्चिद्बलेनानुगताः समानि विषमाणि च।
पुराणचौराः साध्यक्षाश्चरन्ति विषये तव ॥ ७२ ॥

नित्य समाचार आदि भेजनेसे उन सब विषयोंका भार तुम पर सन्नद्ध है कि नहीं ? चोर तुम्हारे पुरोंको हनकर सम और ऊंची नीची सब ठौरमें लूट मचावें तो सैनिक लोग उनको पछियाते तो हैं ? ॥ ७२ ॥

कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ७३ ॥

तुम स्त्रियोंको ढाढस दे उनकी रक्षा तो करते हो ? उनकी बातोंका विश्वास अथवा उनसे कोई गुप्त बात तो नहीं कह देते ? ॥ ७३ ॥

कच्चिच्चारान्निशि श्रुत्वा तत्कार्यमनुचिन्त्य च।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे विदित्वाभ्यान्तरं जनम् ॥ ७४ ॥

हे महाराज ! किसी विपतको आती हुई सुन और उसकी चिन्ताकर अन्तःपुरमें स्रक चन्दनादि प्यारी वस्तु लगाके सो तो नहीं रहते ? ॥ ७४ ॥

कच्चिद्द्वौ प्रथमौ यामौ रात्र्यां सुप्त्वा विशां पते।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ७५ ॥

रात्रिके दूसरे और तीसरे भागमें सुखसे सोकर शेष अंशमें उठकर धर्मार्थकी चिंता तो करते हो ? ॥ ७५ ॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्यान्समलंकृतान्।
उत्थाय काले कालज्ञः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ७६ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! उचित समयमें उठके बन ठनकर, समयके जानकार मन्त्रियोंके साथ दर्शन चाहनेवाले जनोंको नित्य भेंट तो करने देते हो ? ॥ ७६ ॥

कच्चिद्रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः।
अभितस्त्वामुपासन्ते रक्षणार्थमरिन्दम ॥ ७७ ॥

हे शत्रुमथन ! लालाम्बर पहिने गहनोंसे सजे जन अस्त्र लिये रखवालीके निमित्त तुम्हारी दोनों ओर खडे तो रहते हैं ? ॥ ७७ ॥

कच्चिद्दण्डयेषु यमवत्पूज्येषु च विशां पते।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ७८ ॥

क्या दण्डयोग्य, क्या पूजा-योग्य, क्या प्रिय, क्या अप्रिय, सबोंको जांच कर यमराजकी भांति ठीक व्यवहार तो करते हो ? ॥ ७८ ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥ ७९ ॥

हे कुंतीपुत्र ! नियम और औषधसे शारीरिक पीडा और वृद्धिके उपदेशसे मानसिक पीडासे बचते हो कि नहीं ? ॥ ७९ ॥

कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ८० ॥

निदान पूर्व रूपादि अष्टाङ्ग चिकित्सामें ज्ञानी और मित्रता तथा प्रेमयुक्त वैद्य सदा तुम्हारे शरीरकी रक्षामें लगे तो रहते हैं ? ॥ ८० ॥

कच्चिन्न मानान्मोहाद्वा कामाद्वापि विशां पते ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तानपास्यसि कथंचन ॥ ८१ ॥

हे प्रजापालक ! ऐसा तो कभी नहीं होता, कि वादी, प्रतिवादियोंके आने पर अभिमान वा मोहसे कामसे उनके कार्यमें उचित ध्यान नहीं देते ? ॥ ८१ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा विश्रम्भात्प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि च ॥ ८२ ॥

विश्वास वा प्रेमसे जो तुम्हारी शरण लेते हैं तुम मोह या लोभके मारे उनकी वृत्ति तो नहीं नष्ट करते ? ॥ ८२ ॥

कच्चित्पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः ।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ८३ ॥

तुम्हारे पुरवासी वा राज्यवासी जन विपक्षियोंसे क्रीत होकर एकमतसे तुमसे कोई विरुद्ध व्यवहार तो नहीं करते ? ॥ ८३ ॥

कच्चित्ते दुर्बलः शत्रुर्बलेनोपनिपीडितः ।
मन्त्रेण बलवान्कश्चिदुभाभ्यां वा युधिष्ठिर ॥ ८४ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे बलसे तथा प्रबल तन्त्र वा मन्त्र और बल दोनोंसे शत्रु पिसे तो रहते हैं ? ॥ ८४ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वया हृताः ॥ ८५ ॥

बडे बडे भूपाल तुम्हारे प्रेमी तो बने हैं ? तुम्हारा आदर पाकर वे तुम्हारे मङ्गलके लिये प्राण तक दे देनेको कमर कसते हैं कि नहीं ? ॥ ८५ ॥

कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव निःश्रेयसे शुभा ॥ ८६ ॥

तुम अपने कल्याणके लिए सब विद्याओंमें गुणके अनुसार ब्राह्मण और साधुओंको पूजते तो हो ? ॥ ८६ ॥

कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः ।
वर्तमानस्तथा कर्तुं तस्मिन्कर्मणि वर्तसे ॥ ८७ ॥

पूर्वजोंके लिये वेदमूलक धर्म कर्ममें तुम्हारी भक्ति तो बनी है ? वे जैसा करते थे, तुम भी वैसा करनेका प्रयत्न कर उस काममें हाथ तो डालते हो ? ॥ ८७ ॥

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः ।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ८८ ॥

गुणशाली ब्राह्मण तुम्हारे सामने नित्य स्वादिष्ट और गुणकारी सामग्री भोजन करते और दक्षिणा पाते तो हैं ? ॥ ८८ ॥

कच्चित्क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः ।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ ८९ ॥

तुम जितेन्द्रिय होकर एक मनसे वाजपेय और पुण्डरीक आदि यज्ञोंके पूरा करनेका प्रयत्न तो करते हो ? ॥ ८९ ॥

कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्दैवतांस्तापसानपि ।
चैत्यांश्च वृक्षान्कल्याणान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ ९० ॥

वृद्ध, ज्ञाति, गुरु, देवता और तपस्वियोंको तथा कल्याणदायी चैत्यवृक्ष और ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो ? ॥ ९० ॥

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ ९१ ॥

हे आयुष्मन् ! मैंने आयु और यश बढानेवाली और धर्मार्थ काम दिखाती हुई जैसी बुद्धि और क्रियाकी बात कही, तुम्हारी बुद्धि और क्रिया वैसी है ? ॥ ९१ ॥

एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति ।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ ९२ ॥

जो ऐसी बुद्धिसे चलते हैं, उनका राज्य कदापि नहीं मुर्झाता और वह राजा सम्पूर्ण धरतीको जयकर बडा सुखी होता है । ॥ ९२ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि ।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥ ९३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मूर्खोंसे हेलमेल करते हुए अनजान मन्त्री लोग लोभके वशमें होकर किसी शुद्ध-चित्त दोषसे रहित, श्रेष्ठ जन पर झूठ मूठ चोरीका कलङ्क लगाकर सब लूट पूटके उनको हनते तो नहीं ? ॥ ९३ ॥

पृष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ ९४ ॥

और समझ बूझ कर किसी सचमुच चोरी किये पुष्ट चोरको चुराये माल सहित पकड करके उसे मालके लोभसे छोड तो नहीं देते ? ॥ ९४ ॥

व्युत्पन्ने कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत।
अर्थान्न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता धनैः ॥ ९५ ॥

हे भारत ! तुम्हारे मन्त्रीवर्ग धनके लोभमें पडके धनी दरिद्रोंमें उभडे झगडोंका अनुचित विचार तो नहीं करते ? ॥ ९५ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं क्षिप्तचित्तताम् ॥ ९६ ॥

नास्तिकता, क्रोध, अनवधानता, दीर्घ-सूत्रता, ज्ञानियोंसे न मिलना, आलस्य, चित्तकी चञ्चलता, ॥ ९६ ॥

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ९७ ॥
मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रसङ्गं विषयेषु च।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ९८ ॥

एकके साथ विषयकी चिन्ता, अर्थ न जाननेवाले लोगोंसे युक्ति करना, समझे बूझे कार्यका प्रारम्भ न करना, मन्त्रणा न रखना, मङ्गल कार्यमें हाथ न डालना और विषयोंके बारेमें प्रसंग न करना, राजाओंके यह चौदह दोष त्याग तो देते हो ? ॥ ९७-९८ ॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम्।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥ ९९ ॥

हे महाराज ! तुम्हारा वेदपठन, धन, स्त्री लाभ और शास्त्र ज्ञान, यह सब सफल तो हुए हैं ? ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम्।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥ १०० ॥

युधिष्ठिरने पूछा— वेद, धन, स्त्री और शास्त्र ज्ञान क्योंकर सफल होते हैं ? ॥ १०० ॥

नारद उवाच—

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥ १०१ ॥

नारदजी बोले— अग्निहोत्रादि कर्म करनेहीसे वेद सफल होते हैं; दान और भोग करनेहीसे धन सफल होता है; कामवृत्तिके करने और पुत्र उपजाने हीसे स्त्री लाभ सफल होता है और शीलता तथा सदाचार प्राप्त करनेहीसे शास्त्रज्ञान सफल होता है ॥ १०१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतदाख्याय स मुनिर्नारदः सुमहातपाः ।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ १०२ ॥

नारद उवाच—

कच्चिदभ्यागता दूराद्वणिजो लाभकारणात् ।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥ १०३ ॥

वैशम्पायन बोले— महातपस्वी नारद मुनिने फिर धार्मिकवर युधिष्ठिरसे कहा, कि महाराज ! लाभकी आशासे दूर देशसे आये हुए वणिकोंसे कर लेनेवाले राजकर्मचारी लोग उचित कर तो लेते हैं ? ॥ १०२–१०३ ॥

कच्चित्ते पुरुषा राजन्पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥ १०४ ॥

यह सब वणिक् तुम्हारे नगर और राज्यमें सम्मानित होकर और ठगे न जाकर विक्रीकी सामग्री ला तो सकते हैं ? ॥ १०४ ॥

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः ।
नित्यमर्थविदां तात तथा धर्मानुदर्शिनाम् ॥ १०५ ॥

तुम धर्मार्थ दिखानेवाले अर्थके जानकार वृद्धोंके धर्मार्थ युक्त वचन सदा सुनते तो हो ? ॥ १०५ ॥

कच्चित्ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयते मधुसर्पिषी ॥ १०६ ॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य, गौओंसे उत्पन्न दूध घी, तथा पुष्पफलादिकोंसे उत्पन्न मधु आदिमेंसे कर्मके निमित्त द्विजोंको घृत मधु तो दी जाती है ? ॥ १०६ ॥

द्रव्योपकरणं कच्चित्सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ्नियतं संप्रयच्छसि ॥ १०७ ॥

महाराज ! तुम सब समयमें सब प्रकारके शिल्पियोंको चार महीनेके अनधिक कालके भले प्रकार ठहराए हुए वेतन और बनानेकी सामग्री तो देते हो ? ॥ १०७ ॥

कच्चित्कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि पूजयन् ॥ १०८ ॥

शिल्पियोंका किया कार्य तो जान लेते हो और उनकी प्रशंसा तो करते हो तथा सज्जनोंके बीचमें, हे महाराज ! उनकी पूजा करते हुए उनका सत्कार तो करते हो ? ॥ १०८ ॥

कच्चित्सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि चाभिभो ॥ १०९ ॥

हे प्रभो भरतश्रेष्ठ ! तुम संक्षेपमें सिद्धान्तयुक्त सब प्रकारके वाक्य विशेष करके हाथी, घोडे और रथादिकी परीक्षाके सब उपाय ग्रहण तो करते हो ? ॥ १०९ ॥

कच्चिदभ्यस्यते शश्वद्गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं च यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥ ११० ॥

हे भरतनन्दन ! धनुर्वेद सूत्र और नगर हितकारी यन्त्रोंकी शिक्षाके सब ग्रन्थ तुम्हारे भवनमें हमेशा पढे तो जाते हैं ? ॥ ११० ॥

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।
विषयोगाश्च ते सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥ १११ ॥

हे अनघ ! मन्त्रसहित सब प्रकारके अस्त्र, ब्रह्मदण्ड अर्थात् आभिचारिक विद्या और विष देनेके सब उपाय, तुम यह सब शत्रुनाशी विषय तो जानते हो ? १११ ॥

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्पव्यालभयात्तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥ ११२ ॥

तुम अग्नि सर्पादिक हिंसक जन्तु और रोग राक्षसोंसे उपजे भयसे अपनी प्रजाको बचाते तो हो ? ॥ ११२ ॥

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून्व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ ११३ ॥

हे धर्मज्ञ ! अन्धे, गूंगे, लूले, बिन बन्धु और संन्यासियोंको उनके पिताकी भांति बनके पालते तो हो ? ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एताः कुरूणामृषभो महात्मा श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य ।
प्रणम्य पादावभिवाद्य हृष्टो राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥ ११४ ॥

वैशम्पायन बोले—कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर देवरूपी ब्राह्मणसत्तम नारदजीकी यह बात सुनकर प्रसन्न मनसे उनको प्रणामकर और दोनों पावोंमें लगकर बोले ॥ ११४ ॥

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा लेभे महीं सागरमेखलां च ॥ ११५ ॥

आपने प्रश्नोंके बहाने जो सब उपदेश दिये, मैं सब कार्य उनके अनुसार किया करूंगा, क्योंकि आपकी कृपासे मेरी बुद्धि बहुत बढी। राजा युधिष्ठिरने यह कहनेके बाद इसके अनुसार कार्य किया था और वे समुद्रके छोरतक सारी धरतीको जीत सके थे ॥ ११५ ॥

नारद उवाच—

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ ११६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ २२६ ॥

नारद बोले—जो राजा इस रीतिसे ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी रक्षामें सन्नद्ध रहते हैं, वह परम सुख लूटकर अन्तमें इंद्रलोकको जाते हैं ॥ ११६ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ २२६ ॥

: ६ :

वैशम्पायन उवाच—

संपूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात्परम्।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— ब्रह्मर्षि नारदके कह चुकने पर धार्मिकवर युधिष्ठिर उनको भली भांति पूजके, उनकी आज्ञा पाकर आद्योपान्त उनके सब प्रश्नोंके उत्तर देते हुए बोले ॥ १ ॥

भगवन्न्याय्यमाहैतं यथावद्धर्मनिश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥

भगवन् ! आपने जिस योग्य रूपसे निरूपित धर्मसिद्धान्तकी बात कही, वह न्यायके अनुसार ही है, मैं शक्तिके अनुसार और उचित रूपसे उस विधिको काममें लाता हूं ॥ २ ॥

राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा तत्तन्न संशयः।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥

उसमें सन्देह नहीं, कि पूर्वकालमें राजाओंने जो सब कार्य किये थे, वह न्यायकी रीतिसे संग्रहीतार्थ हेतुमत् और अर्थयुक्त हैं ॥ ३ ॥

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो ।
न तु शक्यं तथा गन्तुं तथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! हम उनके उस सुपथसे चलना तो चाहते हैं, पर वे जितेन्द्रिय पुरुष जैसे चले थे हमसे वैसा बन नहीं पडता ॥ ४ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ।
मुहूर्तात्प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ॥ ५ ॥
नारदं स्वस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अपृच्छत्पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महामतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले— अति तेजस्वी धार्मिकवर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने नारदकी पूछी हुई बातोंका आदरपूर्वक वह उत्तर देके कुछ काल पीछे सर्वलोकोंमें जानेवाले दमशील देवर्षि नारदको प्रसन्न मनसे बैठे देखकर और स्वयं भी उनके निकट बैठके बुद्धिमान् युधिष्ठिरने ठीक अवसर जान सभामें विराजमान राजाओंके सामने पूछा ॥ ५–६ ॥

भगवन्संचरते लोकान्सदा नानाविधान्बहून् ।
ब्रह्मणा निर्मितान्पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ७ ॥

हे ब्रह्मन् ! पहिले ब्रह्माजीने अनेक अगणित लोक रचे हैं, आप मनकी भांति वेगसे उनको निहारकर सदा सब ठौरमें फिरा करते हैं ॥ ७ ॥

ईदृशी भवता काचिद्दृष्टपूर्वा सभा कचित् ।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

आपने कहीं ऐसी सभा देखी, कि नहीं जो मेरी इस सभाके समान अथवा इससे भी श्रेष्ठ हो, आपसे पूछते हुए मुझे बताइए ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम् ।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

धर्मराजका यह वचन सुनकर नारद मुनि हंसकर मीठी बातोंमें युधिष्ठिरसे बोले ॥ ९ ॥

मानषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन्यथेयं तव भारत ॥ १० ॥

हे तात भारत ! तुम्हारी इस मणिकी बनी सभाके समान दूसरी सभा मनुष्यलोकमें न तो कभी देखी और न सुनी ॥ १० ॥

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः ।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ ११ ॥

तुमसे यमराजकी, धीमान् वरुणकी और इन्द्रकी तथा कैलासको घर बनाकर रहनेवाले कुबेरकी सभाओंका वर्णन करूंगा ॥ ११ ॥

ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम्।
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तथा ब्रह्माकी निर्दोष दिव्य सभाओंकी कथा यदि तुम्हारी सुननेकी इच्छा है, तो हे भरतश्रेष्ठ ! अवश्य कहूंगा ॥ १२ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्नृपैर्वृतः ॥ १३ ॥

नारदके ऐसा कहने पर राजाओंसे घिरे हुए भाइयोंके साथ हाथ जोडकर महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिर नारदसे बोले ॥ १३ ॥

नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १४ ॥

महामनस्वी धर्मराज नारदसे यह बोले– हे ब्रह्मन् ! हम सुनना चाहते हैं; आप उन सभाओंकी कथा कहें ॥ १४ ॥

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन्किंविस्ताराः किमायताः।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १५ ॥

कौन कौन सभामें कौन कौनसी सामग्री है, लम्बाई चौडाईमें कौन सभा कितनी बडी है, ब्रह्माकी सभामें कौन कौन उनकी उपासना करते हैं ? ॥ १५ ॥

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ॥ १६ ॥

देवराज इन्द्र, सूर्यकुमार यमराज, वरुण और कुबेर, इनकी सभामें कौन कौन उनकी उपासना करते हैं ? ॥ १६ ॥

एतत्सर्वं यथातत्त्वं देवर्षे वदतस्तव।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १७ ॥

यह सब सुननेको हमें बडा कौतूहल उत्पन्न हुआ है, इसलिए हे देवर्षे ! आप यह सब हमसे ठीक ठीक कहें ॥ १७ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्युवाच तम्।
क्रमेण राजन्दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ २४४ ॥

पाण्डुपुत्रके यह पूछने पर नारद बोले, कि महाराज ! मैं सब सभाओंकी दिव्य कथायें कहता हूं, क्रमसे सुनो ॥ १८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ २४४ ॥

: ७ :

नारद उवाच—

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मभिर्जिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्मितार्कसमप्रभा ॥ १ ॥

श्रीनारद बोले– हे कुरुवंशि ! इन्द्रकी सभा बहुत दिव्य और उजालेसे भरी हुई है। उन्होंने अपने पुण्य फलसे उसको जीता है और वह अर्कसमान उजली दिव्य सभा इन्द्रने स्वयं बनायी है ॥ १ ॥

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता ।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥

वह आकाशमें विराजनेवाली कामगामी सभा लम्बाईमें सौ योजन, चौडाईमें डेढ सौ योजन और ऊंचाईमें पांच योजन फैली हुई है ॥ २ ॥

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा ।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥

बुढापा–शोक–थकावट मिटानेवाली भय और आतंकसे रहित, शान्तिदायिनी, मङ्गल करनेवाली, सुगृह–आसन–धारिणी दिव्य वृक्षोंसे सुहावनी बडी मनहरिणी है ॥ ३ ॥

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने ।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ॥ ४ ॥

हे पार्थ युधिष्ठिर ! इस सभामें अत्यन्त उत्तम आसन पर इन्द्र श्री और लक्ष्मीसे युक्त होकर महेन्द्राणी शचीके साथ बैठते हैं ॥ ४ ॥

बिभ्रद्वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः ।
विरजोम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥

वे देवनाथ इन्द्र केयूर लिये, किरीट धरे, निर्मल अम्बर तथा सुन्दर माला पहिने, अनजाने स्वरूप धरे, शोभा, सम्पत्ति, द्युति तथा कीर्तिके सहित परमोत्कृष्ट आसन पर बिराजते हैं ॥५॥

तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम् ।
मरुतः सर्वतो राजन्सर्वे च गृहमेधिनः ।
सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा ॥ ६ ॥

महाराज ! उस सभामें गृहमेधी मरुद्गण, सिद्धगण, देवर्षिगण, साध्यगण और देवगण, महात्मा इन्द्रकी हमेशा सेवा किया करते हैं ॥ ६ ॥

एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ७ ॥

एकत्रित मरुद्गण दिव्यरूप बने तथा अलंकृत होकर साथियोंके साथ शत्रुदमन महानुभाव देराजकी उपासना किया करते हैं ॥ ७ ॥

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते ।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ।
तेजस्विनः सोमयुजो विपापा विगतक्लमाः ॥ ८ ॥
पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ।
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ॥ ९ ॥

हे पार्थ ! अमल निष्पाप अग्निके समान तेजसे युक्त सोमयाजी, बुढापा और शोकसे रहित देवर्षिगण भी इन्द्रकी सेवा करते हैं। और पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, मुनि गौरशिरा ॥ ८–९ ॥

दुर्वासाश्च दीर्घतपा याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्तथा शाटयायनः प्रभुः ॥ १० ॥

महातपस्वी दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु तथा प्रभु शाटयायन ॥ १० ॥

हविष्मांश्च गविष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीहलः ॥ ११ ॥

हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पाराशर्य, कृषीहल ॥ ११ ॥

वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
अनन्तदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १२ ॥

वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, अनन्तदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा, तुम्बुरु ॥ १२ ॥

अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १३ ॥

योनिज– मनुष्य पशु आदि, अयोनिज– पक्षी सरीसृप आदि, वायुको खाकर रहनेवाले, और अग्नि खाकर रहनेवाले जन्तु सब लोकोंके स्वामी उस वज्रधारी इन्द्रकी सेवा करते हैं ॥ १३ ॥

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
समीकः सत्यवांश्चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १४ ॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्रिर्महातपाः ॥ १५ ॥

सहदेव, सुनीथ, महातपा वाल्मीकि, सत्यवादी समीक, सत्यसङ्गर, प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, स्थाणु, महातपा अत्रि ॥ १४–१५ ॥

कक्षीवान्गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः।
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्यदः।
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानरमुनि, मुनिकालकवृक्षीय, आश्राव्य, हिरण्यद, संवर्त्त, देवहव्य, वीर्यवन्त विष्वक्सेन ॥ १६ ॥

दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती।
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चापि पाण्डव ॥ १७ ॥

हे पाण्डुनन्दन! स्वर्गके जल तथा सब औषधि और श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, धर्म, अर्थ, काम, विद्युत ॥ १७ ॥

जलवाहास्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः।
प्राची दिग्यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ॥ १८ ॥

जलधर, बादलदल, वायुकुल, स्तनयित्नुगुण, प्राचीदिक्, यज्ञनिबटानेवाली सत्ताइस तरहकी अग्नियां ॥ १८ ॥

अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रोऽथ सवितार्यमा।
भगो विश्वे च साध्याश्च शुक्रो मन्थी च भारत ॥ १९ ॥

अग्नीषोम, इन्द्राग्नी, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वदेवगण, सब साध्यगण, वृहस्पति, शुक्राचार्य ॥ १९ ॥

यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैव ग्रहाः स्तोभाश्च सर्वशः।
यज्ञवाहाश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २० ॥

सकल यज्ञ, सब दक्षिणा, गृहगण, स्तोभ गण और यज्ञवाहीमन्त्र सब उस सभामें विराजते हैं ॥ २० ॥

तथैवाप्सरसो राजन्गन्धर्वाश्च मनोरमाः।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि।
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ॥ २१ ॥
स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा।
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ॥ २२ ॥

हे महाराज! वहां मनहरणी अप्सरा और गन्धर्व भांति भांतिके नाच, गीत, बाजा, हंसी आदिसे देवराज इन्द्रको प्रसन्न करते हैं। स्तुतिपाठ, मङ्गल कर्म और विक्रम प्रगट कर बलवृत्रनाशी सर्वगुणराशी देवनाथ इन्द्रका मन बहलाते हैं ॥ २१-२२ ॥

ब्रह्मराजर्षयः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा ।
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्भ्राजमानैरिवाग्निभिः ॥ २३ ॥
स्रग्विणो भूषिताश्चान्ये यान्ति चायान्ति चापरे ।
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च तस्यामाययतुः सह ॥ २४ ॥

अग्निके समान प्रकाशमान ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा सभी देवर्षि अनेक तरहके विमानोंसे माला पहिने गहने धारण किये उस सभामें जाया आया करते हैं। बृहस्पति और शुक्र उस सभामें नित्य आया करते हैं ॥ २३–२४ ॥

एते चान्ये च बहवो यतात्मानो यतव्रताः ।
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणो वचनाद्राजन्भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ २५ ॥

महाराज! यह और दूसरे अगणित व्रतपालन करनेमें प्रयत्नशील तथा आत्मशक्तिको प्राप्त करनेके लिये कोशिश करनेवाले भृगु तथा सप्तर्षिगण, चन्द्रमा सदृश विमानों पर साक्षात् सोमकी भांति प्रियदर्शन बनके ब्रह्माके कथनके अनुसार उक्त सभामें जाते आते हैं ॥२५॥

एषा सभा मया राजन्दृष्टा पुष्करमालिनी ।
शतक्रतोर्महाराज याम्यां शृणु ममानघ ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥ २७० ॥

हे महाराज! मैंने इन्द्रकी उस पुष्करमालिनी नामक सभाको ऐसी देखी है, हे निष्पाप राजन्! अब यमराजकी सभाकी कथा सुनो ॥ ३० ॥

महाभारतके सभापर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ २७० ॥

: ८ :

नारद उवाच

कथयिष्ये सभां दिव्यां युधिष्ठिर निबोध ताम् ।
वैवस्वतस्य यामर्थे विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥

नारद बोले– हे युधिष्ठिर! विवस्वान्के पुत्र यमराजके लिये विश्वकर्माने जो दिव्य सभा रची है मैं उसकी कथा कहना प्रारम्भ करता हूं, ध्यानसे सुनो ॥ १ ॥

तैजसी सा सभा राजन्बभूव शतयोजना ।
विस्तारायामसंपन्ना भूयसी चापि पाण्डव ॥ २ ॥

हे पाण्डुनन्दन राजन्! सोनेसे बने हुए होनेके कारण अत्यन्त तेजवाली वह सभा लम्बाई चौडाईमें सौ योजनसे भी अधिक फैली हुई है ॥ २ ॥

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामचारिणी।
नैवातिशीता नात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३॥

वह सूर्यके समान प्रकाशयुक्त चमकनेवाली, सब जगह अपनी इच्छासे चलनेवाली और न तो बहुत ठण्डी और न बहुत गर्म ही है। इस कारण वह मनको बडा आनन्द पहुंचाती है ॥ ३॥

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम्।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४॥

उस सभामें न बुढापा है, न शोक है, न भूख है, न प्यास है, न अप्रिय है, न दीनता है, न थकावट है और न कुछ प्रतिकूल ही है ॥ ४॥

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः।
रसवच्च प्रभूतं च भक्ष्यभोज्यमरिन्दम ॥ ५॥

उस सभामें, जो भी देवसम्बन्धी और जो भी मनुष्य सम्बन्धी अभिलाषायें हैं, वे सभी उपस्थित हो जाती हैं। हे शत्रुनाशक राजन्! उस सभामें रससे भरपूर खानेके योग्य पदार्थ भरपूर हैं ॥ ५॥

पुण्यगन्धाः स्रजस्तत्र नित्यपुष्पफलद्रुमाः।
रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव ह ॥ ६॥

वहांके फूलोंकी मालायें बहुत उत्तम सुगंधीवाली होती हैं और वहांके पेड हमेशा फूल और फलोंसे लदे हुए होते हैं और वहांके गरम और ठण्डे जल बहुत मीठे होते हैं ॥ ६॥

तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते ॥ ७॥

हे तात! उस सभामें पवित्र राजर्षि और विशुद्ध ब्रह्मर्षिगण प्रसन्न मनसे सूर्यनन्दन यमराजकी उपासना किया करते हैं ॥ ७॥

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः।
त्रसदस्युश्च तुरयः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः ॥ ८॥

हे महाराज! ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसदस्यु, तुरय, कृतवीर्य, श्रुतश्रवा ॥ ८॥

अरिप्रणुत्सुसिंहश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः।
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथ्वक्षोऽथ बृहद्रथः ॥ ९॥

प्रणुत्सुसिंह, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिबि, मत्स्य, पृथ्वक्ष और बृहद्रथ ॥ ९॥

ऐडो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्भवः ।
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः ॥ १० ॥
ऐड, मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, भव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, राजा कार्तवीर्य ॥१०॥

भरतस्तथा सुरथः सुनीथो नैषधो नलः ।
दिवोदासोऽथ सुमना अम्बरीषो भगीरथः ॥ ११ ॥
तथा भरत, सुरथ, सुनीथ, नैषध, नल, दिवोदास और सुमना, अम्बरीष, भगीरथ ॥११॥

व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पञ्चहस्तः पृथुश्रवाः ।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च क्षुपश्च सुमहाबलः ॥ १२ ॥
व्यश्व, सदश्व, वध्र्यश्व, पञ्चहस्त, पृथुश्रवा, रुषद्गु, वृषसेन, बलवान् क्षुप ॥ १२ ॥

रुषदश्वो वसुमनाः पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ।
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः ॥ १३ ॥
रुषदश्व, वसुमना, ध्वजों और रथोंसे युक्त पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर ॥१३॥

औशीनरः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ।
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुःषन्तः सञ्जयो जयः ॥ १४ ॥
औशीनर, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अङ्ग, अरिष्ट, वेन, दुःषन्त, सञ्जय, जय ॥१४॥

भाङ्गास्वरिः सुनीथश्च निषधोऽथ त्विषीरथः ।
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान्मधुः ॥ १५ ॥
भाङ्गास्वरि, सुनीथ, निषध और इषीरथ, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, और बलवान् मधु ॥१५॥

कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा ।
रामो दाशरथिश्चैव लक्ष्मणोऽथ प्रतर्दनः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, दशरथपुत्र राम और लक्ष्मण और प्रतर्दन ॥ १६ ॥

अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ।
जामदग्न्योऽथ रामोऽत्र नाभागसगरौ तथा ॥ १७ ॥
अलर्क, कक्षसेन, गय उसी तरह गौराश्व, जामदग्न्य राम, नाभाग और सगर ॥ १७ ॥

भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथ्वश्वी जनकस्तथा ।
वैन्यो राजा वारिषेणः पुरुजो जनमेजयः ॥ १८ ॥
भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथ्वश्व, तथा जनक, राजा वैन्य, वारिषेण, पुरज, जनमेजय ॥ १८ ॥

ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ।
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गयः पृष्ठो नयोऽनघः ॥ १९ ॥
ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त और राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गय, पृष्ठ, नय, अनघ ॥ १९ ॥

पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ।
अरिष्टनेमिः प्रद्युम्नः पृथुगश्वोऽजकस्तथा ॥ २० ॥

पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, प्रद्युम्न, पृथुगश्व तथा अजक ॥ २० ॥

शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं हयाः ।
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः ॥ २१ ॥

मत्स्यवंशी सौ नरेश, नीप वंशी सौ राजा, हयवंशी सौ भूपाल, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय ॥ २१ ॥

शतं च ब्रह्मदत्तानामीरिणां वैरिणां शतम् ।
शान्तनुश्चैव राजर्षिः पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २२ ॥

सौ ब्रह्मदत्त, वैरिणों और ईरिणोंके एक सौ, महाराज शन्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु ॥ २२ ॥

उशद्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः ।
वृषादर्भिश्च राजर्षिर्धाम्ना सह समन्त्रिणा ॥ २३ ॥

उशद्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मंत्री और तेजके साथ तेजस्वी राजर्षि वृषादर्भि ॥ २३ ॥

अथापरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः ।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २४ ॥

और वे सहस्रों शशबिन्दु जो बहुतसी दाक्षिणावाले अगणित बडे बडे अश्वमेध यज्ञ करके स्वर्ग चले गए ॥ २४ ॥

एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
तस्यां सभायां राजर्षे वैवस्वतमुपासते ॥ २५ ॥

हे राजर्षे ! ये सब कीर्तिशाली बडे शास्त्रज्ञानसे युक्त पवित्र राजर्षि उस सभामें वैवस्वतकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥ २५ ॥

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च ।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २६ ॥

इनके अलावा अगस्त्य और मतङ्ग, काल उसी तरह मृत्यु, यज्ञ करनेवाले ऋत्विग्गण, सिद्धगण और जो योगसे युक्त शरीरवाले हैं ॥ २६ ॥

अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये ।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ॥ २७ ॥

अग्निष्वात्त (अग्निमें डाली गई हवि खानेवाले) फेनप (केवल फेन अर्थात् झाग पीकर रहनेवाले) उष्मप (केवल उष्णता या धुंआ पीकर रहनेवाले) स्वधावन्त (स्वधा हवि खानेवाले) बर्हिषद (यज्ञमें जाकर अपना भाग खानेवाले) तथा दुसरे जो मूर्तिवान् (शरीर धारण करके रहनेवाले) पितर हैं ॥ २७ ॥

×

कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान्हव्यवाहनः ।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ २८ ॥
कालचक्र साक्षात् भगवान् अग्नि, दुष्ट कर्म करके दक्षिणायनमें मरे हुए मनुष्य ॥ २८ ॥

कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ।
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो निरामयाः ॥ २९ ॥
कालको ले जानेमें लगे हुए जो यमके नौकर आदि पुरुष हैं, तथा शिंशप, (सालवृक्ष) पलाश (ढाक) और काश (कांस) कुश आदि जितने हैं, वे सब शरीर धारण करके, हे राजन् ! उस सभामें यमराजकी उपासना करते हैं ॥ २९ ॥

एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदः ।
अशक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ॥ ३० ॥
पितरोंके राजा यमके इन सब और दूसरे बहुतसे सभासदोंको उनके नामों अथवा कर्मोंके आधार पर गिनाना असम्भव है ॥ ३० ॥

असंबाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा ।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३१ ॥
हे पृथाके पुत्र युधिष्ठिर ! अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र जानेवाली तथा लम्बे समय तक तप करके विश्वकर्माके द्वारा बनाई गई यह सुन्दर सभा छोटी नहीं है अर्थात् यह सभा बहुत बडी है ॥ ३१ ॥

प्रभासन्ती ज्वलन्तीव तेजसा स्वेन भारत ।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥
हे भरतनन्दन ! वह सभा अपने तेजसे जलती हुई सी प्रतीत होती है। कठोर तप किए हुए सत्यवादी, व्रतधारी जन उस सभामें जाते हैं ॥ ३२ ॥

शान्ताः संन्यासिनः सिद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोम्बराः ॥ ३३ ॥
चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः परिबर्हैर्विभूषिताः ॥ ३४ ॥
इनके अलावा शान्त स्वभाववाले, सुन्दर देहवाले पुण्य कर्मसे पवित्र और सिद्ध बने हुए संन्यासी अमल चीर पहिने, सुन्दर केयूर धारे हुए, बढिया माला पहने हुए उज्वल कुण्डलसे युक्त उत्तम उत्तम वस्त्रोंके लिवासोंसे सुशोभित जन वहां उस सभामें अपने अच्छी प्रकार किए गए उत्तम कर्मोंसे जाते हैं ॥ ३३-३४ ॥

गन्धर्वाश्च महात्मानः शतशश्चाप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्तगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥ ३५ ॥

महात्मा गन्धर्व और सैंकडों अप्सरायें नाच गान हंसी और बाजेसे उस सभाको भरती रहती हैं ॥ ३५ ॥

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः ।
दिव्यानि माल्यानि च तामुपतिष्ठन्ति सर्वशः ॥ ३६ ॥

उस सभामें, हे युधिष्ठिर ! सर्वत्र पवित्र गन्ध और पुण्यध्वनि उडती रहती है, और दिव्य मालायें उस सभाको चारों तरफसे सजाये रखती हैं अर्थात् वह सभा दिव्य दिव्य मालाओंसे सजी रहती है ॥ ३६ ॥

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ३७ ॥

उस सभामें सहस्रों धार्मिक तथा सुन्दर रूपवाले मनस्वी जन उस प्रजाओंके स्वामी महात्मा यम महाराजकी उपासना करते रहते हैं ॥ ३७ ॥

ईदृशी सा सभा राजन्पितृराज्ञो महात्मनः ।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ३०८ ॥

महाराज ! पितरोंके स्वामी महात्मा यमकी वह सभा ऐसी गुणवाली है ! अब वरुणकी पुष्करतीर्थ मालिनी नामकी सभाका वर्णन करता हूं ॥ ३८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥ ३०८ ॥

: ९ :

नारद उवाच—

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्य सितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभ्रप्राकारतोरणा ॥ १ ॥

नारद बोले– हे युधिष्ठिर ! वरुणकी सफेद तेजवाली दिव्य सभा मापमें यमकी सभाके समान है । उसके प्राचीर (परकोटे–चारों ओरकी दीवालें) और तोरण (मुख्य दरवाजा) सफेद रंगके हैं ॥ १ ॥

अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यरत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥
नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैः पुष्पमञ्जरिधारिभिः ॥ ३ ॥

दिव्य और सुन्दर रत्नोंसे जडे हुए तथा फल और फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंके समूहोंसे युक्त पुष्प और मञ्जरी जालसे युक्त गुल्मों और नीले पीले काले सफेद और लाल रंगोंके सुन्दर चंदवोंसे सुहाती हुई यह सभा विश्वकर्माने जलके भीतर बैठकर बनाई है ॥ २-३ ॥

तथा शकुनयस्तस्यां नानारूपा मृदुस्वराः
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥

सैंकडों सहस्रों नाना रूपके शरीरवाली मीठे स्वरसे गानेवालीं अनदेखी वर्णकी चिडियां इधर उधर उडती फिरती हैं ॥ ४ ॥

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥

उस सभाका स्पर्श बडा सुखदायी है, वहां न तो बहुत शीत है और न ही बहुत गर्मी है। वह वरुणसे पालित सभा सफेद रंगकी, अत्यन्त सुन्दर और बैठनेके लिए दिव्य दिव्य आसनोंसे युक्त है ॥ ५ ॥

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या सह भारत ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो भूषणैरुपशोभितः ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! वरुण दिव्य वस्त्र और दिव्य रत्न आभूषणोंसे सुशोभित होकर वरुणानीके सङ्ग उस सभामें एकत्र बैठते हैं ॥ ६ ॥

स्रग्विणो भूषिताश्चापि दिव्यमाल्यानुकर्षिणः ।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥

मालायें पहने हुए, अनेक अलंकारोंसे विभूषित, अनेक दिव्य मालाओंसे स्वयंको सजाये आदित्यगण वहां जलके स्वामी वरुणकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥

उस सभामें वासुकि, तक्षक तथा ऐरावत नाग, कृष्ण, लोहित, वीर्यवान् पद्मचित्र ॥ ८ ॥

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
मणिमान्कुण्डलधरः कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ ९ ॥

कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक ये दोनों नाग, मणिमान्, कुण्डलधर, कर्कोटक, धनञ्जय ॥ ९ ॥

प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ।
पताकिनो मण्डलिनः फणवन्तश्च सर्वशः ॥ १० ॥
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ॥ ११ ॥

प्रह्लाद, मूषिकाद और जनमेजय यह सब पताकाओं, मण्डलों एवं फनोंको धारण करनेवाले नाग और दूसरे अगणित सर्प बिना थके हुए वरुणकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥१०-११॥

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः ।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

विरोचनके पुत्र बलि, पृथ्वीविजयी नरक, प्रल्हाद, विप्रचित्ति, कालखञ्ज आदि सब ॥ १२ ॥

सुहनुर्दुर्मुखः शंखः सुमनाः सुमतिः स्वनः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ॥ १३ ॥

सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, स्वन, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन तथा पिठर ॥१३॥

विश्वरूपः सुरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ॥ १४ ॥

विश्वरूप, सुरूप, विरूप और महाशिरा, दशग्रीव, वाली, मेघवासा और दशावर ॥ १४ ॥

कैटभो विटटूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसंघाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ॥ १५ ॥

कैटभ, विटटूत, संह्राद, इन्द्रतापन आदि दैत्य और दानवोंका समूह सभी उत्तम उत्तम कुण्डलोंको धारण करके ॥ १५ ॥

स्रग्विणो मौलिनः सर्वे तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ॥ १६ ॥
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशस्थिताः सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ॥ १७ ॥

माला पहनकर, किरीटसे सुशोभित दिव्य वस्त्र पहनकर तथा सभी शूरवीर वरदानको पाकर मृत्युसे रहित अर्थात् अमर होकर धर्मरूपी पाश-बंधनोंसे युक्त तथा उत्तम चरित्रों और व्रतों वाले वे सभी उस सभामें उन महात्मा वरुणदेवकी उपासना किया करते हैं ॥ १६-१७॥

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च या ।
कालिन्दी विदिशा वेण्णा नर्मदा वेगवाहिनी ॥ १८ ॥

चार समुद्र और जो भागीरथी गङ्गानदी है, वह तथा कालिन्दी, विदिशा, वेण्णा, वेगसे बहनेवाली नर्मदा ॥ १८ ॥

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदस्तथा ॥ १९ ॥

विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु तथा देवनदी ॥ १९ ॥

गोदावरी कृष्णवेण्णा कावेरी च सरिद्वरा ।
एताश्चान्याश्च सरितस्तीर्थानि च सरांसि च ॥ २० ॥

गोदावरी, कृष्णवेण्णा तथा नदियोंमें श्रेष्ठ कावेरी, ये सब और दूसरे अच्छे अच्छे तीर्थ और स्रोत ॥ २० ॥

कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ।
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत ॥ २१ ॥
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ।
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा ॥ २२ ॥

हे युधिष्ठिर ! शरीर धारण करते हुए छोटे छोटे झरने तथा हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! देह धारण करके पोखरें और तालाब, इनके अतिरिक्त पृथ्वी, सब दिशायें, सब पर्वत और सब जलचर जीव महात्मा वरुणकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥ २१–२२ ॥

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते ॥ २३ ॥

गाजे बाजेसे युक्त होकर गन्धर्व और अप्सरा गण आदि सब वरुणकी स्तुति करते हुए उस सभामें रहते हैं ॥ २३ ॥

महीधरा रत्नवन्तो रसा येषु प्रतिष्ठिताः ।
सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २४ ॥

जिन पर सभी तरहके रस स्थिर हैं, ऐसे अनेकों रत्नोंसे युक्त पर्वत आदि सब शरीर धारण करके उस सब जलोंके स्वामी वरुणकी उपासना करते रहते हैं ॥ २४ ॥

एषा मया संपतता वारुणी भरतर्षभ ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ३३३ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने घुमते हुए वरुणकी वह सुन्दर सभा देखी थी, अब कुबेरकी सभाका वर्णन करता हूं, सुनो ॥ २५ ॥

महाभारतके सभापर्वमें नौवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ ३३३ ॥

: १० :

नारद उवाच—

सभा वैश्रवणी राजञ्शतयोजनमायता ।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥

नारद बोले— महाराज ! कुबेरकी सफेदरंगसे चमकनेवाली वह सभा चौडाईमें सौ योजन और लम्बाईमें सत्तर योजन फैली हुई है ॥ १ ॥

तपसा निर्मिता राजन्स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभा खेचरीणां कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥

हे राजन् ! कैलासकी चोटीके समान उज्ज्वल तथा ग्रह और चन्द्रमाके समान प्रभावशाली वह सभा स्वयं कुबेरने तपके प्रभावसे प्राप्त की है ॥ २ ॥

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव दृश्यते ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः पादपैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

गुह्यकोंसे ढोयी जानेवाली वह सभा ऐसी प्रतीत होती है कि मानो वह आकाशसे चिपटी हुई है । वह सभा दिव्य तथा सोनेके बने हुए ऊंचे ऊंचे पेडोंसे सुशोभित है ॥ ३ ॥

रश्मिवती भास्वरा च दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ॥ ४ ॥

मनोहारी विचित्र सभा बहुविध अच्छे किरणोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त चमकसे युक्त, अत्युत्तम गंधवाली तथा मनको आनन्द देनेवाली तथा सफेद बादलोंके पहाडके आकारवाली वह सभा आकाशमें तैरती हुईसी दिखाई पडती है (अथवा सफेद वर्णवाली वह सभा जब आकाशमें चलती है तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानों सफेद बादलोंके बडे बडे पहाड ही उड रहे हों) ॥ ४ ॥

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ।
स्त्रीसहस्रावृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ॥ ५ ॥

अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले कुण्डलोंको धारण करनेवाले, चित्रविचित्र वस्त्र और अलंकारोंको धारण किए हुए तथा हजारों स्त्रियोंसे घिरे हुए शोभावान् राजा- तेजस्वी वैश्रवण कुबेर उस सभामें बैठते हैं ॥ ५ ॥

दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते ।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥

सूर्यके समान तेजवाले सुन्दर सुन्दर आसन जिसपर बिछाये गए हैं, तथा जिसके पैर भी बहुत उत्तम हैं ऐसे बहुत दिव्य पीठपर वे कुबेर बैठते हैं ॥ ६ ॥

मन्दाराणामुदाराणां वनानि सुरभीणि च।
सौगन्धिकानां चादाय गन्धान्गन्धवहः शुचिः ॥ ७ ॥
नलिन्याश्चालकाख्यायाश्चन्दनानां वनस्य च।
मनोहृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते। ॥ ८ ॥

अत्यन्त सुगन्धित मन्दारके फूल जिसमें खिले हुए हैं, ऐसे वनोंमेंसे बहकर आनेवाला पवित्र वायु सुगन्धियुक्त कमलों तथा अन्य फूलोंकी सुगन्धीको अपने साथ लेकर तथा अलका नामके फूलोंकी एवं चन्दनोंके वनकी सुगंधीसे युक्त मन और हृदयको आनन्दित करनेवाला वायु उस कुबेरकी सेवा करता है ॥ ७-८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः।
दिव्यतानेन गीतानि गान्ति दिव्यानि भारत ॥ ९ ॥

हे भारत ! अप्सराओंके समूहसे घिरे हुए देव और गन्धर्व दिव्य तानके साथ दिव्य गीतोंको गाते हैं ॥ ९ ॥

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥

मिश्रकेशी और रंभा, सुन्दर और पवित्र मुस्कराहटोंवाली चित्रसेना, सुन्दर आंखोंवाली घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥

विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ ११ ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्तगीतविशारदाः।
उपतिष्ठन्ति धनदं पाण्डवाप्सरसां गणाः ॥ १२ ॥

विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता यह सब नाचने और गानेमें कुशल सैंकडों और सहस्रों अप्सरा वृन्द, हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! उस सभामें धननाथकी उपासना करते हैं ॥ ११-१२ ॥

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्तैर्गीतैश्च सा सभा।
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ १३ ॥

गन्धर्व और अप्सराओंके समूहमें सुन्दर नृत्यों, गीतों और बाजोंसे सभा दिनरात गूंजती हुई, बडी भरी हुई एवं सुहावनी बनी रहती है ॥ १३ ॥

किंनरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथापरे।
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ॥ १४ ॥

कुछ किंनर नामके गन्धर्व और नर नामके दूसरे कुछ गन्धर्व और मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र, गुह्यक ॥ १४ ॥

कशेरको गण्डकण्डुः प्रद्योतश्च महाबलः ।
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ॥ १५ ॥

कशेरक, गण्डकण्डु, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु, पिशाच, गजकर्ण, विशालक ॥ १५ ॥

वराहकर्णः सान्द्रोष्ठः फलभक्षः फलोदकः ।
अङ्गचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ॥ १६ ॥

वराहकर्ण, सान्द्रोष्ठ, फलभक्ष, फलोदक, अङ्गचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण ॥ १६ ॥

पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ।
वृक्षवास्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ॥ १७ ॥

तथा, हे भारत ! पुष्पानन, पिंगलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवास्यनिकेत और चीरवासा ॥ १७ ॥

एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ।
सदा भगवती च श्रीस्तथैव नलकूबरः ॥ १८ ॥

ये सब तथा दूसरे भी सैंकडों और हजारों यक्ष तथा भगवती लक्ष्मी उसी प्रकार नल-कूबर भी कुबेरकी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ।
आचार्याश्चाभवंस्तत्र तथा देवर्षयोऽपरे ॥ १९ ॥

मैं और मेरे समान बहुतसे दूसरे आचार्य और दूसरे भी देवर्षि सब उस सभामें उपस्थित रहते हैं ॥ १९ ॥

भगवान्भूतसंघैश्च वृतः शतसहस्रशः ।
उमापतिः पशुपतिः शूलधृग्भगनेत्रहा ॥ २० ॥

पशुओंके स्वामी, शूलको धारण करनेवाले, भगनेत्र (अर्थात् भग ही जिसकी आंख है ऐसे) कामको नष्ट करनेवाले उमापार्वतीके पति भगवान् शंकर सैंकडों और हजारों भूतगणोंसे घिरकर कुबेरके पास रहते हैं ॥ २० ॥

त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ।
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्मनोजवैः ॥ २१ ॥
मांसमेदोवसाहारैरुग्रश्रवणदर्शनैः ।
नानाप्रहरणैर्घोरैर्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ॥ २२ ॥

हे राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी युधिष्ठिर ! तीन आंखोंवाले भगवान् शिव तथा परिश्रम या थकावटसे रहित (अर्थात् सदा उत्साहसे युक्त) देवी पार्वती अपने बौने, पर विकट, कुबडे, लाल नेत्रवाले, बहुत आवाज करनेवाले, मांस, मेद और चर्बीको खानेवाले, सुनने और दीखनेमें भयंकर, अनेक शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित, घोर और वायुके समान अत्यन्त वेगवाले भूतगणोंसे घिरकर हमेशा अपने मित्र धनपति कुबेरके समीप रहते हैं ॥ २१-२२ ॥

×

सा सभा तादृशी राजन्मया दृष्टान्तरिक्षगा।
पितामहसभां राजन्कथयिष्ये गतक्लमाम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ३५६ ॥

हे राजन्! धननाथ कुबेरकी उस आकाशमें चलनेवाले सभाको मैंने उसीके समान देखा है (अर्थात् उस सभाकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती) अब पितामह ब्रह्माकी उस सभाकी कथा कहता हूं, जिस सभामें जाते ही सब थकावट दूर हो जाती है ॥ २२ ॥

महाभारतके सभापर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ १० ॥ ३५३ ॥

: ११ :

नारद उवाच—

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान्दिवः।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ १ ॥

नारद बोले—महाराज! पहले सत्ययुगमें थकावटसे रहित होकर भगवान् आदित्य मानव लोकको देखनेकी इच्छासे स्वर्गसे मर्त्यलोकमें आए ॥ १ ॥

चरन्मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयंभुवः।
सभामकथयन्मह्यं ब्राह्मीं तत्त्वेन पाण्डव ॥ २ ॥
अप्रमेयप्रभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ।
अनिर्देश्यां प्रभावेन सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ३ ॥

हे भरतोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! स्वयंभू–ब्रह्माकी सभाको देखकर भूलोक पर मनुष्यके रूपको धारण कर घूमते हुए आदित्यने मुझसे अद्वितीय तेजवाली, दिव्य, मनकी इच्छा मात्रसे बनाई गई, प्रभावकी दृष्टिसे अवर्णनीय और सब प्राणियोंके मनको सुख देनेवाली उस ब्रह्माकी सभाके बारेमें ठीक ठीक बातें कह सुनाई ॥ २–३ ॥

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डुनन्दन।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमहमब्रुवम् ॥ ४ ॥

हे पाण्डुपुत्र राजन् युधिष्ठिर! मैंने उस सभाके गुणोंको सुन कर उसे देखनेकी इच्छासे आदित्यसे यह कहा ॥ ४ ॥

भगवन्द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभामहम्।
येन सा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ५ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत वा मायया यथा।
तन्ममाचक्ष्व भगवन्पश्येयं तां सभां कथम् ॥ ६ ॥

हे किरणोंके स्वामिन् भगवन् ! मैं पितामह ब्रह्माकी वह सभा देखना चाहता हूं, अतः जिस तप अथवा कर्म अथवा औषध, या उपाय अथवा जिस मायासे वह सभा देखी जा सके, हे भगवन् ! वह उपाय आप मुझे बताइए। मैं वह सभा किस प्रकार देखूं ? ॥ ५-६ ॥

ततः स भगवान्सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान्।
अगच्छत्तां सभां ब्राह्मीं विपापां विगतक्लमाम् ॥ ७ ॥

तब पराक्रमशाली वे भगवान् सूर्य मुझे लेकर, जहां जाने पर थकावट दूर होजाती है, पाप नष्ट हो जाते हैं, ऐसी उस ब्रह्माकी सभामें गए ॥ ७ ॥

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं जनाधिप।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ८ ॥

हे नरनाथ ! "उस सभाका स्वरूप इस प्रकारका है" यह कहना शक्तिके बाहर है, क्योंकि वह सभा पल पलमें अकथनीय भिन्न भिन्न स्वरूप धारण करती है ॥ ८ ॥

न वेद परिमाणं वा संस्थानं वापि भारत।
न च रूपं मया तादृग्दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ ९ ॥

हे भरतनन्दन ! उस सभाके माप वा जोडको कोई नहीं जानता। वास्तवमें वैसा रूप पहिले कभी मेरे देखनेमें नहीं आया ॥ ९ ॥

सुसुखा सा सभा राजन्न शीता न च घर्मदा।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १० ॥

हे राजन् ! वह सभा न बहुत ज्यादा ठण्डी है और न बहुत ज्यादा गरम ही है। (समशीतोष्ण) होनेके कारण वह हमेशा सुखदायक है। जो उस सभामें जाते हैं, उन्हें न भूख प्यास ही लगती है और न किसी प्रकार मानसिक दुःख ही कष्ट दे पाते हैं ॥ १० ॥

नानारूपैरिव कृता सुविचित्रैः सुभास्वरैः।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ॥ ११ ॥

वह सभा विचित्र विचित्र और अत्यन्त चमकीले नानारूपोंसे बनाई गई है। स्तम्भों पर उसका आधार नहीं है अर्थात् बिना खम्बोंके ही सभा भवन खडा हुआ है, कभी उसका नाश नहीं होगा, वह सदा बनी रहेगी ॥ ११ ॥

अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयंप्रभा ।
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भासयन्तीव भास्करम् ॥ १२ ॥

अपनी ही दीप्तिसे प्रकाशित वह स्वर्गकी सभा तेजमें सूर्य, चन्द्रमा और अग्निसे ऊपर होगयी है, और मानो दिननाथ सूर्यको भी प्रकाशित करती हुई वह सभा आकाशकी पीठ पर प्रकाशमान होती है ॥ १२ ॥

तस्यां स भगवानास्ते विदधद्देवमायया ।
स्वयमेकोऽनिशं राजल्लँोकाल्लँोकपितामहः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! वह सब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्मा स्वयं दैवी मायासे अकेले सब लोक रच कर उस सभामें सदा विराजमान रहते हैं ॥ १३ ॥

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपस्तथा ॥ १४ ॥
भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमश्च तथाङ्गिराः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ॥ १५ ॥

दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, तथा कश्यप, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम और अंगिरा आदि प्रजापति, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल और पृथ्वी प्रभु ब्रह्माके पास रहते हैं ॥ १४–१५ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ।
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत्कारणं भुवः ॥ १६ ॥

तथा, हे भारत ! शब्द, स्पर्श, तथा रूप, रस और गन्ध, प्रकृति तथा विकार (महत्तत्व, अहंकार, पंच तन्मात्रा आदि) तथा इस सृष्टिके दूसरे भी जो कारण हैं ॥ १६ ॥

चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ।
वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ॥ १७ ॥

नक्षत्रों सहित चन्द्रमा, किरणोंसे युक्त सूर्य, वायुवृन्द, सब यज्ञ, सङ्कल्प और प्राण ॥ १७ ॥

एते चान्ये च बहवः स्वयंभुवमुपस्थिताः ।
अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ॥ १८ ॥

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप और दम ये सब और इनके अलावा दूसरे भी स्वयंभू ब्रह्माके पास उपस्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके बीसगण और हंस, हाहा, हूहू आदि दूसरे सात प्रधान गन्धर्व, सब लोकपाल ॥ १९ ॥

शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ॥ २० ॥

शुक्र, बृहस्पति, बुध और मङ्गल उसीप्रकार शनैश्चर, राहु आदि सभी ग्रह ॥ २० ॥

मन्त्रो रथन्तरश्चैव हरिमान्वसुमानपि।
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ॥ २१ ॥

मन्त्र, रथन्तर, साम, हरिमान् और वसुमान्, राजाओंके साथ आदित्य, अग्नीषोम, इन्द्राग्नी आदि जो द्वन्द्व (जोडे) के रूपमें आते हैं ॥ २१ ॥

मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ॥ २२ ॥

उसी तरह, हे भारत ! मरुद्गण, विश्वकर्मा, अष्टवसु, सब पितृगण और सब हवियां ॥२२॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव।
अथर्ववेदश्च तथा पर्वाणि च विशां पते ॥ २३ ॥

इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः।
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च दैवतानि च सर्वशः ॥ २४ ॥

तथा, हे प्रजापालक पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सब पर्व, इतिहास, सब उपवेद और वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम, सम्पूर्ण देवता ॥ २३–२४ ॥

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा।
मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ॥ २५ ॥

सावित्री, दुर्गतरणी तथा सात प्रकारकी वाणी, मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश, क्षमा॥२५॥

सामानि स्तुतिशास्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशां पते ॥ २६ ॥

उसीप्रकार, हे प्रजापालक ! साम, स्तुति, शास्त्र तथा भांति भांतिकी गाथायें, तर्कोंसे सहित शरीरधारी भाष्य ॥ २६ ॥

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथैव च।
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ॥ २७ ॥

तथा, हे भारत ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन तथा रात्रि, अर्धमास और मास, छः ऋतु ॥ २७ ॥

संवत्सराः पञ्चयुगमहोरात्राश्चतुर्विधाः।
कालचक्रं च यद्दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ॥ २८ ॥

संवत्सर, पांच प्रकारके युग, चार प्रकारके अहोरात्र और वह नित्य अक्षय दिव्य कालचक्र वहां सदा विराजते हैं ॥ २८ ॥

---

१. चार तरहके दिनरात– (१) मनुष्योंका १२ घंटेका दिन और १२ घंटेकी रात, (२) पितरोंका शुक्लपक्षका दिन और कृष्ण पक्षकी रात, (३) देवोंका उत्तरायण दिन और दक्षिणायन रात (४) ब्रह्मदेवका एक चतुर्युगियोंका दिन और एक हजार चतुर्युगियोंकी रात।

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा।
कालका सुरभिर्देवी सरमा चाथ गौतमी ॥ २९ ॥

हे युधिष्ठिर! अदिति, दिति और दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालका, सुरभि, देवी सरमा और गौतमी ॥ २९ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ३० ॥

आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार, विश्विदेवगण, मनके समान बेगवान् पितृगण और साध्य यह भी प्रजापतिकी उपासना करते हैं ॥ ३० ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा।
सुपर्णनागपशवः पितामहमुपासते ॥ ३१ ॥

उसी तरह राक्षसगण, पिशाचगण, दानवगण तथा गुह्यकगण, सुपर्णगण, नागगण सब पशुगण पितामहकी उपासना करते हैं ॥ ३१ ॥

देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये।
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा ॥ ३२ ॥

देव नारायण तथा जो देवर्षि हैं, वालखिल्य ऋषि और विनयोनिसे उपजे और योनिसे उपजे सब जीव उस सभामें रहते हैं ॥ ३२ ॥

यच्च किंचित्त्रिलोकेऽस्मिन्दृश्यते स्थाणुजङ्गमम्।
सर्वं तस्यां मया दृष्टं तद्विद्धि मनुजाधिप ॥ ३३ ॥

हे नरनाथ! इस त्रिलोक भरमें स्थावर वा जङ्गम जितने पदार्थ दीख पडते हैं, उन सबोंको मैंने वहां देखा है ऐसा तुम समझो ॥ ३३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ३४ ॥

हे पाण्डव! उस सभामें अठासी हजार ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास हजार सन्तानवाले ऋषि मेरे देखनेमें आये ॥ ३४ ॥

ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः।
प्रणम्य शिरसा तस्मै प्रतियान्ति यथागतम् ॥ ३५ ॥

सब स्वर्गवासी लोग स्वेच्छासे ब्रह्माका दर्शन करके उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामादि करते अपने अपने स्थानोंको लौटते हैं ॥ ३५ ॥

अतिथीनागतान्देवान्दैत्यान्नागान्मुनींस्तथा ।
यक्षान्सुपर्णान्कालेयान्गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३६ ॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान्सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ३७ ॥

हे नरनाथ ! सर्व भूतोंपर दयावान्, अत्यन्त बुद्धिमान्, सब लोकोंके पितामह ब्रह्मा उस सभामें आये महाभाग्यशाली अतिथियों, देवताओं, दैत्यों, नागों, मुनियों, यक्षों, कालेयों, गन्धर्वों और अप्सराओंका यथोचित सत्कार करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयंभूरमितप्रभः ।
सान्त्वमानार्थसंभोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ३८ ॥

हे मनुष्योंके राजा युधिष्ठिर ! समस्त विश्वकी आत्मा, स्वयंभू, अत्यन्त सामर्थ्यशाली ब्रह्मा उन सबका सम्मान करके उन्हें शान्ति प्रदान करते हुए अनेक उपभोगके योग्य पदार्थोंसे उन्हें संयुक्त करते हैं ॥ ३८ ॥

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियातैश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ॥ ३९ ॥

हे भारत ! हे तात ! वह सभा उन आने और जानेवाले लोगोंसे सदा भरी रहनेके कारण बहुत सुखको देनेवाली है ॥ ३९ ॥

सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ४० ॥

ब्रह्मर्षि जिसमें रहते हैं, ऐसी सब तेजोंसे युक्त, थकावटको दूर करनेवाली वह दिव्य सभा ब्रह्माके निज तेजसे प्रकाशित होती हुई परम शोभासे सम्पन्न है ॥ ४० ॥

सा सभा तादृशी दृष्टा सर्वलोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ४१ ॥

हे राजशार्दूल ! तुम्हारी यह सभा जिस प्रकार मनुष्य लोकमें दुर्लभ है, उसीप्रकार सब लोकोंमें दुर्लभ उस ब्रह्मसभाको मैंने वैसी ही देखा है अर्थात् उस सभाकी उपमा कोई नहीं है ॥ ४१ ॥

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु पाण्डव ।
तवेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा सभा ॥ ४२ ॥

हे पाण्डव ! देवलोकमें पहिले यह सब सभायें मुझसे देखी गयीं, अब मनुष्यलोकमें तुम्हारी यह सभा सबसे बढिया जान पडती है ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि वै प्रभो ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे कथा कहनेवालोंमें श्रेष्ठ देवर्षे ! आपने मुझसे जैसा कहा, उससे वैवस्वत यमकी सभामें प्रायः सब राजाओंके नाम तुमने कहे ॥ ४३ ॥

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो।
दैत्येन्द्राश्चैव भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ॥ ४४ ॥

हे विभो ! वरुणकी सभामें तुमने अगणित नाग, दैत्यवर, नदी और सागरोंके नाम लिये हैं ॥ ४४ ॥

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ४५ ॥

और धनेश कुबेरकी सभामें तुमने गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व और अप्सरा तथा भगवान् वृषभवाहन महादेवके नाम तुमने कहे हैं ॥ ४५ ॥

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः।
सर्वदेवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥ ४६ ॥

पितामह ब्रह्माकी सभामें महर्षि, समस्त देव और शास्त्रादिके रहनेका वर्णन तुमने किया है ॥ ४६ ॥

शतक्रतुसभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ४७ ॥

और हे मुने ! इन्द्रकी सभामें देवगण, बहुविध महर्षि और एक एकके नाम सहित सब गन्धर्व कहे हैं ॥ ४७ ॥

एक एव तु राजर्षिर्हरिचन्द्रो महामुने।
कथितस्ते सभानित्यो देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥

पर, हे महामुने ! महात्मा इन्द्रकी सभामें आपने राजाओंमें केवल राजर्षि हरिचन्द्रकी ही बात कही है ॥ ४८ ॥

किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रतम्।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्धते स्म महायशाः ॥ ४९ ॥

अतः, हे मुने ! महायशस्वी राजा हरिश्चन्द्रने ऐसी कौनसी भारी तपस्या अथवा ऐसे कौनसे व्रतका आचरण किया था वा ऐसा क्या बडा कर्म किया था कि जिसके कारण यह इन्द्रके साथ स्पर्धा किया करते हैं ? ॥ ४९ ॥

पितृलोकगतश्चापि त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं चासि समागतः ॥ ५० ॥
किमुक्तवांश्च भगवन्नेतदिच्छामि वंदितुम् ।
त्वत्तः श्रोतुमहं सर्वं परं कौतूहलं हि मे ॥ ५१ ॥

हे विप्रवर ! त्रिलोकमें स्थित बडे भाग्यवान् मेरे पिता पाण्डुके साथ आपकी किस प्रकार भेंट हुई ? और उन्होंने आपसे क्या कहा ? हे भगवन् ! आपसे यह सब कथा सुननेकी मेरी इच्छा है, इसलिये आप कृपा कर वह सब मुझको कह सुनावें ॥ ५०-५१ ॥

नारद उवाच—

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि महात्म्यं तस्य धीमतः ॥ ५२ ॥

नारद बोले— हे महाराज ! तुमने धीमान् हरिश्चन्द्रके महात्म्यके विषयमें जो कुछ पूछा, मैं तुमसे वह सम्पूर्ण कहता हूं ॥ ५२ ॥

स राजा बलवानासीत्सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् ।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ॥ ५३ ॥

वह बलवान् राजा सब राजाओंके सम्राट् थे । उनके शासनमें सब ही भूपाल शिर झुकाकर खडे रहते थे ॥ ५३ ॥

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम् ।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त नरेश्वर ॥ ५४ ॥

हे लोकनाथ ! उन्होंने जय प्राप्त करानेवाले एक सोनेके रथपर चढकर शस्त्रके प्रतापसे सात द्वीप जीत लिये थे ॥ ५४ ॥

स विजित्य महीं सर्वां सशैलवनकाननाम् ।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ ५५ ॥

महाराज ! उन्होंने पहाड, वन और कानन सहित सम्पूर्ण धरतीमण्डलको जीत कर राजसूय नामक महायज्ञ किया था ॥ ५५ ॥

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया ।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन्यज्ञे च तेऽभवन् ॥ ५६ ॥

सब राजा उनकी आज्ञासे धनादि बटोरकर लाए और वे उस यज्ञमें ब्राह्मणोंको धन बांटनेके कार्यमें नियुक्त हुए ॥ ५६ ॥

×

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याजकानां नरेश्वरः।
यथोक्तं तत्र तैस्तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥ ५७ ॥

उस यज्ञकालमें याजकोंने जो कुछ मांगा था, नरनाथ हरिश्चन्द्रने प्रीतिपूर्वक उनको उससे पांच गुना अधिक धन दान दिया ॥ ५७ ॥

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तथा।
प्रासर्पकाले संप्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ ५८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम्।
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ॥ ५९ ॥

और पूर्ण आहुतिका समय आने पर उन्होंने नानादिशाओं तथा देशोंसे आये हुए ब्राह्मणोंको उनकी इच्छानुसार भांति भांतिके भक्ष्य भोज्य और बहुविध धनसे प्रसन्न किया। ब्राह्मण लोग भी रत्न आदियोंके ढेरोंसे तर्पित और सन्तुष्ट होके सर्वत्र यह कहते फिरे कि राजा हरिश्चन्द्र सब भूपोंसे तेजस्वी ओर यशस्वी हैं ॥ ५८–५९ ॥

एतस्मात्कारणात्पार्थ हरिश्चन्द्रो विराजते।
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ ६० ॥

हे पार्थ! इसी कारण हरिश्चन्द्र उन हजारों राजाओंकी अपेक्षा ऊंचे पद पर विराजते हैं ऐसा तुम समझो ॥ ६० ॥

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान्।
अभिषिक्तः स शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ॥ ६१ ॥
ये चान्येऽपि महीपाला राजसूयं महाक्रतुम्।
यजन्ते ते महेन्द्रेण मोदन्ते सह भारत ॥ ६२ ॥

उन प्रतापी नरेशने उस महायज्ञको समाप्त कर साम्राज्यमें अभिषिक्त होकर बडी शोभा प्राप्त की थी। हे भरतनन्दन! दूसरे भी जो राजा महायज्ञ राजसूय करते हैं, वे इन्द्रके साथ आनन्द लूटते हैं ॥ ६१–६२ ॥

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः।
ते तत्सदः समासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ ६३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो लोग युद्धमें पीठ न दिखाकर वहीं मर जाते हैं, वे भी इन्द्रके सभासद् बनकर वहां आनन्द पाते हैं ॥ ६३ ॥

तपसा ते च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
तेऽपि तत्स्थानमासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः ॥ ६४ ॥

और जो लोग कठोर तप करके इस संसारमें देह छोडते हैं, वे भी इन्द्रधाममें जाकर अनन्त सम्पत्ति पाकर बहुत कालतक विराजते हैं ॥ ६४ ॥

पिता च त्वाह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ ६५ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! तुम्हारे पिता कौरवनन्दन पाण्डुने भी राजा हरिश्चन्द्रका सौभाग्य देख कर अचरज मानकर तुमसे कुछ कहा है ॥ ६५ ॥

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते वशे स्थिताः ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ ६६ ॥

तुम्हारे सब भाई तुम्हारे वशमें हैं, इसलिए तुम सम्पूर्ण धरती जीतनेमें समर्थ हो, इसलिए तुम यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूय करो ॥ ६६ ॥

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।
गन्तारस्ते महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ॥ ६७ ॥

इसलिए, हे पुरुषवर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! तुम अपने पिता पाण्डुके संकल्पको पूरा करो । उस महायज्ञके करनेसे तुम भी पूर्वजोंके साथ इन्द्रकी सभामें जा सकोगे ॥ ६७ ॥

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यत्र हि वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ॥ ६८ ॥

हे महाराज ! ऐसा कहा है कि उस महायज्ञके प्रारंभ करनेमें बडी बाधायें आ पडती हैं, यज्ञका नाश करनेवाले ब्रह्मराक्षस सदा उसका दोष ढूंढते रहते हैं ॥ ६८ ॥

युद्धं च पृष्ठगमनं पृथिवीक्षयकारकम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ६९ ॥

उस यज्ञके कारण पृथिवीको नष्ट कर देनेवाले अनेक महायुद्ध भी हो जाते हैं, वास्तवमें उसमें थोडासा दोष आ पडनेसे सर्वनाश आपहुंचता है ॥ ६९ ॥

एतत्संचिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षमं तत्समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
भव एधस्व मोदस्व दानैस्तर्पय च द्विजान् ॥ ७० ॥

अतएव, हे राजेश ! यह सब विषय सोच विचारके जो योग्य जान पडे, वही करो ! ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी रक्षाके लिए सदा सावधान होकर उद्यत रहो । तुम बढो, वृद्धिको प्राप्त होते रहो, अनन्त काल आनन्द करो और ब्राह्मणोंको दान देकर उन्हें तृप्त करते रहो ॥ ७० ॥

एतत्ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ७१ ॥

हे नरनाथ! तुमने जो कुछ पूछा वह विस्तार पूर्वक कह सुनाया। अब मुझे अनुमति दो, मैं अब कृष्णकी नगरी द्वारिकाको जाऊंगा ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ७२ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय! नारद पृथाकुमारोंसे यह कहकर उनके साथ जो ऋषि आए थे, उनसे घिर कर चले गए ॥ ७२ ॥

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरव।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास भारत ॥ ७३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ समाप्तं सभापर्व ॥ ४२९ ॥

नारदके चले जानेपर भरत एवं कुरुवंशमें उत्पन्न पृथा पुत्र युधिष्ठिर भाइयोंके साथ यज्ञश्रेष्ठ राजसूय यज्ञके बारेमें सलाह मशविरा करने लगे ॥ ७३ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ सभापर्व समाप्त ॥ २२६ ॥

: १२ :

वैशम्पायन उवाच—

ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः।
चिन्तयन्राजसूयाप्तिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे भरतनन्दन! नारदकी वह बात सुनकर राजा युधिष्ठिरने लम्बी सांस ली। राजसूय यज्ञकी चिन्ता करते हुए उनको और किसी चीजमें सुख न रहा ॥ १ ॥

राजर्षीणां हि तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम्।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥

महात्मा राजर्षियोंकी उस महिमाको देखकर तथा यज्ञशीलोंके पुण्य कर्मके अनुष्ठानसे अच्छे लोककी प्राप्ति पर विचार करके यज्ञ किए हुए राजा हरिश्चन्द्रकी प्रज्ज्वलित प्रतिमाके बारेमें विचारकरके उन्होंने महायज्ञ राजसूयको करना चाहा ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥

इसके बाद सब सभासदोंका सत्कार करके और उन सबसे सत्कृत होकर राजा युधिष्ठिर यज्ञहीके लिये परामर्श करने लगे ॥ ४ ॥

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभः क्रतुम् ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य सोऽसकृत् ॥ ५ ॥

हे राजेद्र ! कुरुओंमें ऋषभके समान श्रेष्ठ युधिष्ठिरने राजसूययज्ञको करनेका मन ही मन संकल्प किया ॥ ५ ॥

भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुपालयन् ।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६ ॥

अद्भुत तेज और वीर्यसे सम्पन्न युधिष्ठिर धर्मका पालन करते हुए मनमें सोचने लगे, कि प्रजाका मङ्गल कैसे हो ॥ ६ ॥

अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मविदां वरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

सभी धर्म जाननेवालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर प्रजाओं पर कृपा दिखाते हुए बिना किसी भेदभावके सबका मङ्गल करने लगे ॥ ७ ॥

एवं गते ततस्तस्मिन्पितरीवाश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ॥ ८ ॥

इस प्रकार पुण्य कर्मोंके करनेसे प्रजा उन्हें अपने पिताकी भांति मानकर उन पर विश्वास करने लगी । कोई भी उनसे द्वेष करनेवाला नहीं रहा; इसीसे उनका नाम अजातशत्रु पड गया ॥ ८ ॥

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ ९ ॥

बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयों और मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे बारबार राजसूय यज्ञके बारेमें पूछा ॥ ९ ॥

ते पृच्छयमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिगणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ १० ॥

तब वे एकत्रित मन्त्रीवृन्द उनके वचनका अर्थ समझ बूझकर अति बुद्धिमान् और यज्ञ-करनेकी अभिलाषावाले युधिष्ठिरसे यह अर्थभरे वचन बोले ॥ १० ॥

येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति।
तेन राजापि सन्कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥ ११ ॥

हे युधिष्ठिर! जिस यज्ञमें अभिषिक्त होनेसे नरेशोंको वरुणके गुण अर्थात् सर्वाधिकारता, शीतलता, तृप्ति, साधनादिकी प्राप्ति होती है, स्वभावहीसे प्रजारञ्जक होने पर भी वे लोग सम्राट्के योग्य उन सब प्रसिद्ध गुणोंको प्राप्त करना चाहते ही हैं ॥ ११ ॥

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ १२ ॥

हे कुरुनन्दन! आप भी उन गुणोंको प्राप्त करनेके योग्य पात्र हैं, अतः आपके मित्रवर्ग इस कालको राजसूयके लिये प्रशस्त समझ रहे हैं! ॥ १२ ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसंपदा।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते संशितव्रतैः ॥ १३ ॥

संसितव्रतवाले ऋषिगण जिसमें अग्नि धरनेके लिये सामवेदके मन्त्रोंको पढकर छः स्थण्डिल रचते हैं, क्षत्रियसम्पद अर्थात् भुज-बलादिसे उस यज्ञके करनेका काल आपके अधीन हुआ है ॥ १३ ॥

दर्विहोमानुपादाय सर्वान्यः प्राप्नुते क्रतून्।
अभिषेकं च यज्ञान्ते सर्वजित्तेन चोच्यते ॥ १४ ॥

राजसूययज्ञ हो जाने पर अभिषिक्त होकर राजा दर्विहोमादि सब यज्ञका फल पाते हैं, इसलिये वह सर्वजित् कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम्।
अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु ॥ १५ ॥

हे महाभुज, महाराज! आप समर्थ हैं, हम सब आपके वशमें हैं अतः इस विषयमें अधिक विचारका प्रयोजन नहीं; बिना विचारे उस महायज्ञके करनेमें ध्यान दें ॥ १५ ॥

इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक्च सह चाब्रुवन्।
स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशां पते।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ॥ १६ ॥

इस प्रकार सब मित्रोंने अलग अलग और एकत्रित होके कहा। हे महाराज! शत्रुनाशी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने उनका वह धर्मयुक्त प्रगल्भ अभीष्ट और वरिष्ठ वचन सुनकर मन ही मनमें उसको मान लिया ॥ १६ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ १७ ॥
स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रिभिः ॥ १८ ॥

हे भरतवंशी ! मित्रोंकी वह बात सुनकर और अपने सामर्थ्यको जानकर राजसूय यज्ञके विषयमें उन्होंने बार बार बिचार किया। बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने भ्रातृगण, महात्मा ऋत्विक्गण, धौम्य पुरोहित और व्यासादि ऋषिगण तथा मंत्रियोंके साथ बार बार बिचार विमर्श किया ॥ १७-१८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतः स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—आप लोगों पर श्रद्धा रखकर बोलनेवाले मेरी सम्राटोंके लिये योग्य यज्ञ राजसूयके बारेमें यह जो अभिलाषा उत्पन्न हुई है, वह पूरी कैसे होगी ? ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले—हे कमलनयन ! वे युधिष्ठिरसे इस प्रकार पूछे जानेपर धर्मात्मा युधिष्ठिरसे समयके अनुसार यह वचन बोले—धर्मज्ञ महाराज ! आप राजसूय यज्ञके योग्य पात्र हैं, इसलिए सहजहीमें उसे कर लेंगे ॥ २० ॥

अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ।
मन्त्रिणो भ्रातरश्चास्य तद्वचः प्रत्यपूजयन् ॥ २१ ॥

ऋत्विक् और ऋषियोंके राजासे यह कहने पर उनके मन्त्री और भाइयोंने उस बातका बडा आदर किया ॥ २१ ॥

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनात्मवान् ।
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ॥ २२ ॥

बडे बुद्धिमान् जितात्मा पृथानन्दन युधिष्ठिर अपने सामर्थ्यकी आलोचना कर लोगोंकी हितेच्छासे बारंबार मनही मनमें उस विषय पर विचार करने लगे ॥ २२ ॥

सामर्थ्ययोगं संप्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ।
विमृश्य सम्यक्च धिया कुर्वन्प्राज्ञो न सीदति ॥ २३ ॥

वास्तवमें सामर्थ्य, योग, देश, काल, आय और व्यय इन सब पर भली प्रकार बुद्धिसे विचार कर कार्य करनेहीके कारण बुद्धिमान् जन दुःखी नहीं होते ॥ २३ ॥

न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविपत्तये।
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ॥ २४ ॥

यह विचारकर, कि "केवल अपनी ही विपत्तिके लिये यज्ञका आरम्भ करना उचित नहीं है" युधिष्ठिरने यत्नसे कार्यका भार अपने ऊपर उठाया ॥ २४ ॥

स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम्।
सर्वलोकात्परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ॥ २५ ॥

फिर कार्यका निश्चय करनेके लिये जनार्दन श्रीकृष्णहीको सब लोकोंमें श्रेष्ठ जानकर उनका मन ही मन ध्यान किया ॥ २५ ॥

अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु।
पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसंमितैः ॥ २६ ॥

उन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने अपने देव सदृश कर्मोंके कारण अद्वितीय, महाबाहु, अजन्मा होते हुए भी मनुष्योंमें अपनी इच्छासे उत्पन्न होनेवाले कृष्णको याद किया ॥ २६ ॥

नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम्।
न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ॥ २७ ॥

उनके कार्यको देख कर युधिष्ठिरने यह तर्क किया, कि कोई भी वस्तु उनकी अनजानी नहीं है, उनके कर्मसे न सिद्ध होनेवाला कोई कार्य ही नहीं है और उनके लिए अप्राप्य कोई विषय भी नहीं है ॥ २७ ॥

स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः।
गुरुवद्भूतगुरवे प्राहिणोद्दूतमञ्जसा ॥ २८ ॥

पृथापुत्र युधिष्ठिरने इस प्रकार निश्चय बुद्धि करके गुरुजनोंके योग्य अशीस समाचारके साथ लोकोंके गुरु श्रीकृष्णके पास तुरन्त एक दूत भेजा ॥ २८ ॥

शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान्।
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ॥ २९ ॥

वह दूत वेगसे चलनेवाले रथ पर चढकरके यादवकुलमें पहुंचकर द्वारकामें द्वारकावासी श्रीकृष्णसे जाकर मिला ॥ २९ ॥

दर्शनाकाङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ।
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थं ययौ तदा ॥ ३० ॥

तब श्रीमहाराज कृष्णचन्द्र देखनेकी इच्छावाले युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे उस इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थको पधारे ॥ ३० ॥

व्यतीत्य विविधान्देशांस्त्वराबान्क्षिप्रवाहनः ।
इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥

जनार्दन द्रुतगामी रथ पर चढकर बहुविध देशोंको पीछे छोडकर इन्द्रप्रस्थमें स्थित युधिष्ठिरके निकट आ पहुंचे । ॥ ३१ ॥

स गृहे भ्रातृवद्भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत्स्वसारं प्रीतिमान्पितुः ॥ ३२ ॥

गृहमें उपस्थित होने पर उन्होंने फूफीके पुत्र धर्मराज और भीमसे भाईके समान समादर पाकर प्रसन्न मनसे फूफीसे भेंट की ॥ ३२ ॥

प्रीतः प्रीयेण सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत्पर्युपस्थितः ॥ ३३ ॥

इसके बाद नकुल और सहदेवसे गुरुकी भांति पूजे जाकर प्रसन्नतासे प्रमुदित मित्र अर्जुनसे प्रसन्नमन होकर आनन्द करने लगे ॥ ३३ ॥

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्यमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्य ज्ञापयत्स्वं प्रयोजनम् ॥ ३४ ॥

अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर उत्तम स्थानमें थकावट मिटानेके बाद स्वस्थ अच्युत कृष्णके पास जाकर अपना प्रयोजन बताकर बोले ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत्ते ह विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे कृष्ण ! मैंने राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छा की है, पर केवल इच्छा करनेसे ही वह विषय पूरा नहीं हो जाता, जिस उपायसे वह पूरा हो सकता है, वह तुम भलीभांति जानते हो ॥ ३५ ॥

यस्मिन्सर्वं संभवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ३६ ॥

जिससे सब सम्भव हो सकता है, जो सर्वत्र पूजा जाता है, जो सब भूमण्डलका ईश्वर है, वही राजसूय यज्ञ कर सकता है ॥ ३६ ॥

×

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ३७ ॥

मेरे मित्रवर्गने एकत्र होकर मुझसे यह महायज्ञ करनेको कहा है, पर, हे कृष्ण! उसके करने या न करनेके विषयमें तुम्हारी बात ही प्रमाण है ॥ ३७ ॥

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते।
अर्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ३८ ॥
प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम्।
एवंप्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ३९ ॥

क्योंकि कोई कोई तो मित्रताके कारण किसी कार्यका दोष कह नहीं सकते और कोई कोई स्वार्थवश केवल प्रभुका प्रिय विषय ही कहा करते हैं, और कोई कोई तो अपने लिए जो हितकारक है, उसे ही प्रिय मान लेते हैं, इस प्रकार कार्य पूरा करनेके विषयमें लोकोंमें ऐसी ही बातें प्रायः दीख पडती हैं ॥ ३८–३९ ॥

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान्कामक्रोधौ व्यतीत्य च।
परमं नः क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ ४६९॥

हे कृष्ण! तुम काम क्रोधके वशमें नहीं हो, इसलिए उस प्रकारके स्वार्थादि दोषके भी वशमें नहीं हो; अतएव लोकमें जो हमारे लिए अच्छा हितकारी है वही सच सच कहो ॥ ४० ॥

महाभारतके सभापर्वमें बारहवां अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ ४६९ ॥

: १३ :

श्रीकृष्ण उवाच—

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद्वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र बोले– हे महाराज! आप सब गुणोंमें श्रेष्ठ हैं, इसलिए सब प्रकारसे आपको राजसूय यज्ञ करनेका अधिकार है। यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, तो भी मै आपसे कुछ कहना चाहता हूं ॥ १ ॥

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम्।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २ ॥

जामदग्न्य परशुरामने जिस क्षत्रियकुलका नाश किया था, उनकी अपेक्षा वे, जो आज क्षत्रियके नामसे पुकारे जाते हैं, निकृष्ट हैं ॥ २ ॥

कुतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप ।
निदेशवाग्भिस्तत्ते ह विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ पृथ्वीनाथ ! दूसरोंकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले परतंत्र उन सब क्षत्रियोंने मिलकर कुलके बारेमें जो कुछ भी संकल्प किया था वह आप जानते ही हैं ॥ ३ ॥

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च ततोऽन्ये क्षत्रिया भुवि ॥ ४ ॥

अनेक राजा और पृथ्वी पर दूसरे क्षत्रियगण अपनेको ऐल और इक्ष्वाकु वंशकी सन्तान बताते हैं ॥ ४ ॥

ऐलवंश्यास्तु ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥

हे भरतनन्दन राजन् ! ऐल और इक्ष्वाकुवंशके जो राजा हैं, उनके सौ कुल हैं ऐसा तुम समझो ॥ ५ ॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरोऽतिगुणो महान् ।
भजते च महाराज विस्तरः स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥

ययाति और भोजके वंश अति गुणवान् और बहुत विस्तृत हैं और अब, हे महाराज ! वह विस्तार चारों दिशाओंमें फैल गया है ॥ ६ ॥

तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ।
सोऽवनीं मध्यमां भुक्त्वा मिथोभेदेष्वमन्यत ॥ ७ ॥

सब क्षत्रिय उन राजाओंकी सौभाग्य लक्ष्मीकी पूजा करते हैं; (उनमें जरासंध नामका एक राजा) पृथ्वीके मध्यम भागका उपभोग करता हुआ वह आपसमें अर्थात् हमसे शत्रुता करता है ॥ ७ ॥

चतुर्युस्त्वपरो राजा यस्मिन्नेकशतोऽभवत् ।
स साम्राज्यं जरासंधः प्राप्तो भवति योनितः ॥ ८ ॥

चतुर्यु नामसे अक दूसरा राजा था, जिसके वंशमें एक सौ राजा हुए, उनमें जरासंध भी एक था, जिसने जन्मसे ही साम्राज्य प्राप्त किया ॥ ८ ॥

तं स राजा महाप्राज्ञ संश्रित्य किल सर्वशः
राजन्सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

हे महाप्राज्ञ राजन् ! प्रतापी शिशुपालने सब प्रकारसे उस जरासन्धका सहारा लेकर उसके सेनापतिका पद प्राप्त कर लिया है ॥ ९ ॥

तमेव च महाराज शिष्यवत्समुपस्थितः ।
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ॥ १० ॥

हे महाराज ! महापराक्रमी, मायासे युद्ध करनेवाले करूषराज वक्र, जरासन्धके निकट शिष्यकी भांति उपस्थित रहता है ॥ १० ॥

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ।
जरासन्धं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ॥ ११ ॥

इसीप्रकार दूसरे अति वीर्यवान् हंस और डिम्भक नामके दोनों महात्माओंने अतिबली जरासन्धकी शरण ली थी ॥ ११ ॥

दन्तवक्रः करूषश्च कलभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यं मणिं बिभ्रद्यं तं भूतमणिं विदुः ॥ १२ ॥

दन्तवक्र, करूष, कलभ, और लोकोंमें जो भूतमणिके नामसे प्रसिद्ध है, उस दिव्यमणिको सिर पर रखनेवाला मेघवाहन भी उसके वशमें होगया है ॥ १२ ॥

मुरं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपौ ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १३ ॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा चैव भारत ॥ १४ ॥

मुर और नरकका शासन करते हुए जो पश्चिम देशमें वरुणके समान अधिकार फैलाये हुए हैं, वे दोनों अतिबलवान् यवनराज तथा, हे महाराज ! आपके पिताके मित्र और वृद्ध राजा भगदत्त वचन और कर्म द्वारा जरासंधके आगे सिर नवाते हैं ॥ १३–१४ ॥

स्नेहबद्धस्तु पितृवन्मनसा भक्तिमांस्त्वयि ।
प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः पाति यो नृपः ॥ १५ ॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित्कुन्तिवर्धनः ।
स ते संनतिमानेकः स्नेहतः शत्रुतापनः ॥ १६ ॥

पर मन ही मनसे आपकी ओर भी पिताके समान भक्ति रखते हुए स्नेहयुक्त हैं । हे पुरुषवर ! जो पश्चिम और दक्षिण और पृथ्वीके अन्तके प्रान्तोंके राजा हैं, वह कुन्तीवंशके बढानेवाले शूर शत्रुनाशी आपके मामा पुरुजित् अकेले ही स्नेहवश आपकी ओर हैं ॥ १५–१६ ॥

जरासंधं गतस्त्वेवं पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १७ ॥

हे पुरुषवर ! जो दुष्टमतिवाला चेदिदेशमें पुरुषोत्तमके नामसे प्रख्यात है, उसे मैंने पहले मारा नहीं, अब वह जरासंधकी शरणमें जा पहुंचा है ॥ १७ ॥

आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिह्नं च मामकम् ॥ १८ ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥

वह इस लोकमें अपनेको पुरुषोत्तम मानता है, मोहसे शंख चक्रादि मेरे चिन्होंको सदा धारण किए रहता है, और लोकोंमें पौण्ड्रक वासुदेवके नामसे बडा प्रसिद्ध हुआ है, वह बलवान् वङ्ग, पुण्ड्र और किरातराज्योंका राजा है ॥ १८-१९ ॥

चतुर्युः स महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद्यो व्यजयत्पाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २० ॥
भ्राता यस्याहृतिः शूरो जामदग्न्यसमो युधि ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २१ ॥

महाराज ! जो बलवान् और इन्द्रके सखा हैं, जिन्होंने विद्याबलसे पाण्डय और क्रथ कौशिकोंको जीत लिया है वे भोजोंके राजा चतुर्युः और जिनके भाई आहृति युद्धमें परशुरामके समान वीर थे, वह शत्रुनाशी बलवान् भोज देशका अधिपति भीष्मक भी जरासन्धके वशमें आगये हैं ॥ २०-२१ ॥

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान्सदा संबन्धिनः सतः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

हम उनके कुटुम्बी हैं, अतः प्रिय तथा आज्ञाधीन रहके सदा उनका प्रिय कार्य करते हैं, उस पर भी वह हमारे प्रेमी न बने रहकर अप्रिय कार्यमें दत्तचित्त रहते हैं ॥ २२ ॥

न कुलं न बलं राजन्नभिजानंस्तथात्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासंधमुपाश्रितः ॥ २३ ॥

हे महाराज ! वह अपने बल और कुलकी मर्यादा न जानकर जरासन्धके प्रज्ज्वलित यशको देखकर उसके वशमें होगया ॥ २३ ॥

उदीच्यभोजाश्च तथा कुलान्यष्टादशाभिभो ।
जरासंधभयादेव प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ २४ ॥

हे प्रभो ! उत्तर दिशाके भोजोंके अठारह कुल जरासन्धके भयसे ही पश्चिम दिशाको भाग गये हैं ॥ २४ ॥

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थराश्च सुकुट्टाश्च कुणिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥ २५ ॥

तथा शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थर, सुकुट्ट, कुन्ती, कुणिन्द और सहचर ॥ २५ ॥

शाल्वेयानां च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पाञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः । ॥ २६ ॥

तथा सहोदरोंके साथ शाल्वेयन राजगण दक्षिण पञ्चाल और पूर्व कोशलके कुन्ती देशके राजाओंने पश्चिमकी शरण ली है ॥ २६ ॥

तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २७ ॥

मत्स्य और संन्यस्तपाद राजगण उसके भयसे पीडित होकर उत्तर दिशाको छोडकर दक्षिण दिशाको भाग गये हैं ॥ २७ ॥

तथैव सर्वपाञ्चाला जरासंधभयार्दिताः ।
स्वराष्ट्रं संपरित्यज्य विद्रुताः सर्वतोदिशम् ॥ २८ ॥

उसीप्रकार सब पाञ्चाल जरासंधके भयसे भीत होकर अपने राष्ट्रको छोड कर सब ओर भाग गए हैं ॥ २८ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य बान्धवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद्वृथामतिः ॥ २९ ॥
अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स ज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३० ॥

कुछ समयके बाद दुष्ट बुद्धिवाले कंसने अपने उस बलसे अपनी जातिके मनुष्यों एवं अन्य सम्बन्धियोंको हराकर एवं उन्हें सताकर बृहद्रथके पुत्र जरासंधपुत्र सहदेवकी बहिन अस्ति और प्राप्ति नामकी दो कन्याओंसे विवाह किया ॥ २९-३० ॥

श्रैष्ठयं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान् ।
भोजराजन्यवृद्धैस्तु पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३१ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्संभावना कृता ।
दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कंसकी उन्नति होनेपर वह बडा आपत्ति देनेवाला सिद्ध हुआ, तब उस दुरात्माके द्वारा सताये जानेपर भोजवंश वृद्ध राजाओंने अपने जातिकी रक्षा करनेकी इच्छासे हमसे संधि कर ली, उस समय मैंने अक्रूरसे आहुककन्या सुतनुका विवाह करवाकर ॥ ३१-३२ ॥

संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३३ ॥

बलदेव और संकर्षणसे मिलकर प्रसिद्ध कंस और सुनामाको मारा और इसप्रकार हमने एक प्रकार ज्ञाति उद्धारका कार्य किया ॥ ३३ ॥

भये तु समुपक्रान्ते जरासंधे समुद्यते।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन्कुलैरष्टादशावरैः ॥ ३४ ॥

हे महाराज! इस आये हुए भयके दूर होने पर जब जरासन्ध युद्धके लिए उपस्थित हुआ, तब हमने अठारह कनिष्ठ राजवंशोंसे परामर्श करके यह निश्चय किया ॥ ३४ ॥

अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शतघातिभिः।
न हन्याम वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३५ ॥

कि हम शत्रुओंका नाश करनेवाले बडे बडे अस्त्रोंसे तीन सौ वर्ष तक बिना रुके लडें तो भी उसके बलको नष्ट नहीं कर सकेंगे ॥ ३५ ॥

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ।
नामभ्यां हंसडिभकावित्यास्तां योधसत्तमौ ॥ ३६ ॥

क्योंकि उसकी सेनामें देवोंके समान पराक्रमी, बलशालियोंमें श्रेष्ठ, युद्ध करनेमें श्रेष्ठ हंस और डिभक नामके दो वीर हैं ॥ ३६ ॥

तावुभौ सहितौ वीरौ जरासंधश्च वीर्यवान्
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३७ ॥

वे दोनों वीर और वीर्यवान् जरासन्ध ये तीनों मिलकर तीनों लोकोंको भी जीतनेमें पर्याप्त हैं ऐसा मेरा विचार था ॥ ३७ ॥

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ३८ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ! यह मत केवल हमारा ही नहीं, वरन् जो दूसरे राजा हैं, उनका भी ऐसा ही विचार था ॥ ३८ ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान्नृपः।
स चान्यैः सहितो राजन्संग्रामेऽष्टादशावरैः ॥ ३९ ॥

हंस नामसे प्रख्यात कोई एक बडा राजा था। उसकी दूसरे अठारह अवरोंके साथ लडाई हुई ॥ ३९ ॥

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत।
तच्छ्रुत्वा डिभको राजन्यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४० ॥

हे भरतनन्दन! तब किसीने डिभकसे कह दिया कि युद्धमें हंस मार दिया गया है। डिभक यह सुनकर यमुनाके जलमें डूबकर मर गया ॥ ४० ॥

विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाहं जीवितुमुत्सहे।
इत्येतां मतिमास्थाय डिभको निधनं गतः ॥ ४१ ॥

"विना हंसके मैं इस संसारमें जीवित रहना नहीं चाहता" इस प्रकार विचार करके वह डिभक मर गया ॥ ४१ ॥

तथा तु डिभकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४२ ॥

हे शत्रुकुलपर जय प्राप्त करनेवाले! हंस भी लोगोंके मुखसे डिभकका वह हाल सुनकर यमुनाके पास गया और वह भी उसमें डूबकर मर गया ॥ ४२ ॥

तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वाप्सु निधनं गतौ।
स्वपुरं शूरसेनानां प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! राजा जरासन्ध हंस और डिभकके जलमें डूबकर मरनेका समाचार सुनकर अपने शूरसेनोंकी पुरीको लौट गया ॥ ४३ ॥

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन्प्रतिगते नृपे।
पुनरानन्दिताः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४४ ॥

हे शत्रुनाशक! उस जरासन्धके लौट जानेपर हम आनन्दित मनसे फिर मथुरामें रहने लगे ॥ ४४ ॥

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना।
कंसभार्या जरासंधं दुहिता मागधं नृपम् ॥ ४५॥
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता।
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिंदम ॥ ४६ ॥

हे शत्रुनाशी राजेन्द्र! आगे जब कमलके समान नयनोंवाली कंसकी पत्नी पतिकी मृत्युके दुःखसे दुःखित होकर अपने पिता मगधराज जरासन्धके पास जाकर यह कहके बारबार उत्साहित करने लगी, कि मेरे पतिके मारनेवालेका नाश कीजिये ॥ ४५–४६॥

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम्।
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ॥ ४७ ॥

तब, हे राजन्! हम उस पहिले परामर्शका स्मरण कर उदास होकर भाग आए ॥ ४७ ॥

पृथक्त्वेन द्रुता राजन्संक्षिप्य महतीं श्रियम्।
प्रपलामो भयात्तस्य सधनज्ञातिबान्धवाः ॥ ४८ ॥

महाराज! उस जरासन्धके भयसे हम यह विचार कर, कि इस अनन्त ऐश्वर्यको आपसमें बांटकर प्रत्येक मनुष्य थोडा थोडा धन लेकर पुत्र, पौत्र, ज्ञाति और बान्धवोंके साथ भाग जाए ॥ ४८ ॥

इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ।
कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार सोचकर हम सब मिलकर पश्चिम दिशामें रैवत पहाडकी चोटियोंसे सुहावनी कुशस्थली नामकी एक परम मनोहारिणी पुरीमें जा बसे ॥ ४९ ॥

पुनर्निवेशनं तस्यां कृतवन्तो वयं नृप ।
तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ॥ ५० ॥

हे राजन् ! वहां जाकर हमने फिर बस्तियां बसाईं, क्योंकि वहांके दुर्ग अच्छी तरह बनाये हुए होनेके कारण देवोंके द्वारा भी अजेय थे ॥ ५० ॥

स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किं पुनर्वृष्णिपुंगवाः ।
तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः ॥ ५१ ॥

वह दुर्ग ऐसा बना हुआ है, कि वहांसे स्त्रियां भी सहजहीमें लड सकती हैं, वृष्णिवंशके श्रेष्ठोंके बारेमें तो कुछ कहना ही क्या ? हे शत्रुनाशिन् ! अब हम वहां बिना भयके वास करते हैं ॥ ५१ ॥

आलोक्य गिरिमुख्यं तं माधवीतीर्थमेव च
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ॥ ५२ ॥

हे कुरुशार्दूल ! उस श्रेष्ठ पहाड और माधवी तीर्थको देखकर माधवगण बहुत प्रसन्न हुए ॥५२॥

एवं वयं जरासन्धादादितः कृतकिल्बिषाः ।
सामर्थ्यवन्तः संबन्धाद्भवन्तं समुपाश्रिताः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार जरासन्धके अनिष्ट करनेसे हम सबने सामर्थ्य रहने पर भी किसी विशेष प्रयोजनसे ही भवन्त पर्वतका सहारा लिया है ॥ ५३ ॥

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनादधि ।
योजनान्ते शतद्वारं विक्रमक्रमतोरणम् ।
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ५४ ॥

वह पर्वत तीन योजन विस्तृत है, एक योजनके बीचमें उस पर एक एक सैन्यव्यूह बना है और हर योजनके अन्तर पर सौ सौ द्वार बने हैं; विक्रम ही उसमें तोरणकी भांति भरा हुआ है, अर्थात् तोरणकी भांति वीर ही वहां रहकर उनकी सुरक्षा करते हैं और युद्ध करनेमें भयंकर अठारह क्षत्रियवंशी उसकी रखवाली किया करते हैं ॥ ५४ ॥

अष्टादश सहस्राणि व्रातानां सन्ति नः कुले ।
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिशतावरः ॥ ५५ ॥

हे महाराज ! हमारे कुलमें अठारह हजार व्रात वर्तमान हैं। आहुकके सौ पुत्र हैं, उनमेंसे हरेक तीन तीन सौके समान हैं ॥ ५५ ॥

×

चारुदेष्णः सह भ्राता चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः शौरिसमो युधि ॥ ५६ ॥

भाइयोंके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव और सात्यकि, मैं, बलदेव और मेरे समान योद्धा साम्ब और प्रद्युम्न ॥ ५६ ॥

एवमेते रथाः सप्त राजन्नन्यान्निबोध मे ।
कृतवर्मा अनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार ये सात अतिरथी हैं। इनके अतिरिक्त जितने महारथी हैं, उनकी बात भी कहता हूं, सुनिये । कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिञ्जय ॥ ५७ ॥

कहः शङ्कुर्निदान्तश्च सप्तैवैते महारथाः ।
पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ॥ ५८ ॥

कह, शंकुनि और दान्ता यह सात महारथी और भी अन्धक भोजके दो पुत्र तथा स्वयं वह वृद्ध भूप इस प्रकार वे दस हैं ॥ ५८ ॥

लोकसंहननना वीरा वीर्यवन्तो महाबलाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये गतव्यथाः ॥ ५९ ॥

ये सभी महावीर्यवान् तीनों लोकोंको मारनेमें समर्थ बलवान् मध्य देशका स्मरण करते हुए वृष्णियोंमें दुःखसे रहित होकर वसते हैं ॥ ५९ ॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥ ६० ॥

हे भरतसत्तम ! आप एक सम्राट्के सभी गुणोंसे युक्त हैं, अतः, हे भारत ! क्षत्रियोंमें अपनेको सम्राट् करके घोषित करें ॥ ६० ॥

न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ।
राजसूयस्त्वया प्राप्तुमेषा राजन्मतिर्मम ॥ ६१ ॥

पर मेरा विचार यह है, कि अति पराक्रमी जरासन्धके जीते रहने तक आप कदापि महायज्ञ राजसूय पूरा नहीं कर सकेंगे ॥ ६१ ॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरायां गिरीन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥ ६२ ॥

क्योंकि सिंह जिस प्रकार महाहस्तियोंको पकडकर गिरिराजकी कन्दरामें बन्द कर देता है वैसे ही उस जरासन्धने राजाओंको पराजित करके उन्हें गिरिदुर्गमें बन्द कर दिया है ॥ ६२ ॥

सोऽपि राजा जरासंधो यियुक्षुर्वसुधाधिपैः ।
आराध्य हि महादेवं निर्जितास्तेन पार्थिवाः ॥ ६३ ॥

राजाओंके द्वारा यज्ञ करनेकी इच्छासे उस राजा जरासन्धने भी महादेवकी उपासना करके सभी भूपालोंको हराया है ॥ ६३ ॥

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान्पृतनागतान् ।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥ ६४ ॥

उसने भूपालोंको सेनाओंके साथ बार बार पराजित करके अपने नगरमें ला लाकर उन सबोंको इकट्ठे बांध रखा है ॥ ६४ ॥

वयं चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा ।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६५ ॥

हे महाराज ! उस समय हम भी उस जरासन्धके भयसे मथुरा छोडकर द्वारावती पुरीमें भाग आए थे ॥ ६५ ॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमिहेच्छसि ।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च ॥ ६६ ॥

अतएव, हे कुरुनन्दन ! यदि आप यज्ञ करना चाहें तो उन राजाओंको छुडाने और जरासन्धको मारनेकी चेष्टा करें ॥ ६६ ॥

समारम्भो हि शक्योऽयं नान्यथा कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ॥ ६७ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन ! राजाओंको विना मुक्त किए और उसे विना मारे आप राजसूयका उत्सव पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकते ॥ ६७ ॥

इत्येषा मे मती राजन्यथा वा मन्यसेऽनघ ।
एवं गते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ५३७ ॥

अतः, यदि आप राजसूय महायज्ञ पूरा करना चाहें, तो मेरी समझमें ऐसा करना ही उचित जान पडता है; अब आपकी समझमें जैसा हो, करें । इस दशामें स्वयं विचार कर जो उचित जान पडे, वह मुझे बता दें ॥ ६८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ ५३७ ॥

: १४ :

युधिष्ठिर उवाच—

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे कृष्ण! तुम अति बुद्धिमान् हो; तुम जैसा कहोगे, वैसा कहना किसीसे नहीं बन पडेगा; पृथ्वीभरमें तुम्हीं एक शङ्का मिटानेवाले हो। तुम्हारे अलावा दूसरा और कोई नहीं है ॥ १ ॥

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृत्स्नभाक् ॥ २ ॥

हर राज्यमें अपने प्रिय कार्य करनेवाले राजा लोग विद्यमान हैं, पर कोई भी साम्राज्य प्राप्त नहीं कर सका। वास्तवमें सम्राट शब्द बडा दुर्लभ है ॥ २ ॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्तः स पूज्यते ॥ ३ ॥

दूसरेके बलवीर्यको जाननेवाला अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है? शत्रुसे युद्धमें लडकर जो प्रशंसित होते हैं, वही पूजनीय हैं ॥ ३ ॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

हे वृष्णिकुलमें श्रेष्ठ! यह भूमि नाना प्रकारके और अनेक उत्तम वस्तुओंसे भरी हुई एवं विशाल है, पर जो दूर देशोंमें घूम फिर कर आता है, वही यह समझ पाता है कि उसका कल्याण किसमें है ॥ ४ ॥

शममेव परं मन्ये न तु मोक्षाद्भवेच्छमः।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

हे जनार्दन! मैं शान्तिको ही कल्याण करनेवाली समझता हूं। मोक्षसे मुझे शान्ति मिलने वाली नहीं है। राजसूययज्ञके लिए उद्योग करनेसे भी मुझे सार्वभौमपद (पारमेष्ठ्य) मिलनेवाला नहीं है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ५ ॥

एवमेवाभिजानन्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित्कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥

हमारे कुलमें जन्म लिए हुए सब मनस्वी पुरुष यह समझते हैं, कि किसी न किसी समय उनमेंसे कोई न कोई श्रेष्ठ अवश्य होगा ॥ ६ ॥

भीम उवाच—

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥ ७ ॥

भीमसेन (यह सब बात सुनकर) बोले— उद्योग न करनेवाला राजा वल्मीक (चींटियोंकी बांबी) के समान नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उपायके बिना ही शक्तिशाली राजासे टक्कर लेनेवाला निर्बल राजा नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

अतन्द्रितस्तु प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत्सम्यङ्नयो राजन्नीत्यार्थानात्मनो हितान् ॥ ८ ॥

दुर्बल मनुष्य यदि आलस्य छोडकर उचित नियमसे बलियोंसे लडें, तो वह जय पाके अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकते हैं ॥ ८ ॥

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनञ्जये ।
मागधं साधयिष्यामो वयं त्रय इवाग्नयः ॥ ९ ॥

हे महाराज ! कृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और पार्थ धनंजय अर्जुनमें जयकी शक्ति ही है, अतः जैसे तीन प्रकारकी अग्नियोंसे यज्ञ पूरा होता है, वैसे ही हम भी जरासन्धको मारेंगे ॥ ९ ॥

कृष्ण उवाच

आदत्तेऽर्थपरो बालो नानुबन्धमवेक्षते ।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले— अज्ञानी जन परिणामकी बात पर विचार न करके ही कार्यमें हाथ डालता है, विज्ञ जन स्वार्थी अनजाने बालकशत्रुको भी कभी क्षमा नहीं करते॥ १० ॥

हित्वा करान्यौवनाश्वः पालनाच्च भगीरथः ।
कार्तवीर्यस्तपोयोगाद्बलात्तु भरतो विभुः ।
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान्पञ्च सम्राज इति शुश्रुमः ॥ ११ ॥

जीतने योग्य इन्द्रियादि अन्तः शत्रुओंको जीतकर यौवनाश्वने, प्रजाओंका उत्तम रीतिसे पालन कर, भगीरथने तप और वीर्यके बलपर कार्तवीर्यने और सामर्थ्यशाली भरतने बलके कारण तथा मरुत्तोंने ऋद्धिके आधार पर इन पांचोंने सम्राट्की पदवी पाई थी, एसा हम सुनते हैं ॥ ११ ॥

निग्राह्यलक्षणं प्राप्तो धर्मार्थनयलक्षणैः ।
बार्हद्रथो जरासन्धस्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १२ ॥

न चैनमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः ।
तस्मादेतद्बलादेव साम्राज्यं कुरुतेऽद्य सः ॥ १३ ॥

आत्मनिग्रह करनेका सामर्थ्य, प्रजापालन, धर्म, धन और नीति ये पांच साम्राज्यप्राप्तिके साधन हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! तुम यह समझ लो कि बृहद्रथके पुत्र जरासंधके पास इनमेंसे एक भी साधन नहीं हैं । क्योंकि राजाओंके एक सौ कुल उसकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव नहीं करते, इस कारण वह अपने बलके आधार पर ही लोगों पर शासन कर रहा है ॥ १२–१३ ॥

रत्नभाजो हि राजानो जरासन्धमुपासते ।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः ॥ १४ ॥

रत्नवान् राजगण रत्न देकर उसकि उपासना करते हैं, इस पर भी अपनी मूर्खताके कारण अनीतिमें स्थित वह जरासंध राजाओं पर प्रसन्न नहीं होता ॥ १४ ॥

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषं बलात् ।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित् ॥ १५ ॥

वह बलसे हरएक मूर्धाभिषिक्त राजासे जबर्दस्ती कर लेता है । ऐसा एक भी मनुष्य दीख नहीं पडता, जिससे वह प्रधान पुरुष राजस्वका अंश नहीं लेता ॥ १५ ॥

एवं सर्वान्वशे चक्रे जरासन्धः शतावरान् ।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥ १६ ॥

इस प्रकार जरासन्धने प्रायः सौ राजाओंको अधीन बना रखा है । हे भरतनन्दन ! एक दुर्बल भूप उसका मुकाबला कैसे करेगा ? ॥ १६ ॥

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे ।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ॥ १७ ॥

पशुपतिशिवके गृहमें रहनेवाले पशुओंकी भांति प्रोक्षण करके शुद्ध किए गए और बलि चढानेके लिये निश्चय किये गए राजाओंके मनमें जीवनके प्रति कौनसी प्रीति रह सकती है ? ॥ १७ ॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः ।
ननु स्म मागधं सर्वे प्रतिबाधेम यद्वयम् ॥ १८ ॥

अस्त्रसे मारे जाने पर जब क्षत्रियलोग सत्कारके पात्र बनते हैं, तब अवश्य ही हम युद्धमें एक होकर जरासन्धको रोकेंगे अर्थात् जरासंधके हाथों मरनेकी अपेक्षा युद्धमें मरना श्रेयस्कर है ॥ १८ ॥

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश ।
जरासन्धेन राजानस्ततः क्रूरं प्रपत्स्यते ॥ १९ ॥

हे महाराज! छियासी राजा बलि चढाये जानेके लिए अबतक कैद किए जा चुके हैं, केवल चौदह ही शेष बचे हैं, उनके हाथ लगते ही वह बडा कुटिल कार्य पूरा हो जायेगा ॥ १९ ॥

प्राप्नुयात्स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत् ।
जयेद्यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत् ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ ५५७ ॥

अतः, उस कार्यमें जो विघ्न डाल सकेगा, वही प्रदीप्त यश पा सकेगा और जो जरासंधको जीत लेगा वह निश्चय ही साम्राज्य भोगेगा ॥ २० ॥

महाभारतके सभापर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ ५५७ ॥

: १५ :

युधिष्ठिर उवाच—

सम्राड्गुणमभीप्सन्वै युष्मान्स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां भीमं बलात्केवलसाहसात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— मैं साम्राज्य पानेकी इच्छासे अति स्वार्थी बनकर केवल साहस पर निर्भर होकर तुमको और भीमको जरासन्धके वधके लिये कैसे भेजूं ? ॥ १ ॥

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! मैं भीम और अर्जुनको अपनी दो आंखें और तुमको मनके रूपमें मानता हूं, अतः नयन और मनसे रहित होने पर मेरा जीवन कैसा हो जायगा ? ॥ २ ॥

जरासंधबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमो हि वः पराजय्यात्किमु तत्र विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

यमराज भी जरासन्धकी भीम पराक्रमी अपार सेनाओंको पाकर तुमको परास्त कर सकते हैं, अतः उसके बारेमें और कहनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ३ ॥

अस्मिन्नर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
यथाहं विमृशाम्येकस्तत्तावच्छ्रूयतां मम ॥ ४ ॥

वरन् इस विषयमें हाथ डालनेसे बडे अनर्थके आ पडनेकी सम्भावना है, अतः, हे जनार्दन ! इस विषयमें मैं अकेला जो विचार करता हूं; उसे सुनो ॥ ४ ॥

संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन ।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुरासदः ॥ ५ ॥

राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छाको छोड देना ही मैं श्रेयस्कर समझता हूं; मेरा चित्त आज व्याकुल हो रहा है; मुझको निश्चय जान पडता है, कि राजसूय यज्ञ पूरा करना हमारे सामर्थ्यके बाहर है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले— अर्जुन अपने सामर्थ्यसे धनुषश्रेष्ठ गाण्डीव, दोनों अक्षय तरकस, रथ, ध्वज और मनोहारिणी सभा यह सब वस्तु पानेके कारण साहस करके युधिष्ठिरसे बोले ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच—

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—महाराज! धनुष, अस्त्र, बाण, वीर्य, सहाय, भूमि, यश और सेना यह अभिलषित दुर्लभ पदार्थ मैंने प्राप्त कर लिए हैं ॥ ७ ॥

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥ ८ ॥

साधु समाज तथा भले प्रतिष्ठित विद्वान् जन सत्कुलमें जन्मकी प्रशंसा करते हैं, पर मेरी समझमें वह भी बलके सदृश नहीं है; वीर्य ही मुझे पसन्द है ॥ ८ ॥

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
क्षत्रियः सर्वशो राजन्यस्य वृत्तिः पराजये ॥ ९ ॥

एक वीर्यहीन मनुष्य वीर्यवान् वंशमें जन्म लेकर भी क्या करेगा? हे महाराज! जो शत्रुको जीतकर बढते हैं, वही सब प्रकारसे क्षत्रिय कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

सर्वैरपि गुणैर्हीनो वीर्यवान्हि तरेद्रिपून।
सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ॥ १० ॥

क्योंकि मनुष्य कुल-मर्यादादि सब गुणोंसे रहित हो करके केवल वीर्यवान् होकर शत्रुको जीत सकता है और सब गुणोंके होने पर भी वीर्यहीन मनुष्य क्या कर सकेगा? ॥ १० ॥

द्रव्यभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे।
जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम् ॥ ११ ॥

पराक्रममें ही सब गुण इकट्ठे होकर रहते हैं, जय-प्राप्तिका मुख्य कारण उत्साह ही होता है, कर्म तो भाग्य पर आश्रित है ॥ ११ ॥

संयुक्तो हि बलैः कश्चित्प्रमादान्नोपयुज्यते।
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥ १२ ॥

अतः, बहुत बलवान् होने पर भी प्रमाद करनेसे कोई जय पानेके योग्य नहीं हो सकता, वरन् बलवान् होने पर भी उस कारण शत्रुके हाथसे मारा जाता है ॥ १२ ॥

दैन्यं यथाबलवति तथा मोहो बलान्विते।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १३ ॥

जिस प्रकार बलशालियोंके लिए दीनता उसी प्रकार बलसम्पन्नोंके लिए मोह ये दोनों ही विनाशके कारण बनते हैं। इसलिए जय प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालोंको चाहिए कि वे इन दोनोंको त्याग दें ॥ १३ ॥

जरासन्धविनाशं च राज्ञां च परिमोक्षणम् ।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १४ ॥

यज्ञके लिए जरासन्धको मारकर राजाओंको छुडा सकें, तो हमारे लिए इससे बढकर अच्छा कार्य और क्या हो सकेगा ? ॥ १४ ॥

अनारम्भे तु नियतो भवेदगुणनिश्चयः ।
गुणान्निःसंशयाद्राजन्नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १५ ॥

इस विषयमें मुंह मोडकर बैठे रहनेसे लोग हमको निश्चयसे गुणरहित समझेंगे ! अतएव हे महाराज ! हमारे अन्दर शंकाके अयोग्य गुणोंके रहते भी आप क्यों निर्गुण समझ रहे हैं ? ॥ १५ ॥

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम् ।
साम्राज्यं तु तवेच्छन्तो वयं योत्स्यामहे परैः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ५७३ ॥

पहिलेसे ही शान्तिकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको गेरुएं वस्त्र तो आसानीसे ही मिल जाते हैं । पर यदि साम्राज्य प्राप्त करनेकी आपकी इच्छा हो, तो हम शत्रुओंसे अवश्य युद्ध करेंगे ॥ १६ ॥

महाभारतके सभापर्वमें पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ५७३ ॥

: १६ :

वासुदेव उवाच—

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च ।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥

वासुदेव बोले— भरतवंशमें जन्म लिए विशेषकर कुन्तीके गर्भमें उत्पन्न हुए जनका जैसा मन होना चाहिये, अर्जुनने वह प्रकट किया ॥ १ ॥

न मृत्योः समयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा ।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनापि शुश्रुमः ॥ २ ॥

हम नहीं जानते, कि कब रात्रिको वा दिनको मृत्युकी वेला होगी और न हमने कभी यही सुना, कि न लडनेसे मृत्यु नहीं होती ॥ २ ॥

×

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥

अतः विधिदर्शित नियमके अनुसार शत्रु पर आक्रमण करनेहीसे हृदयको आनन्द पहुंचता है और क्षत्रियके लिये वही उचित है ॥ ३ ॥

सुनयस्यानपायस्य संयुगे परमः क्रमः ।
संशयो जायते साम्ये साम्यं च न भवेद्द्वयोः ॥ ४ ॥

उत्तम सलाह और अनुकूल भाग्य इन दोनोंके संयोग होने पर उद्योग पूरी तरह सफल होता है। यदि यह संयोग दोनों पक्षोंमें समान हो तो वहां किसी एक पक्षकी जीत संशयमें पड जाती है, पर यह साम्य दोनों पक्षोंमें कभी नहीं दिखाई देता ॥ ४ ॥

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ।
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ५ ॥

अतः हम उत्तम नीतिका अवलम्बन करके शत्रुके सामने खडे होजायें, तो अपने दोषोंको छिपानेमें और शत्रुओंके दोषोंको जाननेमें कुशल हम वृक्ष उखाडनेवाली नदीके वेगकी भांति शत्रुओंका नाश कैसे न करेंगे ? ॥ ५ ॥

व्यूढानीकैरनुबलैर्नोपेयाद्बलवत्तरम् ।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥ ६ ॥

पण्डितोंकी यही नीति है, कि व्यूढसेना अर्थात् उत्तम सेनासे युक्त अति बलशाली शत्रुसे न लडें, इससे मैं भी सम्मत हूं ॥ ६ ॥

अनवद्या ह्यसंबुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ७ ॥

पर निन्दित न होते हुए गुप्तभावसे शत्रुके घरमें घुस कर उसकी देहपर आक्रमण करके अपना अभीष्ट सिद्ध करले ॥ ७ ॥

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभ ।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षये वै बलक्षयः ॥ ८ ॥

वह पुरुषश्रेष्ठ जरासन्ध प्राणियोंकी अन्तरात्माके समान अकेला ही नित्य सौभाग्य भोग रहा है, अतः उसके नष्ट होने पर ही उसकी शक्तिका नाश हो सकेगा ॥ ८ ॥

अथ चेत्तं निहत्याजौ शेषेणाभिसमागताः ।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ ९ ॥

हम ज्ञातियोंकी रक्षाके लिये यह चाहते हैं, कि चाहे उसको मारे अथवा उससे मारे जाकर हम स्वर्गको जायें ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कृष्ण कोऽयं जरासन्धः किंवीर्यः किंपराक्रमः ।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा　　॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले— हे कृष्ण ! जरासन्ध कौन है ? वह कितना वीर्यवान् और कितना पराक्रमशाली है ? शलभके समान जरासन्ध अग्निके समान तुमको छूकर क्यों नहीं जल मरा ? ॥ १० ॥

कृष्ण उवाच—

शृणु राजञ्जरासन्धो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः ।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः　　॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे महाराज ! जरासन्धका जितना वीर्य और जितना पराक्रम है और उसके अनेक बार हमारा अनिष्ट करने पर भी हमने जिस कारण उसका बदला नहीं लिया, वह सब कहता हूं, सुनिये ॥ ११ ॥

अक्षौहिणीनां तिसृणामासीत्समरदर्पितः ।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिः पतिः　　॥ १२ ॥

मगधदेशमें तीन अक्षौहिणी सेनाओंका स्वामी युद्धके अहंकारसे फूला, राजा बृहद्रथ नामका एक राजा था ॥ १२ ॥

रूपवान्वीर्यसंपन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ।
नित्यं दीक्षाकृशतनुः शतक्रतुरिवापरः　　॥ १३ ॥

वह रूपवान्, श्रीमान्, वीर्यवान् अतिविक्रमी रोज व्रतदीक्षादि करनेके कारण दुबले शरीरवाला और दूसरे इन्द्रके सदृश था ॥ १३ ॥

तेजसा सूर्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः ।
यमान्तकसमः कोपे श्रिया वैश्रवणोपमः　　॥ १४ ॥

वह तेजमें सूर्यके समान, क्षमामें पृथ्वीके सदृश, क्रोधमें यमके समान और श्रीमें कुबेरकी भांति था ॥ १४ ॥

तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम ।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः　　॥ १५ ॥

हे भरतनन्दन ! सूर्यकी किरणें जैसे सब स्थानको ढकती हैं वैसे ही उसके कुलपरम्पराके गुणसे सारी धरती ढक सी गई थी ॥ १५ ॥

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंमते　　॥ १६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अति वीर्यवान् राजाने परमरूप सम्पद्वती काशीराजकी यमजकन्याओंसे विवाह किया था ॥ १६ ॥

तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ।
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा ॥ १७ ॥

तब उस पुरुषश्रेष्ठने पत्नियोंसे आपसमें यह नियम किया था, कि तुम दोनोंका मैं समान प्रेमी बना रहूंगा ॥ १७ ॥

स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां मनुजाधिप ।
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः ॥ १८ ॥

हे महाराज ! गजराज जैसे दो हथनियोंसे मिलकर सुखसे काल बिताता है, उसी प्रकार वह राजा उन अपने सदृश प्रेमवती पत्नियोंसे काल बिताता था ॥ १८ ॥

तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः ॥ १९ ॥

उन दोनोंके बीचमें रहकर वह राजा गङ्गा और यमुनाके बीचमें मूर्तिमान् सागरके समान शोभित होता था ॥ १९ ॥

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमत्यगात्
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन ॥ २० ॥

उस प्रकार विषयमें मग्न रहते हुए उस राजाकी यौवनदशा बीत गयी, पर एक भी वंशकर पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ ॥ २० ॥

मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः ।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २१ ॥

उस राजाने पुत्रकी कामनासे बहुविध हवन यज्ञ और मङ्गलकर्म किए, पर कुलको बढानेवाला पुत्र नहीं पासके ॥ २१ ॥

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः ।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २२ ॥

तब एक बार उसने तपस्यामें लगे हुए महात्मा गौतमवंशमें उत्पन्न कक्षीवान्‌के पुत्र उदार चण्डकौशिकके बारेमें सुना ॥ २२ ॥

यदृच्छयागतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् ।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २३ ॥

यथेच्छासे आये हुए एक वृक्षकी जड पर बैठे हुए राजा बृहद्रथने पत्नियोंके साथ उनके पास जाकर सब रत्नोंसे उन्हें प्रसन्न किया ॥ २३ ॥

तमब्रवीत्सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि ते राजन्वरं वरय सुव्रत ॥ २४ ॥

सत्यको धारण करनेवाले और सत्य कहनेवाले ऋषिवर चण्डकौशिक उनसे बोले, कि हे सुव्रतधारी महाराज ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ, अब वर मांगो ॥ २४ ॥

ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद्बाष्पगद्गदया गिरा ॥ २५ ॥

बृहद्रथ तब दोनों पत्नियोंके सहित उनको प्रणाम कर पुत्रमुख न देखनेकी निराशासे आंसुओंसे रुंधे हुए कण्ठवाले होकर गद्गद स्वरसे यह वचन बोले ॥ २५ ॥

बृहद्रथ उवाच—

भगवन्राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितस्य तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥ २६ ॥

बृहद्रथ बोले— हे भगवन् ! राज्यको छोडकर वनके लिए प्रस्थान करनेवाले मुझ अल्पभाग्यवालेको वरसे क्या मतलब अथवा सन्तानसे रहित मुझे राज्यसे ही क्या मतलब ? ॥ २६ ॥

कृष्ण उवाच—

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत्क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्य छायायां समुपाविशत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण बोले— राजाकी यह बात सुनकर क्षुब्धचित्त मुनि इन्द्रियोंको संयत कर तथा ध्यानमें मग्न होकर उसी आमके वृक्षकी छांहमें बैठ गए ॥ २७ ॥

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २८ ॥

वह उस प्रकार बैठे थे, कि उनकी गोदमें शुकादिसे न काटा गया तथा हवा आदिसे न गिराया गया एक आम गिरा ॥ २८ ॥

तत्प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसंप्राप्तिकारकम् ॥ २९ ॥

महाप्राज्ञ मुनिवर चण्डकौशिक उस अद्भुत फलको लेकर और उसे हृदयसे अभिमंत्रित कर पुत्र प्राप्तिके कारणरूप उस अद्वितीय फलको राजाको दे दिया ॥ २९ ॥

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन्कृतार्थोऽसि निवर्त मनुजाधिप ॥ ३० ॥

और महाबुद्धिमान् वे महामुनि उस राजासे बोले— हे नरनाथ ! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ, अब लौटकर अपने स्थानको जाओ ॥ ३० ॥

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात्पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! उस राजश्रेष्ठने तब पर्वकी प्रतिज्ञाको स्मरण करके दोनों पत्नियोंको वह एक फल दिया ॥ ३१ ॥

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यात्तथा मुनेः ॥ ३२ ॥
तयोः समभवद्गर्भः फलप्राशनसंभवः।
ते च दृष्ट्वा नरपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३३ ॥

उन दोनों कल्याणियोंने भी आपसमें बांटकर उस एक फलको आधा आधा खाया। होनेवाले अर्थके फलनेकी निश्चयता और मुनिकी सत्यवादिताके हेतु वे दोनों रानियां फल भोजनके कारण गर्भवती हुई। नृप बृहद्रथ उनको गर्भवती देखकर बडा आनन्दित हुआ ॥ ३२–३३ ॥

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते।
प्रजायेतामुभे राजञ्शरीरशकले तदा ॥ ३४ ॥

हे महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! इसके बाद दस महीने पूरे होने पर उन दोनों राजरानियोंने दो खण्ड शरीर प्रसूत किये ॥ ३४ ॥

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिजे।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपाते उभे भृशम् ॥ ३५ ॥

उनमेंसे हरेकके एक आंख, एक हाथ, एक पांव, आधा मुख, आधा पेट और आधा लिङ्ग देखकर वे दोनों भयसे थरथराने लगीं ॥ ३५ ॥

उद्विग्ने सह संमन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३६ ॥

तब उन दोनों अबला बहिनोंने उस समय अति उदास होकर आपसमें परामर्श कर उन दोनों जीती देहके खण्डोंको अति दुःखसे फेंक दिया ॥ ३६ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसंप्लवे।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात्समुत्सृज्याशु जग्मतुः ॥ ३७ ॥

उनकी दो धात्रियोंने उन दो सुन्दर गर्भोंको भली प्रकारसे छिपाकर अन्तःपुरसे निकलकर किसी एक चौराहे पर लेजाकर फेंक दिया ॥ ३७ ॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ३८ ॥

हे नरवर! मांस और रक्त खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने चौराहे पर फेंके हुए उन देह खण्डोंको उठा लिया ॥ ३८ ॥

कर्तुंकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी।
संघट्टयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ३९ ॥

उस राक्षसीने तब भाग्यके बलसे प्रेरित होकर सुखपूर्वक लेजानेकी इच्छासे उन दोनों देह-खण्डोंको जोड दिया ॥ ३९ ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ।
एकमूर्तिकृते वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४० ॥

हे पुरुषवर ! उन दो आधी देहोंके एक दूसरेसे मिलते ही एक ही स्वरूप धरकर एक वीर कुमार बन गया ॥ ४० ॥

ततः सा राक्षसी राजन्विस्मयोत्फुल्ललोचना।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! तब आश्चर्यसे फटी हुई आंखोंवाली वह राक्षसी वज्रके सारसे युक्त बचेको उठानेकी चेष्टा करने पर भी उठा नहीं सकी ॥ ४१ ॥

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः।
प्राक्रोशदतिसंरम्भात्सतोय इव तोयदः ॥ ४२ ॥

वह बालक हाथोंसे घूसा बांधकर उसे मुंह पर रखकर मुंहको फुलाकर जलसे भरे घने बादलके समान बडी आवजमें रोने लगा ॥ ४२ ॥

तेन शब्देन संभ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥ ४३ ॥

हे शत्रुनाशन् नरव्याघ्र ! इस शब्दसे अन्तःपुरवासी मनुष्य भयभीत होकर राजाके साथ एकाएक बाहर निकल आये ॥ ४३ ॥

ते चाबले परिग्लाने पयःपूर्णपयोधरे।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ॥ ४४ ॥

और वह आशा छोडी हुई, मलिन मुखवालीं, दूधभरे स्तनवालीं राजरानियां भी पुत्र पानेकी आशासे सहसा दौडकर आ गईं ॥ ४४ ॥

अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम्।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४५ ॥

तब राक्षसी उन दोनों रानियोंको उस दशामें, राजाको सन्तानके लिए प्रयत्न करते और उस बचेको बडा बलिष्ठ देखकर सोचने लगी ॥ ४५ ॥

नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः ।
बालं पुत्रमुपादातुं मेघलेखेव भास्करम् ॥ ४६ ॥

पुत्रके लिए इच्छा करनेवाले इस राजाके राज्यमें रहती हुई मेरे लिए इस सूर्यकी किरणके समान तेजस्वी तथा मेघके समान शब्द करनेवाले इस पुत्रको ले लेना उचित नहीं है ॥४६॥

सा कृत्वा मनुषं रूपमुवाच मनुजाधिपम् ।
बृहद्रथ सुतस्ते यं मद्दत्तः प्रतिगृह्यताम् ॥ ४७ ॥

यह सोचकर वह निशाचरी मानवी शरीर धरकर उस राजासे बोली– हे बृहद्रथ ! यह पुत्र तुम्हारा है । अतः मेरे द्वारा दिए गए इस पुत्रको तुम स्वीकार करो ॥ ४७ ॥

तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ॥ ४८ ॥

एक मुनिवरके प्रभावसे तुम्हारी पत्नियोंसे यह उत्पन्न हुआ है, धात्रियोंने इसे त्याग दिया था पर मैंने यत्नसे इसे बचाया है ॥ ४८ ॥

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपत्याशु प्रस्नवैरभिषिञ्चताम् ॥ ४९ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तब काशीराजकी उन दोनों सुन्दरी कन्याओंने उस बालकको लेकर स्तनसे निकले दूधसे उसीक्षण उसे नहलाया ॥ ४९ ॥

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छन्नवहेमाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५० ॥

इसके पश्चात् राजाने सब हाल जानकर प्रसन्नमनसे उस सुवर्णके समान कान्तिवाली मानवी रूपधारिणी उस राक्षसीसे पूछा ॥ ५० ॥

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षोडशोऽध्यायः॥ १६ ॥ ६२४ ॥

हे कमलगर्भके समान कांतिवाली ! मुझे पुत्र देनेवाली तुम कौन हो ? हे कल्याणी ! तुम स्वेच्छासे विचरनेवाली कोई देवी जान पडती हो; अतःअपना ठीक ठीक हाल कहो ॥ ५१ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ६२४ ॥

: १७ :

राक्षस्युवाच—

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी ।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ॥ १ ॥

राक्षसी बोली– हे महाराज ! आपका कल्याण हो मेरा नाम जरा है, स्वेच्छासे रूप धारण करनेवाली मैं एक राक्षसी हूँ । हे राजेन्द्र ! आपके गृहमें पूजित होकर मैं सुखसे रही हूँ ॥१॥

साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयन्त्यनिशं नृप ।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ॥ २ ॥

अतः सदा तुम्हारे उपकारके बदलेमें कोई उपकार करना चाहती थी । हे धार्मिकवर ! आज तुम्हारे पुत्रकी दो भागोंमें बंटी देहको मैंने देखा ॥ २ ॥

संश्लेषिते मया दैवात्कुमारः समपद्यत ।
तव भाग्यैर्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ॥ ३ ॥

दैवसंयोगसे ज्योंही उसे मैंने एकत्रित किया त्योंही वह एक कुमार बना । महाराज ! तुम्हारे भाग्यहीसे यह लीला हुई है; मैं इसमें केवल उपलक्ष्य ही हूं ॥ ३ ॥

कृष्ण उवाच—

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स गृह्य च कुमारं तं प्राविशत्स्वगृहं नृपः ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण बोले– राक्षसी इन बातोंको कहकर वहीं अन्तर्हित हो गयी । राजा बृहद्रथ अपने कुमारको गोदमें लेके अपने गृहमें चले गए ॥ ४ ॥

तस्य बालस्य यत्कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा ।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मागधेषु महोत्सवम् ॥ ५ ॥

इसके बाद राजाने उसके सब जातकर्म आदि जो कुछ कराना था, वे सब कराये और मगधराज्य भरमें राक्षसीके नामसे महोत्सव करनेकी आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

तस्य नामाकरोत्तत्र प्रजापतिसमः पिता ।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधस्ततोऽभवत् ॥ ६ ॥

ब्रह्माके समान उन नरनाथने जरा राक्षसीने इसको सन्धित किया अर्थात् मिलाया है; अतः इसका नाम जरासन्ध हो, ऐसा निश्चय करके उस बालकका नामकरण किया ॥ ६ ॥

+

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः ।
प्रमाणबलसंपन्नो हुताहुतिरिवानलः ॥ ७ ॥

मगधनाथका वह बडा तेजस्वी पुत्र प्रशस्त आकार धारणकर और बलवान् होकर आहुति प्राप्त किए अग्निके समान बढने लगा ॥ ७ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधानुपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ ८ ॥

कुछ काल बीतने पर महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक फिर मगध देशमें आये ॥ ८ ॥

तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ ९ ॥

राजा बृहद्रथ उनके आनेसे बडा प्रसन्न होकर मन्त्री, पुरोहित, दो रानियां तथा पुत्रके सहित नगरसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं चास्मैन्यवेदयत् ॥ १० ॥

और, हे भारत ! पाद्य, अर्घ्य आचमनीय आदिसे उनकी पूजा की । हे भरतनन्दन ! उस भूपालने राज्य-सहित उस पुत्रको उन्हें सौंप दिया ॥ १० ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां पार्थिवाद्भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन्प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ११ ॥

हे राजन् ! भगवान् चण्डकौशिक ऋषि राजा मगधराजकी पूजा स्वीकार कर प्रसन्न मनसे उनसे बोले ॥ ११ ॥

सर्वमेतन्मया राजन्विज्ञातं ज्ञानचक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ १२ ॥

हे महाराज ! मैं दिव्यनेत्रोंसे सब बात जान चुका हूं । तुम्हारा यह पुत्र भविष्यमें जैसा होगा वह सुनो ॥ १२ ॥

अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ।
देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ १३ ॥

कोई भी राजा इसके बलको नहीं पा सकेगा । हे राजन् ! देवोंके द्वारा भी चलाए गए शस्त्रास्त्र पहाडसे टकराते हुए नदीवेगके समान इसको पीडा नहीं पहूंचा सकेंगे ॥ १३ ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
सर्वेषां निष्प्रभकरो ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १४ ॥

यह समस्त मूर्द्धाभिषिक्त राजाओंके ऊपर प्रदीप्त होगा । सूर्य जैसे सब चमकीले पदार्थोंकी चमक नष्ट करता है, वैसेही यह सब भूपोंके सौभाग्यकी चमकको नष्ट करेगा ॥ १४ ॥

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ १५ ॥

शलभ जैसे अग्निमें गिरकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार बहुत बल और हाथी घोडे आदि वाहनवाले राजगण इससे लडकर स्वयं ही नष्ट हो जाएंगे ॥ १५ ॥

एष श्रियः समुदितां सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोद्धतजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १६ ॥

वर्षाकालमें नदनदियोंके स्वामी समुद्र जैसे जलभरी नदियोंको अपने अन्दर समेट लेता है वैसे यह राजाओंकी उन्नत श्रीको अपने अन्दर समेट लेगा ॥ १६ ॥

एष धारयिता सम्यक्चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १७ ॥

सब प्रकारके शस्योंको धारण करनेवाली विशाल पृथ्वी जैसे शुभ तथा अशुभ सबको धारण करती है, वैसे ही महाबली जरासन्ध चारों वर्णोंको धारण करनेवाला होगा ॥ १७ ॥

अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १८ ॥

सभी शरीरधारी जैसे सब भूतोंकी आत्मभूत वायुके वशमें रहते हैं, वैसे ही सब राजा इसकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले होंगे ॥ १८ ॥

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः स्वयं द्रक्ष्यति मागधः ॥ १९ ॥

अधिक क्या कहूं, सब लोकोंमें अति बलवान् यह मागध-प्रधान जरासन्ध त्रिपुरहनन, त्रिलोकनाशन महादेव रुद्रका स्वयं दर्शन करेगा ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यार्थं विचिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ॥ २० ॥

हे शत्रुनाशिन् ! मुनिने ऐसा कहते ही कहते मानो कोई कार्य स्मरण कर नरनाथ बृहद्रथको विदा कर दिया ॥ २० ॥

प्रविश्य नगरं चैव ज्ञातिसंबन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासन्धं मगधाधिपतिस्तदा ।
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ॥ २१ ॥

मगधनाथ भी नगरमें जाकर अपने जाति और कुटुम्बके लोगोंको साथ लेकर जरासन्धको मगध राज्य पर बैठाकर बडे प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

अभिषिक्ते जरासन्धे तदा राजा बृहद्रथः ।
पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनरतोऽभवत् ॥ २२ ॥

जरासन्धके राज्य पर अभिषिक्त हो जानके बाद राजा बृहद्रथ दो रानियोंके साथ तपोवनको पधारे ॥ २२ ॥

तपोवनस्थे पितरि मातृभ्यां सह भारत ।
जरासन्धः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद्वशे ॥ २३ ॥

पिता तथा दोनों माताओंके तपोवनमें चले जाने पर जरासन्धने अपने वीर्यके प्रभावसे सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया ॥ २३ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनगतो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत्तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २४ ॥

नरनाथ बृहद्रथ तपोवनमें बहुत दिनतक तपकर दोनों पत्नियोंके संग स्वर्गको सिधारे ॥ २४ ॥

तस्याऽऽस्तां हंसडिभकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ युद्धशास्त्रविशारदौ ॥ २५ ॥

महाराज ! हंस और डिभक जो दो पुरुष जरासन्धके सहाय थे, वे शस्त्रसे मारे जानेके अयोग्य, मन्त्रणामें बडे बुद्धिमान् और नीति-शास्त्रम पण्डित थे ॥ २५ ॥

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २६ ॥

उन अति बलवान् दोनों वीरोंकी कथा मैं आपसे कह चुका हूं, मेरा विचार है कि हंस, डिभक और स्वयं जरासन्ध इन तीनोंके मिलने पर त्रिलोक भी उनके समान नहीं हो सकता था ॥ २६ ॥

एवमेष तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ समाप्तं मन्त्रपर्व ॥ ६५१ ॥

कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशियोंने पराक्रमी होने पर भी केवल नीतिके कारण ही जरासन्धकी उपेक्षा कर दी ॥ २७ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ मन्त्रपर्व समाप्त ॥ ६५१ ॥

: १८ :

वासुदेव उवाच—

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसामात्यौ निपातितौ।
जरासन्धस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥

वासुदेव बोले— हे युधिष्ठिर! हंस और डिमकने जलमें डूबके प्राण दे दिये हैं और कंस भी मंत्रियों सहित मारा गया है, अतः जरासन्धके वधका अब समय आ पहुंचा है ॥ १ ॥

न स शक्यो रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ॥ २ ॥

सब सुरासुरोंके द्वारा भी वह लढाईमें जीता नहीं जा सकता। अतएव उसको प्राणयुद्धसे[1] ही जीतना चाहिए ऐसा हमारा विचार है ॥ २ ॥

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जुनः।
साधयिष्याम तं राजन्वयं त्रय इवाग्नयः ॥ ३ ॥

मुझमें नीति है; भीममें बल है और अर्जुन हमारे रक्षक हैं। अतएव, हे राजन्! तीन अग्नियां जैसे यज्ञको पूरा करती हैं, वैसे हम जरासन्धको मारनेके कामको अवश्य पूरा करेंगे ॥ ३ ॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाभ्युपयास्यति ॥ ४ ॥

हम तीनोंके एकान्तमें उससे मिलने पर वह राजा हममेंसे एक न एकसे अवश्य ही द्वन्द्व युद्ध करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

अवमानाच्च लोकस्य व्यायतत्वाच्च धर्षितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमभ्युपयास्यति ॥ ५ ॥

अपमान और संसारकी लज्जासे मजबूर होकर वह निश्चय ही भीमसे लडनेके लिए तैयार हो जाएगा ॥ ५ ॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥ ६ ॥

लोगोंके बहुत बढ जाने पर जिस प्रकार यमराज उनको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, वैसे ही अति बलवान् महाभुज भीमसेन भी उस जरासन्धको नष्ट करनेमें समर्थ होंगे ॥ ६ ॥

यदि ते हृदयं वेत्ति यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥ ७ ॥

महाराज! आप यदि मेरा हृदय जानते हों और मुझ पर आपका विश्वास है, तो और विलम्ब न करके भीमार्जुनको मेरे हाथोंमें न्यासकी भांति सौंप दीजिये ॥ ७ ॥

---

१ प्राणोंकी बाजी लगाकर किए जानेवाले युद्धको प्राणयुद्ध कहते हैं।

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तौ भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
भीमपार्थौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले— भगवान् कृष्णके द्वारा यह कहे जानेपर और भीमार्जुनको प्रसन्न मुखसे बैठे देखकर युधिष्ठिरने उत्तर दिया ॥ ८ ॥

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षण।
पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥ ९ ॥

हे शत्रुनाशी अच्युत! अच्युत! तुम ऐसा मत कहो; तुम पाण्डवोंके स्वामी एवं रक्षक हो हम तुम्हारी शरणमें हैं ॥ ९ ॥

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी ॥ १० ॥

हे गोविन्द! तुम जो कहते हो, सब युक्तियुक्त है, क्योंकि लक्ष्मी जिससे मुंह मोड लेती है तुम कभी उनके आगे नहीं जाते ॥ १० ॥

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥

तुम्हारी आज्ञामें चलनेवाले मुझे (विश्वास हो गया है कि) मैंने जरासन्धको मार लिया, भूपालोंको मुक्त कर दिया और राजसूय यज्ञ भी कर लिया है ॥ ११ ॥

क्षिप्रकारिन्यथा त्वेतत्कार्यं समुपपद्यते।
मम कार्यं जगत्कार्यं तथा कुरु नरोत्तम ॥ १२ ॥

हे शीघ्रतासे कर्म करनेवाले नरोंमें श्रेष्ठ भगवन्! आप उसी प्रकार कीजिए कि जिससे जरासन्धको मारने रूप मेरा और संसारका कार्य पूर्ण हो जाए ॥ १२ ॥

त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त इव दुर्गतः ॥ १३ ॥

तुम तीनोंके विना मैं धर्मार्थ कामसे वर्जित रोगोंसे पीडित जनकी भांति जीनेकी इच्छा नहीं करता ॥ १३ ॥

न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना।
नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ॥ १४ ॥

मेरा निश्चय यह है, कि जैसे श्रीकृष्णके विना पार्थ नहीं रह सकते और पार्थके विना श्रीकृष्ण भी रह नहीं सकते, वैसे ही कृष्णार्जुनके लिए जीतनेके अयोग्य त्रिलोक भरमें कुछ नहीं है ॥ १४ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥

यह श्रीमान् वृकोदर भी बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रधान हैं । यह अति यशस्वी वीरवर भीम आप दोनोंकी सहायता पाकर क्या नहीं कर सकते ? ॥ १५ ॥

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥

अच्छे नायकसे चलाये जानेपर ही सेनायें भली भांति कार्य पूरा करती हैं । बिना नायक की सेनाको पण्डित लोग जड अर्थात् तुच्छ समझते हैं, अतः बुद्धिमान् सैनिकोंको ही सेनाका नेतृत्व करना चाहिये ॥ १६ ॥

यतो हि निम्नं भवति नयन्तीह ततो जलम् ।
यतच्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीधना बलम् ॥ १७ ॥

जहां भूमि नीची होती है, बुद्धिमान् जन उसी ओर जल ले जाते है; उसी प्रकार बुद्धिमान् नीतिज्ञ जन शत्रुका जिधरका भाग कमजोर होता है, उधर ही अपनी सेना ले जाते हैं ॥ १७ ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥

अतः नीतिको जाननेवाले, पुरुषार्थी, त्रिलोकमें प्रख्यात गोविन्दका सहारा पाकर हम कार्य पूरा करनेका प्रयत्न अवश्य करेंगे ॥ २८ ॥

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम् ।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्ण कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

हे कृष्ण ! कार्य और अर्थकी सिद्धिके लिए बुद्धि, नीति, बल, क्रिया और उपायसे युक्त मनुष्य ही को हर कार्यमें पुरोगामी बनाना चाहिए ॥ १९ ॥

एवमेव यदुश्रेष्ठं पार्थः कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम् ।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥

इस प्रकार पृथापुत्र अर्जुन भी कार्य पूरा करनेके लिए यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णके पीछे चलें और भीम अर्जुनका अनुसरण करें, ऐसा करनेसे ही नीति, विक्रम और बलके विषयमें सिद्धि प्राप्त होगी ॥ २० ॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदान् ।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥

अत्यन्त तेजस्वी सब भाइयोंके सामने युधिष्ठिरके इस प्रकार कहने पर वृष्णिनन्दन कृष्ण तथा दोनों पाण्डुपुत्र भीम और अर्जुन स्नातक हुए वर्चस्वी ब्राह्मणोंके कपडे धारण कर मित्रोंके सुन्दर वचनोंसे आनन्दित होकर मगधराज जरासंघके नगर की तरफ चल दिए ॥ २१-२२ ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यवाससाम् ।
रविसोमाग्निवपुषां भीममासीत्तदा वपुः ॥ २३ ॥

उस समय अपने जाति बान्धवोंके कार्यके लिए जानेवाले, क्रोधसे संतप्त मुखवाले तथा ब्राह्मणके कपडोंको धारण किए हुए सूर्य, चन्द्र, और अग्निके समान तेजस्वी उनके शरीर बडे भयंकर हो गए थे ॥ २३ ॥

हतं मेने जरासंधं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ ।
एककार्यसमुद्युक्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥

भीमके आगे आगे चलनेवाले, युद्धमें न हारनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुनको एक ही कार्यमें दत्तचित्त देखकर युधिष्ठिरने जरासन्धको मरा हुआ ही समझ लिया ॥ २ ॥

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तने ।
धर्मार्थकामकार्याणां कार्याणामिव निग्रहे ॥ २५ ॥

क्योंकि वे दोनों महात्मा सब कार्योंको करनेमें समर्थ हैं, साथ ही साधारण कार्यके समान धर्म, अर्थ और कामके निग्रहमें भी वे समर्थ हैं ॥ २५ ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीयां तथा शोणं सदानीरां तथैव च ।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्य व्रजन्ति ते ॥ २७ ॥

वे कृष्ण, अर्जुन और भीमसेन कुरुदेशसे निकलकर कुरुजाङ्गलके बीचसे होकर सुन्दर पद्मसरोवरको गये; वहांसे कालकूटको पार करके एक ही पहाडसे निकलनेवाली गण्डकी, सदानीरा, शोण इन नदियोंको क्रमसे पार करते हुए चले ॥ २६-२७ ॥

संतीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां मालां चर्मण्वतीं नदीम् ॥ २८ ॥

तदनंतर वे मनोहारिणी सरयूके पार उतरकर, पूर्व कौसलदेशोंको देखकर मिथिला तथा माला और चर्मण्वती नदीको पारकर आगेको चले ॥ २८ ॥

उत्तीर्य गङ्गां शोणं च सर्वे ते प्राङ्मुखास्त्रयः ।
कुरवोरश्छदं जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥

गंगा और शोणके पार उतरकर अक्षय उत्साहसे पूरित वे तीनों कुरुवीर उस समय पूर्व दिशाकी तरफ चलकर मगधराज्यकी सीमा पर आ पहुंचे ॥ २९ ॥

ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ६८१ ॥

तब उन्होंने जलसे भरे, गौसे सम्पन्न, सुन्दरवृक्षोंसे युक्त गोरथ नामक पर्वत पर चढकर मगधनाथ जरासंधकी पुरी देखी ॥ ३० ॥

महाभारतके सभापर्वमें अठ्ठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ६८१ ॥

: १९ :

वासुदेव उवाच—

एष पार्थ महान्स्वादुः पशुमान्नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढयो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे पार्थ ! वह देखो, मगधराज्यकी राजधानी कैसी सुन्दर शोभा पा रही है। वह अनेक पशुओंसे भरी, सदा जलसे भरपूर उपद्रवोंसे रहित और, अच्छे अच्छे भवनोंसे सुशोभित है ॥ १ ॥

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथैवर्षिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाऽभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥

ऊंची ऊंची चोटियोंवाले ठण्डे वृक्षवाले, एक दूसरेसे मिले, वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक यह पांच बडे बडे पर्वत माना मिलकर गिरि-व्रज नगरीकी रक्षा कर रहे हों ॥ २–३ ॥

×

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोरमैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥

फूलोंसे लदे हुए हैं आगेके भाग जिनके ऐसी शाखाओंसे युक्त, सुगन्धीसे युक्त सुन्दर, कामीजनोंको प्रिय लगनेवाले लोध्र वृक्षोंके वनोंने मानों उन पहाडोंको ढक दिया है ॥ ४ ॥

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत्काक्षीवादीन्सुतानृषिः ॥ ५ ॥

वहां प्रशंसित व्रतधारी महात्मा गौतममुनिने शूद्राणी औशीनरीसे काक्षीवानादि पुत्रोंको उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

गौतमः क्षयणादस्मादथासौ तत्र वेश्मनि ।
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहात् ॥ ६ ॥

वह काक्षीवान् अपने पिता गौतमके घरसे निकलकर इस नगरमें आकर राजाओंकी कृपासे मागधवंशकी सेवा करता है ॥ ६ ॥

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! पूर्वकालमें अति पराक्रमी अङ्ग वङ्गादिक राजगण भी इन गौतमकी कुटीमें आकर प्रमुदित होते थे ॥ ७ ॥

वनराजीस्तु पश्येमाः प्रियालानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकःसमीपजाः ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! वह देखो, गौतमके आश्रमके निकट लोध्र और प्रियालके वन कैसी सुन्दर शोभा दे रहे हैं ॥ ८ ॥

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्यालयश्चाऽत्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥

यहां अर्बुद और शक्रवापी नामके दो शत्रुसंतापी नागोंके और स्वातिक तथा मणि नागके भवन बने हुए हैं ॥ ९ ॥

अपरिहार्या मेघानां मागधेयं मणेः कृते ।
कौशिको मणिमांश्चैव ववृधाते ह्यनुग्रहम् ॥ १० ॥

मणिसे बनाये जानेके कारण इस मागधनगरीको बादल कभी त्यागते नहीं, (अतः यहांके निवासियोंको जलका कभी कष्ट नहीं होता) और कौशिक तथा मणिमान् भी इस पर दया दिखाते रहते हैं ॥ १० ॥

अर्थसिद्धिं त्वनपगां जरासंधोऽभिमन्यते ।
वयमासादने तस्य दर्पमद्य निहन्म हि ॥ ११ ॥

ऐसी नगरीमें रहता हुआ जरासन्ध अनुपम अर्थ पानेमें कोई शङ्का नहीं करता है, पर आज हम उसके घरमें ही जाकर उसका अहङ्कार चूर चूर कर देंगे ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले— ऐसा कह कर अति तेजस्वी वृष्णीवंशी श्रीकृष्ण और भीम तथा अर्जुन दोनों भाई मिलकर मगधपुरकी ओर चले ॥ १२ ॥

तुष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यजनाकुलम् ।
स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ॥ १३ ॥

वे तुष्ट और पुष्ट जनोंसे भरे हुए, सदा उत्सव करते हुए, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंसे सम्पन्न औरोंके द्वारा जीतनेके अयोग्य गिरिव्रजनगरमें जा पहुंचे ॥ १३ ॥

तेऽथ द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ।
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ॥ १४ ॥

नगरके द्वारके निकट न जाकर वे तीनों राजा बृहद्रथके पुत्र जरासन्धके मनुष्यों तथा नगरवासी प्रजाओंसे पूजे जाते हुए एक ऊंचे पहाड पर जा पहुंचे ॥ १४ ॥

यत्र माषादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा माषनालाश्च तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १५ ॥

उस स्थानमें राजा बृहद्रथने माष अर्थात् उडदको खानेवाले ऋषभदैत्यपर चढाई की थी और उसको मारकर उसके चर्मसे तीन ढोलोंको मढवाया ॥ १५ ॥

आनह्य चर्मणा तेन स्थापयामास स्वे पुरे ।
यत्र ताः प्राणदन्भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १६ ॥

उसके चमडीसे मढे हुए ढोलोंको उस राजाने अपने नगरमें लटकवा दिया, जहां दिव्य फूलोंके चूर्णसे युक्त वे ढोल बजा करते थे ॥ १६ ॥

मागधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन् ।
शिरसीव जिघांसन्तो जरासन्धजिघांसवः ॥ १७ ॥

मगधवासियोंको अत्यन्त प्रिय उस चैत्यक पर जरासंधको मारनेकी इच्छा करनेवाले उन तीनोंने मानों उसके मस्तक पर प्रहार करते हुए आक्रमण किया ॥ १७ ॥

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहान्तं पुरातनम् ।
अर्चितं माल्यदामैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं दृष्ट्वा पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ १९ ॥

भली भांति स्थिर, अति विशाल, बडी भारी और विविधपूर्वक प्रतिष्ठित जो पुरानी चोटी गन्धमालादिसे सदा पूजी जाती थी, उक्त तीन वीरोंने अपरिमित भुजबलसे उसको धक्का मारके गिरा दिया और इसके बाद प्रसन्न मनसे मगधपुरमें जा घुसे ॥ १८–१९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु जरासंधं समर्चयन् ।
पर्यग्निं कुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ॥ २० ॥

इसी समय अग्निकी परिक्रमा करते हुए, हाथी पर बैठे हुए राजा जरासन्धकी पुरोहितोंने पूजा की ॥ २० ॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासन्धेन भारत ॥ २१ ॥

इधर बाहुरूपी शस्त्रोंसे युक्त, अन्य प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे विरहित तथा जरासन्धसे लडनेकी इच्छा करनेवाले वे व्रतधारी स्नातक कृष्ण, अर्जुन और भीम नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ २१ ॥

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ॥ २२ ॥

वे वहां भक्ष्य पदार्थों और फूलोंके बाजारोंकी सब गुणोंसे युक्त, सब इच्छाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ और उत्तम समृद्धि उन्होंने देखी ॥ २२ ॥

तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ॥ २३ ॥
बलाद्गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ।
विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ॥ २४ ॥
निवेशनमथाजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ।
गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा ॥ २५ ॥

कृष्ण, भीम और अर्जुनने इन नरश्रेष्ठोंने उस मार्गमें उस समृद्धिको देखकर राजमार्गमें चलते हुए उन्हें महाबलशालियोंने मालियोंसे जबर्दस्ती मालायें छीन लीं और विचित्र रंगोंके वस्त्र पहने हुए, माला डाले हुए, कानोंमें उज्ज्वल कुण्डलवाले वे सब, हिमालयके सिंह जिस प्रकार गायोंके बाडेकी तरफ देखते हुए आते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् जरासन्धके घरकी तरफ चले ॥ २३–२५ ॥

शैलस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुभूषिताः ।
अशोभन्त महाराज बाहवो बाहुशालिनाम् ॥ २६ ॥

महाराज ! उन अत्यन्त श्रेष्ठ भुजाओंवाले उन तीनों वीरोंके अगुरु और चन्दनसे सुशोभित भुज पहाडके समान शोभित होने लगे ॥ २६ ॥

तान्दृष्ट्वा द्विरदप्रख्यान्शालस्कन्धानिवोद्गतान् ।
व्यूढोरस्कान्मागधानां विस्मयः समजायत ॥ २७ ॥

मगधपुरके निवासी उनको मत्त हस्तीके समान, शालस्कन्धके सदृश, ऊंचे किवाडकी भांति छातिवाले देखकर आश्चर्यचकित हो गये ॥ २७ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णास्तिस्रः कक्ष्या नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्महाबलाः ॥ २८ ॥

वे महाबलशाली तीनों नरश्रेष्ठ जनसमूहसे युक्त तीन कक्षाओंको पारकर अहङ्कारकी उमङ्गमें जरासन्धके निकट जा पहुंचे ॥ २८ ॥

तान्पाद्यमधुपर्कार्हान्मानार्हान्सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ २९ ॥

पाद्य, मधुपर्क आदियोंको प्राप्त करने योग्य, सम्माननीय, सत्कारको पाने योग्य उनको देखकर जरासंध उठकर विधिपूर्वक उनके पास गया ॥ २९ ॥

उवाच चैतान्राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ।
तस्य ह्येतद्व्रतं राजन्बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३० ॥

और वह प्रभावशाली राजा उनसे बोला कि " आपका स्वागत हो । " हे राजन् ! उस जरासंधका तीनों लोकोंमें विख्यात यह व्रत था ॥ ३० ॥

स्नातकान्ब्राह्मणान्प्राप्तान्श्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३१ ॥

महाराज ! समरमें विजयी नरपति जरासन्धका यह दृढ व्रत था, कि स्नातक ब्राह्मण आधी रातको भी आवें तो भी उस समय सुनते ही वह आकर उनसे भेंट करता था ॥ ३१ ॥

तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा नृपतिसत्तमः ।
उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाभवत्तदा ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ जरासन्ध कृष्णादिके निकट गया और उनका अद्भुत वेश देखकर वह अचम्भेमें रह गया ॥ ३२ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्धं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ३३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यज्ञशालामें टिके शत्रुनाशी उन सब नरश्रेष्ठोंने उस राजा जरासन्धको देखते ही यह कहा ॥ ३३ ॥

स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति सर्वे व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल विप्रैक्षन्त परस्परम् ॥ ३४ ॥

हे नृपशार्दूल ! उन्होंने एक दूसरेके मुख देखकर उस राजासे यह कहा, कि हे महाराज ! तुम्हारा कुशल और मंगल हो ॥ ३४ ॥

तानब्रवीज्जरासन्धस्तदा यादवपाण्डवान् ।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥ ३५ ॥

जरासन्धने कृत्रिम ब्राह्मणका वेश धारण किए हुए यादव और पाण्डवोंसे कहा कि ! बैठिये ॥ ३५ ॥

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ।
संप्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः ॥ ३६ ॥

यह सुनकर वे तीनों पुरुषश्रेष्ठ बैठ गए । उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों किसी बडे यज्ञमें तीनों अग्नियां अपने तेजके साथ जल रही हों ॥ ३६ ॥

तानुवाच जरासन्धः सत्यसन्धो नराधिपः ।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणकारणात् ॥ ३७ ॥

हे कुरुनन्दन ! तब नरराज सत्यप्रतिज्ञा करनेवाला जरासन्ध झूठा वेश धारण करनेके कारण श्रीकृष्णादिकी निन्दा करते हुए बोला ॥ ३७ ॥

न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन्विदितं मम सर्वशः ॥ ३८ ॥
ते यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याघातलक्षणैः ।
बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ ॥ ३९ ॥

सब प्रकारसे मुझे विदित है, कि इस संसारमें स्नातक व्रतधारी ब्राह्मण गृहस्थ धर्ममें प्रविष्ट होनेसे पहले माला धारण नहीं करते; शरीर पर लेपन भी नहीं करते, पर तुम फूल लगाये हो, और तुम्हारी भुजाओंमें धनुषकी डोरीके चिन्ह बने हुए हैं; तुममें क्षत्रिय तेज है, उस पर भी तुम कहते हो कि तुम ब्राह्मण हो ॥ ३८-३९ ॥

एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४० ॥

ऐसे विचित्र रागयुक्त चीर पहिने और बाहरसे माला पहने और गन्ध लगाये हुए तुम कौन हो ? सच सच बताओ, क्योंकि राजाओंके लिये सत्य बोलना ही शोभा देता है ॥ ४० ॥

चैत्यकं च गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिव सद्म नः ।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥ ४१ ॥

तुम राजाके अपराध करनेका भय न रखकर चैत्यक और पर्वतकी चोटीको तोडकर तुम निर्भय होकर इस घरमें गलत दरवाजेसे क्यों घुसे हो ? ॥ ४१ ॥

कर्म चैतद्विलिङ्गस्थं किं वाद्य प्रसमीक्षितम् ।
वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणका वीर्य बातहीसे प्रकट होता है कार्यसे नहीं, अतः तुम्हारा यह कार्य ब्राह्मणके विरुद्ध अर्थात् क्षत्रिय-योग्य हुआ है । अतएव कहो, कि आज तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? ॥ ४२ ॥

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम् ।
प्रणीतां नो न गृह्णीत कार्यं किं चास्मदागमे ॥ ४३ ॥

तुम इस अनुचित मार्गसे मेरे पास आकर मेरे द्वारा विधिपूर्वक दी गई पूजाको स्वीकार क्यों नहीं करते हो और मेरे पास आनेका तुम्हारा प्रयोजन क्या है ? ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४४ ॥

जरासन्धके ऐसे कहने पर महामनस्वी, बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने कोमल और गम्भीर स्वरसे उत्तर दिया ॥ ४४ ॥

स्नातकव्रतिनो राजन्ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों ही वर्ण स्नातकके नियमसे रह सकते हैं और उनमें कुछ सामान्य नियम होते हैं और कुछ विशेष नियम भी होते हैं अर्थात् कुछ ऐसे होते हैं, जो तीनों ही वर्णोंके लिए लागू हो सकते हैं, और कुछ ऐसे नियम होते हैं कि जिनका पालन उस उस वर्णका व्यक्ति ही कर सकता है ॥ ४५ ॥

विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमर्छति ।
पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम् ॥ ४६ ॥

और उनमें विशेष नियमोंका पालन करनेवाले क्षत्रिय सदा सौभाग्य प्राप्त करते हैं । फूल लगानेवालों जनोंमें निश्चयसे श्री रहती है, अतः हमने फूलहार पहने हैं ॥ ४६ ॥

क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद्बार्हद्रथे स्मृतम् ॥ ४७ ॥

हे बृहद्रथपुत्र ! क्षत्रिय लोगोंका पराक्रम जितना भुजाओंमें रहता है उतना उनकी बातोंमें नहीं, अतएव उनके द्वारा बोले गए वचन कभी प्रगल्भ नहीं होते ॥ ४७ ॥

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां च बाह्वोर्धाता न्यवेशयत् ।
तद्दिदृक्षसि चेद्राजन्द्रष्टाऽस्यद्य न संशयः ॥ ४८ ॥

हे महाराज ! विधाताने क्षत्रियोंकी दोनों भुजाओंमें ही अपना वीर्य भर दिया है; हे राजन् ! यदि वह देखना चाहो तो उसे आज ही देखोगे । इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ४८ ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहम् ।
प्रविशन्ति सदा सन्तो द्वारं नो वर्जितं ततः ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान् जन शत्रुके घरमें गलत द्वारसे और बन्धुके गृहमें अच्छे द्वारसे घुसते हैं, अतः गलत द्वारसे आना हमारे लिए अनुचित नहीं था ॥ ४९ ॥

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम् ।
प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ७३१ ॥

यह भी जान लो, कि कार्यसिद्धिकी चाहसे शत्रुके घरमें घुसकर हम उसकी दी हुई पूजा नहीं लेते, यह हमारा सदासे प्रसिद्ध नियम है ॥ ५० ॥

महाभारतके सभापर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ७३१ ॥

: २० :

जरासन्ध उवाच—

न स्मरेयं कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥

जरासन्ध बोले– हे विप्रवर्ग ! स्मरण नहीं आता, कि मैंने तुमसे कब शत्रुता की है और मैंने तुमसे कभी बुराई की हो, यह बारबार सोचने पर भी मेरे स्मरणमें नहीं आता ॥ १ ॥

वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम् ।
अरिं विब्रूत तद् विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥

और यदि मैंने हानि की ही नहीं तो निरपराधी मुझको तुम अपना दुश्मन क्यों मानते हो ? यह बात मुझे समझाओ, क्योंकि सत्य कहना ही साधुओंका नियम है ॥ २ ॥

अर्थधर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते ।
योऽनागसि प्रसृजति क्षत्रियोऽपि न संशयः ॥ ३ ॥
अतोऽन्यथाचरँल्लोके धर्मज्ञः सन्महाव्रतः ।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥

धर्म और अर्थको हानि पहुंचानेसे मन दुःखी हो जाता है, अतः महाव्रती क्षत्रिय और धर्मका जानकार होकर निर्दोषी जन पर व्यर्थ आरोप लगता है, वह बिना सन्देह पापियोंकी गतिको प्राप्त करता है और कल्याणसे भी अपनेको हटा लेता है ॥ ३–४ ॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्माद्धि श्रेयांसं साधुचारिणाम् ।
अनागसं प्रजानानाः प्रमादादिव जल्पथ ॥ ५ ॥

त्रिलोकभरमें क्षत्रिय-धर्मसे उत्तम आचरण करनेवालोंको कल्याण पहुंचता है; मैंने प्रजा की कोई हानि नहीं की है, इससे निश्चय जान पडता है, कि तुम भ्रमवश ऐसे बडबडा रहे हो ॥५॥

वासुदेव उवाच—

कुलकार्यं महाराज कश्चिदेकः कुलोद्वहः ।
वहते तन्नियोगाद्वै वयमभ्युत्थितास्त्रयः ॥ ६ ॥

वासुदेव बोले— हे महाराज ! कुलप्रवर कोई एक पुरुष कुलकार्यको वहन करते हैं, उन्हींकी आज्ञासे हम तीनों उद्योग करते हैं ॥ ६ ॥

त्वया चोपहृता राजन्क्षत्रिया लोकवासिनः ।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किं त्वनागसम् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! तुम जनसमाजके सब क्षत्रियोंको बलपूर्वक पकड लाये हो, ऐसा अति कुटिल पाप करके भी अपनेको निर्दोषी कैसे समझ रहे हो ? ॥ ७ ॥

राजा राज्ञः कथं साधून्हिंस्यान्नृपतिसत्तम ।
तद्राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ८ ॥

हे नृपवर ! एक उत्तम राजा साधु राजाओंकी हिंसा कैसे कर सकता है ? पर तुम उन राजाओंको पकडकर रुद्रदेवके नामसे बलि चढाना चाहते हो ॥ ८ ॥

अस्मांस्तदेनो गच्छेत त्वया बार्हद्रथे कृतम् ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ ९ ॥

हे जरासन्ध ! तुम्हारा किया वह पाप हमको भी स्पर्श कर सकता है, क्योंकि हम धर्मका आचरण करनेवाले हैं, और धर्मकी रक्षामें भी समर्थ हैं ॥ ९ ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ १० ॥

बलि चढानेके लिये नरहत्या तो कभी देखी नहीं गयी, फिर तुम क्यों नरबलिके द्वारा शङ्करके नामसे यज्ञ करना चाहते हो ? ॥ १० ॥

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यति ।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासन्ध वृथामतिः ॥ ११ ॥

जरासन्ध ! तुम बडे मूर्ख हो, इसीलिये सवर्ण होकर सवर्णोंको पशुका नाम देना चाहते हो । ऐसा काम तुम्हारे बिना दूसरा कौन कर सकता है ? ॥ ११ ॥

×

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनियन्तुमिहागताः ॥ १२ ॥

अतएव हम भयभीत जनोंका पक्ष लेकर ज्ञातियोंकी वृद्धिके लिये, ज्ञातियोंका नाश करनेवाले तुम पर शासन करनेके लिये यहां आये हैं ॥ १२ ॥

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव यत्
मन्यसे स च ते राजन्सुमहान्बुद्धिविप्लवः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! तुम जो यह समझते हो कि क्षत्रियोंमें तुम्हारे बिना दूसरा कोई वीर नहीं है, वह केवल तुम्हारी बुद्धिकी हीनता है ॥ १३ ॥

को हि जानन्नभिजनमात्मवान्क्षत्रियो नृप।
नाविशेत्स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १४ ॥

अपनी वंशमर्यादाको समझनेवाला कौन आत्मवान् क्षत्रिय रणमें प्राण छोडकर अनन्त और अक्षय स्वर्गको पाना नहीं चाहता होगा ? ॥ १४ ॥

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
यजन्ते क्षत्रिया लोकांस्तद्विद्धि मगधाधिप ॥ १५ ॥

हे नरवर ! तुम यह निश्चय जानते हो, कि स्वर्गके उद्देशसे ही क्षत्रियगण रणयज्ञमें दीक्षित होकर शत्रुओंको परास्त करते हैं। स्वर्ग जानेका उद्देश्य सामने रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय लोकोंका यज्ञ करते हैं, यह बात ध्यानमें रखो ॥ १५ ॥

स्वर्गयोनिर्जयो राजन् स्वर्गयोनिर्महद्यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मार्गः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! उत्तम वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका साधन है, महान् यज्ञ स्वर्गप्राप्तिका साधन है और तपश्चर्या भी स्वर्गप्राप्तिका साधन है, पर युद्धमें मरना स्वर्गप्राप्तिका एक अचूक साधन है ॥ १६ ॥

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणो नित्यं समाहितः।
येनासुरान्पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १७ ॥

युद्धमें मृत्यु साक्षात् इन्द्रकी कृपाके समान है, यह सदा गुणोंसे भरी हुई है; ऐसी मृत्युको प्राप्त करके ही इन्द्र दैत्योंको परास्त करके जगका पालन करते हैं ॥ १७ ॥

स्वर्गमास्थाय कस्य स्याद्विग्रहित्वं यथा तव।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितैः ॥ १८ ॥

हे महाराज ! स्वर्गकी चाह करनेवाला कौन व्यक्ति स्वर्ग पहुंचानेवाले मार्गसे विरोध करेगा, जैसा तुम करते हो। क्योंकि अगणित मागधी सेनाओंकी सहायता पानेके कारण अहंकारी होकर ॥ १८ ॥

मावमंस्थाः परान्राजन्नास्ति वीर्यं नरे नरे ।
समं तेजस्त्वया चैव केवलं मनुजेश्वर ॥ १९ ॥

हे नरनाथ ! तुम दूसरे लोकोंका अनादर मत करो, क्योंकि हर मनुष्यमें वीर्य नहीं होता । ऐसे कितने ही मनुष्य विद्यमान हैं, जो तुम्हारे समान वीर्यवान् हैं ? ॥ १९ ॥

यावदेव न संबुद्धं तावदेव भवेत्तव ।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन्ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

यह बात जबतक अविदित है, तब तक तुम्हारा तेज सर्वश्रेष्ठ गिना जा सकता है, पर हे महाराज ! यह तेज हमारे लिए बहुत असह्य है, इसीलिये मैं ऐसा कहता हूं ॥ २० ॥

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २१ ॥

हे मागध ! तुम अपने समान जनोंसे अभिमान और दर्प करना छोड दो और इस प्रकार पुत्र, मन्त्री और सेनाओंके साथ यमराजके घर मत जाओ अर्थात् मंत्री और सेना सहित तुम्हारा नाश न हो ॥ २१ ॥

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः ।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २२ ॥

अहङ्कारसे उत्पन्न कार्तवीर्य, उत्तर, बृहद्रथ आदि बली भूप अपनेसे बडे लोगोंका अपमान करनेके कारण मारे गये हैं ॥ २२ ॥

मुमुक्षमाणास्त्वत्तश्च न वयं ब्राह्मणब्रुवाः ।
शौरिरस्मि हृषिकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ॥ २३ ॥

तुमसे राजाओंको छुडानेकी इच्छा करनेवाले हम वास्तवमें ब्राह्मण नहीं है । मैं हृषीकेश कृष्ण हूं और यह दो वीर पाण्डुके पुत्र हैं ॥ २३ ॥

त्वामाह्वयामहे राजन्स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन्सर्वान्मागमस्त्वं यमक्षयम् ॥ २४ ॥

हे मगधनाथ ! हम तुमको ललकारते हैं, स्थिर होकर युद्ध करो अथवा सब राजाओंको छोड दो और इस प्रकार यमराजके घर मत जाओ ॥ २४ ॥

जरासन्ध उवाच—

नाजितान्वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
जितः कः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २५ ॥

जरासंध बोला—अहो कृष्ण ! मैं बिना जय किये किसी राजाको नहीं पकडता, बिना हारे क्या कोई भी यहां बंधा रहता है ? और ऐसा क्षत्रिय ही यहां कौन है, जो मुझसे पराजित नहीं हुआ ॥ २५ ॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम्।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत्समाचरेत् ॥ २६ ॥

हे कृष्ण! यही क्षत्रियोंका उपजीव्य धर्म कहा गया है, कि विक्रमसे शत्रुओंको वशमें लाये और उनके साथ जैसा चाहे व्यवहार करे ॥ २६ ॥

देवतार्थमुपाकृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात्।
अहमद्य विमुञ्चेयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २७ ॥

अतएव, कृष्ण! मैं देवताओंके लिए क्षत्रियोंको पकडकर लाया हूं, अतः अब क्षत्रिय धर्मका स्मरण करके भयभीत होकर उन्हें कैसे छोड दूं? ॥ २७ ॥

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत्पृथगेव वा ॥ २८ ॥

पर जो तुम युद्धकी बात कहते हो, मैं व्यूहयुक्त सेनाओंसे अथवा अकेले एकसे, दोसे वा तीनसे एकबार ही वा अलग अलग चाहे जैसे हो लडनेको सम्मत हूं ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवाभिषेचनम्।
आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ २९ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा जरासन्धने यह कहकर भयावने कर्म करनेवाले कृष्णादिके साथ युद्ध करनेकी अभिलाषासे अपने पुत्र सहदेवको राज्यमें बिठानेकी आज्ञा दी ॥ २९ ॥

स तु सेनापती राजा सस्मार भरतर्षभ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन्युद्ध उपस्थिते ॥ ३० ॥

हे भरतश्रेष्ठ! उस युद्धमें उपस्थित होने पर उसने कौशिक और चित्रसेन नामक सेनापतियोंको स्मरण किया ॥ ३० ॥

ययोस्ते नामनी लोके हंसेति डिभकेति च।
पूर्वसंकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३१ ॥

हे महाराज! पहिले इस नरलोकमें लोगोंने उनके ही हंस और डिभक यह लोक प्रख्यात नाम रखे हुए थे ॥ ३१ ॥

तं तु राजन्विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम्।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३२ ॥

हे राजन्! वह राजा जरासंध बलवानोंमें श्रेष्ठ और बाघके समान पराक्रमी है, यह बात पुरुषव्याघ्र और सामर्थ्यशाली कृष्णको स्मरण हो आया ॥ ३२ ॥

सत्यसन्धो जरासन्धं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टं वध्यं भूमिभृदच्युतः ॥ ३३ ॥

जरासंध भूलोकमें भयंकर पराक्रमी है और वह दूसरेका हिस्सा है यह बात भी इस समय सत्यशील राजा कृष्णके ध्यानमें आई ॥ ३३ ॥

नात्मनात्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्रह्मणोऽऽज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ ७६५ ॥

इसलिए आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, बलरामके छोटे भाई, मधुसूदन श्रीकृष्णने ब्रह्माकी आज्ञा पालनेके लिये स्वयं उसे नष्ट करना नहीं चाहा ॥ ३४ ॥

महाभारतके सभापर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ ७६५ ॥

: २१ :

वैशम्पायन उवाच—

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः ।
उवाच वाग्मी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब उत्तम रीतिसे बोलनेवाले यदुनन्दन श्रीकृष्णने युद्ध करनेके लिए प्रण ठाने हुए राजा जरासन्धसे यह पूछा ॥ १ ॥

त्रयाणां केन ते राजन्योद्धुं वितरते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥

हे महाराज ! हम तीनोंमेंसे किससे तुम लडना चाहते हो ? हम तीनोंमेंसे कौन तुम्हारे साथ युद्ध करनेके लिए तैय्यार हो जाए ? ॥ २ ॥

एवमुक्तः स कृष्णेन युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।
जरासंधस्ततो राजन्भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उस तेजस्वी मगधराजा जरासन्धने भीमसे लडना चाहा ॥ ३ ॥

धारयन्नगदान्मुख्यान्निर्वृतीर्वेदनानि च ।
उपतस्थे जरासन्धं युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥ ४ ॥

तब पुरोहित मुख्य मुख्य औषध, सुखकारक और बेहोश हो जानेपर होशमें लानेवाले औषध लेकर युद्धेच्छुक राजा जरासन्धके पास आया ॥ ४ ॥

कृतस्वस्त्ययनो विद्वान्ब्राह्मणेन यशस्विना।
समनह्यज्जरासन्धः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ५ ॥

वह विद्वान् जरासन्ध यशस्वी ब्राह्मणोंसे स्वस्त्ययन किये जानेके बाद क्षत्रिय धर्मका पालन करते हुए युद्धके लिए तैय्यार हुआ ॥ ५ ॥

अवमुच्य किरीटं स केशान्समनुमृज्य च।
उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवार्णवः ॥ ६ ॥

वह किरीट उतारकर और बालोंको रगडकर किनारोंको हिलोडते हुए समुद्रके समान वेगसे उठ खडा हुआ ॥ ६ ॥

उवाच मतिमान्राजा भीमं भीमपराक्रमम्।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥

और वह बुद्धिमान् और भयंकर पराक्रम करनेवाला राजा जरासन्ध भीमसे बोला, भीम! तुमसे लडूंगा, क्योंकि श्रेष्ठ जनसे हारना भी अच्छा है ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेनमरिन्दमः।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बलिरिवासुरः ॥ ८ ॥

शत्रुनाशी अति तेजस्वी जरासन्ध यह कहके, बलि नामक दैत्य जैसे इन्द्र पर दौडा था, वैसे ही भीमकी ओर दौडा ॥ ८ ॥

ततः संमन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली।
भीमसेनो जरासन्धमाससाद युयुत्सया ॥ ९ ॥

तब बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णसे परामर्श कर और उनसे स्वस्त्ययन किये जाकर लडनेकी इच्छासे जरासन्धके पास जा पहुंचे ॥ ९ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥ १० ॥

एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले, भुजाओंको ही शस्त्र माने हुए वे दोनों नरशार्दूल वीर अति प्रमुदित चित्तसे एक दूसरेसे भिड गये ॥ १० ॥

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात्तथा।
आसीत्सुभीमसंह्रादो वज्रपर्वतयोरिव ॥ ११ ॥

तब लडते हुए उन वीरोंके मुक्के और पासमें खींचने तथा दूर ढकेलनेसे उत्पन्न हुआ हुआ शब्द ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वज्र और पहाड आपसमें टकरा रहे हों ॥ ११ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेनातिबलावुभौ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ १२ ॥

वे दोनों महाबली परस्पर विजयेच्छु थे, और युद्धमें अति प्रसन्न होते थे और दोनों एक दूसरेसे बढकर बलशाली थे, अतः दोनों एक दूसरेकी कमजोरी देख रहे थे ॥ १२ ॥

तद्भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपह्वरे।
बलिनोः संयुगे राजन्वृत्रवासवयोरिव ॥ १३ ॥

हे महाराज! इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धमें जैसा हुआ था, वैसे ही अखाडेसे लोगोंको हटाकर भीम और जरासन्धकी वह भयंकर लडाई होने लगी ॥ १३ ॥

प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामभ्याकर्षविकर्षणैः।
आकर्षेतां तथान्योन्यं जानुभिश्चाभिजघ्नतुः ॥ १४ ॥

प्रकर्षण, आकर्षण, अनुकर्षण, विकर्षण आदि बहुविध पेंचोंसे एक दूसरेको खींचने और घुटनोंसे चोट पहुंचाने लगे ॥ १४ ॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ १५ ॥

तब वे दोनों वीर अति घोर शब्दसे एक दूसरेकी निन्दा करते हुए पत्थरके समान कठोर प्रहारोंसे एक दूसरेको मारने लगे ॥ १५ ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ १६ ॥

विशाल छातीवाले, लम्बी लम्बी भुजाओंवाले और युद्ध करनेमें कुशल वे दोनों लोहेके परिघके समान भुजाओंसे एक दूसरेको पीसने लगे ॥ १६ ॥

कार्त्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्ते प्रथमेऽहनि।
अनारतं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ १७ ॥
तद्वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥ १८ ॥

महात्मा भीम और जरासन्धकी वैसी लडाई कार्त्तिक मासकी प्रथमा तिथिमें आरम्भ होकर त्रयोदशी तक निशिदिन बिना रोकटोक और बिना विश्राम लिए चली थी, इसके बाद चतुर्दशी की रातको जरासन्धने थककर पैर पीछे हटाया ॥ १७-१८ ॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः।
उवाच भीमकर्माणं भीमं संबोधयन्निव ॥ १९ ॥

हे राजन्! जनार्दन कृष्ण उस राजाको युद्धमें थका हुआ देखकर भयंकर काम करनेवाले भीमको उत्साहित करनेके लिये बोले ॥ १९ ॥

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे।
पीडयमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन! युद्धमें थके हुए शत्रुको पीडा देना उचित नहीं, क्योंकि पूर्ण रूपसे पीडित होनेसे वह अपना जीवन भी छोड सकता है॥ २० ॥

तस्मात्ते नैव कौन्तेय पीडनीयो नराधिपः।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ २१ ॥

अतः इस दशामें तुम्हें राजाको भी पीडा नहीं देनी चाहिये, इसलिए, हे भरतश्रेष्ठ! तुम अपनी भुजाओंसे तुल्यभावसे इनके साथ लडो॥ २१ ॥

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा।
जरासंधस्य तद्रन्ध्रं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णके इशारेसे ऐसा कहने पर शत्रुनाशी पाण्डुपुत्र वृकोदरने जरासन्धकी वह कमजोरी समझकर उसको मारनेका निश्चय किया॥ २२ ॥

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः।
संरभ्य बलिनां मुख्यो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ ७८८ ॥

तब औरोंके द्वारा जीतनेके लिए अयोग्य उस जरासन्धको मारनेके लिये बलियोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दनने उसे पकड लिया॥ २३ ॥

महाभारतके सभापर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ ७८८ ॥

: २२ :

वैशम्पायन उवाच—

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम्।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासंधं जिघांसया ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उसके बाद भीमसेन जरासन्धको नष्ट करनेकी इच्छासे बहुत ही कुशलताका आसरा लेकर यदुनन्दन श्रीकृष्णसे बोले॥ १ ॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम्।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धवङ्क्षणवाससा ॥ २ ॥

हे यदुशार्दूल कृष्ण! यद्यपि मैं कमर कसकर तैय्यार हूं फिर भी इस पापीका मेरे द्वारा मारा जाना उचित नहीं है॥ २ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन्पुरुषव्याघ्रो जरासंधवधेप्सया ॥ ३ ॥

भीमके इस प्रकार कहने पर पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णने जरासन्धके वधके लिये उनको प्रेरित करते हुए यह उत्तर दिया ॥ ३ ॥

यत्ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम जरासंधे दर्शयाशु तदद्य नः ॥ ४ ॥

हे भीम ! तुम्हारा जो परम दैवी बल है और पवनसे तुमने जो बल प्राप्त किया है, वह बल हमारे सामने आज जरासन्ध पर शीघ्र दिखलाओ ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासंधमरिन्दमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयद्राजन्बलवन्तं महाबलः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! कृष्णके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर शत्रुनाशी महाबली भीमसेन बलवान् जरासन्धको ऊंचे उठाकर घुमाने लगे ॥ ५ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणं भुजाभ्यां भरतर्षभ ।
बभञ्ज पृष्ठे संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ॥ ६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! भीमने उस जरासंधको सौ बार घुमाकर भुजाओंसे उसकी पीठ झुकाकर तोड डाली; इस प्रकार उसको पीसकर गंभीर गर्जना करने लगे ॥ ६ ॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।
अभवत्तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः ॥ ७ ॥

पीसे जाते हुए उस जरासन्ध और गरजते हुए भीमका सब प्राणियोंको भय देनेवाला बडा भयंकर शब्द उठा ॥ ७ ॥

वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः ।
भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ॥ ८ ॥

भीमसेन और जरासंधकी उस आवाजसे सब मगधवाले डर गये और गर्भवती स्त्रियोंका गर्भ भी गिर गया ॥ ८ ॥

किं नु स्विद्धिमवान्भिन्नः किं नु स्विद्दीर्यते मही ।
इति स्म मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निस्वनात् ॥ ९ ॥

भीमसेनकी उस ध्वनिको सुनकर मगधियोंने यह समझा, कि कहीं हिमाचल तो नहीं टूट गया अथवा धरती तो नहीं फट रही ॥ ९ ॥

×

ततो राजकुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
राञौ परासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ॥ १० ॥

इसके बाद शत्रुनाशी वे तीनों रात्रिके समय प्राण छोडे हुए उस जरासन्धको सोतेकी भांति राजद्वार पर छोडकर वहांसे निकल पडे ॥ १० ॥

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णने जरासन्धके ध्वजासहित रथको जोत कर उस पर चढकर और भीमार्जुनको चढाकर अपने बान्धवोंको कारागारसे छुडाया ॥ ११ ॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हं पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १२ ॥

राजाओंके वर्गने बडे भयसे छुडाये जाकर रत्नोंको प्राप्त करने योग्य श्रीकृष्णके सामने आकर उनको नाना रत्नोंका उपहार देकर प्रसन्न किया ॥ १२ ॥

अक्षतः शस्त्रसंपन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १३ ॥

अक्षत, शस्त्रधारी, शत्रुओंको जिन्होंने जीत लिया है, ऐसे कृष्ण राजाओंके साथ उस दिव्य रथ पर बैठकर गिरिव्रजसे निकल गये ॥ १३ ॥

यः स सोदर्यवान्नाम द्वियोधः कृष्णसारथिः ।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १४ ॥

जो दोनों हाथोंसे बाण छोडता है कृष्ण जिसके सारथि हैं, जो धनुर्विद्यामें बडा निपुण है और जो सब क्षत्रियों द्वारा अजेय है, ऐसा वह सुन्दर अर्जुन सचमुच (भीमके कारण) भाईवाला हुआ ॥ १४ ॥

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १५ ॥

उत्तम योद्धा भीम और अर्जुनके चढने और श्रीकृष्णके सारथि होने पर सब धनुर्धारियोंके लिए अजेय वह रथ बहुत शोभित हुआ ॥ १५ ॥

शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये ।
रथेन तेन तं कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥ १६ ॥

तारकामय युद्धमें इन्द्र और उपेन्द्र विष्णु जिस रथ पर चढकर घूमते थे, उसी रथ पर अब श्रीकृष्ण चढकर चले ॥ १६ ॥

---

१ बृहस्पतीकी पत्नी ताराको चन्द्र भगा ले गया, इस कारण देव और दैत्योंमें युद्ध छिड गया । वह तारा (तारका) आमय अर्थात् रोगके समान देव और दैत्योंके नाशका कारण बनी, इसीलिए वह युद्ध " तारकामय " कहलाता है (भागवत ९।१४)

तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना ।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणामित्रघातिना ॥ १७ ॥

येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव ।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १८ ॥

तपे हुए सोनेकी कान्तिवाले, किङ्किणीजालकी मालासे सम्पन्न, बादलके गर्जनेके समान आवाजवाले, शत्रुको जीतनेवाले जिस रथ पर चढकर इन्द्रने निन्यानवे दानवोंका हनन किया था, पुरुषश्रेष्ठ कृष्णादि वह रथ पाकर अति हर्षित हुए ॥ १७–१८ ॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ १९ ॥

तब भीम और अर्जुनके साथ महाबाहु श्रीकृष्णको उस रथमें बैठा देखकर मगधनिवासी अचम्भेमें पड गये ॥ १९ ॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ॥ २० ॥

हे भरतनन्दन ! वेगमें वायुके समान वह रथ दिव्य घोडोंसे युक्त होकर तथा कृष्णके बैठने पर बहुत शोभित हुआ ॥ २० ॥

असङ्गी देवविहितस्तस्मिन्रथवरे ध्वजः ।
योजनाद्ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २१ ॥

उस रथमें देवताओंसे बनाई गई इन्द्र धनुषकी प्रभाकी भांति सुन्दर तथा बिना किसी सहारेके टिकी हुई एक अच्छी ध्वजा इतनी ऊंचाई पर लगी हुई थी, कि वह योजन भरकी दूरीसे दीख पडती थी ॥ २१ ॥

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् ।
क्षणे तस्मिन्स तेनासीच्चैत्ययूप इवोच्छ्रितः ॥ २२ ॥

अनन्तर श्रीकृष्णने गरुडका स्मरण किया और गरुड भी उसी क्षण आकर उपस्थित हो गया, उस गरुडके कारण ऊंचा होने पर वह रथ चैत्ययूपके समान दिखाई देने लगा ॥ २२ ॥

व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।
तस्थौ रथवरे तस्मिन् गरुत्मान्पन्नगाशनः ॥ २३ ॥

मुंह फाडकर भयंकर शब्द करते हुए ध्वजाका आश्रय लेनेवाले भूतोंके साथ वह सर्पभक्षक गरुड उस उत्तम रथ पर आकर बैठ गया ॥ २३ ॥

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २४ ॥

उसके बैठनेसे वह रथ सहस्रों किरणोंसे युक्त मध्याह्नकालिक सूर्यकी भांति अत्यधिक तेजके कारण प्राणियोंके द्वारा देखनेके अयोग्य बन गया ॥ २४ ॥

न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते।
दिव्यो ध्वजवरो राजन्दृश्यते देवमानुषैः ॥ २५ ॥

हे महाराज ! वह ध्वजा न तो वृक्षोंसे लगती और न शस्त्रोंसे विद्ध होती थी। वह श्रेष्ठ ध्वजा बडी दिव्य थी, तो भी देव और मनुष्य उसको देखते थे ॥ २५ ॥

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिस्वनम्।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ॥ २६ ॥
यं लेभे वासवाद्राजा वसुस्तस्माद्बृहद्रथः।
बृहद्रथात्क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृपम् ॥ २७ ॥

राजा वसुने जिसे इन्द्रसे प्राप्त किया था, वसुसे बृहद्रथने जिसे पाया था और बृहद्रथके बाद जो जरासन्धको मिला था, उस मेघके समान गंभीर आवाज करनेवाले दिव्य रथ पर बैठकर पुरुषव्याघ्र कृष्ण भीम और अर्जुनके साथ पुरीसे निकले ॥ २६-२७ ॥

स निर्ययौ महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः।
गिरिव्रजाद्बहिस्तस्थौ समे देशे महायशाः ॥ २८ ॥

तब महाबाहु तथा कमलके समान आंखोंवाले श्रीकृष्ण उस रथ पर बैठकर चले और गिरिव्रजसे बाहर निकल कर एक समतल प्रदेशमें आकर रुक गए ॥ २८ ॥

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २९ ॥

हे महाराज ! उस नगरके वासी ब्राह्मणादि लोग विधिके अनुसार कर्मसे सत्कार करनेके पदार्थ लेकर उनके पास आए ॥ २९ ॥

बन्धनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम्।
पूजयामासुरूचुश्च सांत्वपूर्वमिदं वचः ॥ ३० ॥

बन्धनसे छुडाए गए भूपोंने भी कृष्णकी पूजा की। इसके बाद राजाओंने सांत्वना देते हुए उनसे यह वचन कहा ॥ ३० ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दन ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य परिपालनम् ॥ ३१ ॥

जरासंधह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य ते ॥ ३२ ॥

हे महाबाहो देवकीनन्दन कृष्ण ! जरासंध रुपी तालाबके घोर दुःखरुपी कीचडमें फंसे हुए राजाओंका आज तुमने जो उद्धार किया है, इस प्रकार जो धर्मका पालन किया है, वह भीम और अर्जुनके बलसे युक्त तुम्हारे लिए कोई आश्चर्यका काम नहीं है ॥ ३१-३२ ॥

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोक्षाद्यशो दीप्तमाप्तं ते पुरुषोत्तम ॥ ३३ ॥

हे विश्वभरमें व्याप्त पुरुषोत्तम ! हम भयंकर गिरिदुर्गमें बहुत उदास होकर पडे हुए थे, बडे भाग्यसे आपने हमको छुडा कर प्रदीप्त यश प्राप्त किया है ॥ ३३ ॥

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र ब्रवीहि पुरुषर्षभ ।
कृतमित्येव तज्ज्ञेयं नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप आज्ञा दीजिये कि हम क्या करें ? आप जो कार्य करनेको कहेंगे, वह करनेके अयोग्य होने पर भी यह समझ लीजिये, कि भूपोंने कर दिया है ॥ ३४ ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३५ ॥

महामनस्वी हृषीकेश कृष्ण उनको ढाढस देकर बोले- युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं ॥ ३५ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्यज्ञार्थे साहाय्यं दीयतामिति ॥ ३६ ॥

साम्राज्यपद प्राप्त करनेकी इच्छासे वह यह यज्ञ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, अतः उस यज्ञमें आप सब उनकी सहायता करें ॥ ३६ ॥

ततः प्रतीतमनसस्ते नृपा भरतर्षभ ।
तथेत्येवाब्रुवन्सर्वे प्रतिजग्रुश्च तां गिरम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर वे राजा लोग प्रसन्न मनसे उनकी वह बात मानकर यह बोले- ' सब वही करेंगे ' ॥ ३७ ॥

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३८ ॥

इसके बाद उन राजाओंने उन दाशार्ह श्रीकृष्णको अनेक तरहके रत्न प्रदान किए, श्रीकृष्णने उन राजाओंपर दया करते हुए बड़ी कठिनाईसे वे रत्न लिए ॥ ३८ ॥

जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महारथः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ३९ ॥

जरासन्धका पुत्र महारथी सहदेव भी पुरोहितको आगे कर मन्त्री और सज्जनोंके साथ निकले ॥ ३९ ॥

स नीचैः प्रश्रितो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४० ॥

और वे सहदेव अति नम्रतासे प्रणाम कर बहुत रत्न लेकर नरश्रेष्ठ वासुदेवके पास आकर खडे हो गए ॥ ४० ॥

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा ।
अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं तदा ॥ ४१ ॥

तब श्रीकृष्णने उस भयभीत जरासन्धके पुत्र सहदेवको अभय देकर हर्ष सहित उसी स्थान पर उसको अभिषिक्त कर दिया ॥ ४१ ॥

गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ।
विवेश राजा मतिमान्पुनर्बार्हद्रथं पुरम् ॥ ४२ ॥

बुद्धिमान् जरासन्धनन्दन सहदेव श्रीकृष्ण, भीम तथा अर्जुनसे सत्कार सहित मित्रता प्राप्त करके बृहद्रथके पुत्र जरासंधकी नगरीमें गया ॥ ४२ ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया ज्वलन् ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुष्करेक्षणः ॥ ४३ ॥

इधर कमलनयन श्रीकृष्ण भी भीम अर्जुनके साथ बहुत तेजसे प्रदीप्त होते हुए असंख्य रत्न लेकर चले गए ॥ ४३ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४४ ॥

इसके बाद अच्युत श्रीकृष्ण भीम अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें पहुंच कर धर्मराजके सामने जाकर प्रसन्न चित्तसे बोले ॥ ४४ ॥

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासन्धो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चेमे बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! सौभाग्यसे भीमसेनने बलवान् जरासन्धको नष्ट कर दिया है और राजगणको भी बन्धनसे मुक्त कर दिया है ॥ ४५ ॥

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४६ ॥

हे भारत! बडे भाग्यसे ये दोनों भीम अर्जुन कुशल सहित अक्षत देहसे नगरको लौट आये हैं॥ ४६॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४७ ॥

इसके बाद युधिष्ठिरने परम प्रसन्न चित्तसे श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार कर उनको और भीम अर्जुनको गले लगाया ॥ ४७ ॥

ततः क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ४८ ॥

जरासन्धके मारे जानेपर अजातशत्रु युधिष्ठिर दोनों भाईयोंके द्वारा लाये गए जयको पाकर भाइयोंके साथ हर्षित हुए ॥ ४८ ॥

यथावयः समागम्य राजभिस्तैश्च पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ४९ ॥

उन राजाओंके साथ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने अन्य आये हुए राजाओंको अवस्थाके अनुसार आलिङ्गन वन्दनादि कर सत्कार और पूजापूर्वक विदा कर दिया ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५० ॥

सब राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर प्रसन्नमनसे अनेक छोटे बडे यान वाहनों पर अपने अपने देशोंको तुरन्त पधारे ॥ ५० ॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ॥ ५१ ॥

हे भारत ! महाबुद्धि पुरुषशार्दूल जनार्दनने पाण्डवोंके द्वारा अपने शत्रु जरासन्धको इस प्रकारसे मरवा दिया ॥ ५१ ॥

घातयित्वा जरासन्धं बुद्धिपूर्वमरिन्दमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५२ ॥

हे भारत ! वह शत्रुदमन श्रीकृष्ण अपनी बुद्धिसे जरासन्धको मरवा करके धर्मराज, कुन्ती, द्रौपदी, ॥ ५२ ॥

सुभद्रां भीमसेनं च फल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५३ ॥
तेनैव रथमुख्येन तरुणादित्यवर्चसा
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन्दिशः ॥ ५४ ॥

सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, तथा नकुल और सहदेव तथा पुरोहित धौम्य उन सबकी अनुमति लेकर, धर्मराजके द्वारा दिये हुए तरुण सूर्यके समान तेजस्वी उसी रथ पर चढकर चारों दिशाओंको गुंजाते हुए अपने नगरको जानेके लिए उद्यत हुए ॥ ५३–५४ ॥

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तब युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने कर्म करके भी न थकनेवाले श्रीकृष्णकी परिक्रमा की ॥ ५५ ॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञामभयदास्तदा ॥ ५६ ॥
संवर्धितौजसो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन्परां प्रीतिमवर्धयन् ॥ ५७ ॥

इसके बाद राजाओंको अभय देनेवाले देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके महान् जय पाकर चले जानेपर उस कर्मसे पाण्डवोंका यश और भी अधिक बढा । इस कामसे उन्होंने द्रौपदीकी प्रसन्नताको भी बहुत बढाया ॥ ५६–५७ ॥

तस्मिन्काले तु यद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद्राजा धर्मतश्चक्रे राज्यपालनकीर्तिमान् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ समाप्त जरासन्धपर्व ॥ ८४६ ॥

हे भारत ! उस समय, प्रजापालन और धर्मार्थ कामयुक्त जो जो कर्म होने चाहिये थे, यशस्वी राजा युधिष्ठिरने वह सब धर्मपूर्वक किये ॥ ५८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें बाइसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ जरासन्धवधपर्व समाप्त ॥ ८४६ ॥

: २३ :

वैशम्पायन उवाच—

पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुन अच्छा धनुष, दो बडे बडे अक्षय तरकश, रथ, ध्वजा और सभा पाकर युधिष्ठिरसे बोले ॥ १ ॥

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥

महाराज ! धनुष, अस्त्र, बाण, वीर्य, सहायक, भूमि, यश और सेना, यह सब जो मनचाही दुर्लभ वस्तुयें थीं, वह सब मैंने प्राप्त करलीं हैं ॥ २ ॥

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्यास्य विवर्धनम्
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम ॥ ३ ॥

इस दशामें धनका भण्डार बढाना ही मुझको उचित जान पडता है; अतः, हे नृपवर ! मैं सब राजाओंको करदाता बनाऊंगा ॥ ३ ॥

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदरक्षिताम् ।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे तथा शिवे ॥ ४ ॥

शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्तमें कुबेरके द्वारा रक्षित उत्तर दिशाको विजय प्राप्त करनेके लिए जाऊंगा ॥ ४ ॥

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले– धनञ्जयके वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने कोमल और गंभीर स्वरसे उनको उत्तर दिया ॥ ५ ॥

स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान्प्रयाहि भरतर्षभ ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ।
विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्नुहि ॥ ६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ पार्थ ! तुम योग्य विप्रोंसे स्वस्ति कहलाकर शत्रुओंको देने और मित्रोंका आनन्द बढानेके लिए यात्रा करो, अवश्य अभीष्ट लाभ करो; इसमें सन्देह नहीं, कि तुम निश्चयसे विजय पाओगे ॥ ६ ॥

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महता वृतः ।
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहे जानेपर अर्जुन बडी सेनासे घिरकर अग्निदेवके द्वारा दिए हुए अद्भुत काम करनेवाले दिव्य रथ पर चढकर चले ॥ ७ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ।
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजाभिपूजिताः ॥ ८ ॥

उसी प्रकार भीमसेन और पुरुषश्रेष्ठ नकुल और सहदेव भी धर्मराजसे सत्कृत होकर सेनाके साथ चल पडे ॥ ८ ॥

×

दिशं धनपतेरिष्टामजयत्पाकशासनिः।
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ॥ ९ ॥

हे महाराज! इन्द्रके पुत्र अर्जुनने धनपति कुबेरको प्रिय उत्तर दिशाको, भीमने पूर्व दिशाको, सहदेवने दक्षिण दिशाको ॥ ९ ॥

प्रतीचीं नकुलो राजन्दिशं व्यजयदस्त्रवित्।
खाण्डवप्रस्थमध्यास्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

और अस्त्रके जानकर नकुलने पश्चिम दिशाको जीता। धर्मराज युधिष्ठिर खाण्डवप्रस्थमें ही रहे ॥ १० ॥

जनमेजय उवाच—

दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणानुकीर्तय।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ११ ॥

जनमेजय बोले— हे ब्रह्मन्! मेरे पूर्व पुरुषोंके द्वारा दिशाओंके जीतनेका वृत्तान्त विस्तारसे कहें; क्योंकि उनका महान् चरित्र सुन सुनके मेरी तृप्ति नहीं होती ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते।
यौगपद्येन पार्थैर्हि विजितेयं वसुन्धरा ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले— पाण्डवोंने एक साथ ही इस धरतीको जीत लिया था। मैं आपसे पहिले धनञ्जयकी विजयका वृत्तान्त कहता हूं ॥ १२ ॥

पूर्वं कुणिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन्।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १३ ॥

महाभुज धनञ्जयने पहिले कुणिन्ददेशके भूपोंको थोडेसे प्रयत्नसे ही अपने वशमें कर लिया ॥ १३ ॥

आनर्तान्कालकूटांश्च कुणिन्दांश्च विजित्य सः।
सुमण्डलं पापजितं कृतवाननुसैनिकम् ॥ १४ ॥

बादमें आनर्त, कालकूट और कुणिन्दोंको जीतकर पापजित्के सुमण्डलको सेना सहित पराजित किया ॥ १४ ॥

स तेन सहितो राजन्सव्यसाची परंतपः।
विजिग्ये सकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ १५ ॥

हे महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने उस सुमण्डलकी सहायतासे सकलद्वीप और राजा प्रतिविन्ध्यको जीत लिया ॥ १५ ॥

सकलद्वीपवासांश्च सप्तद्वीपे च ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यानां विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ १६ ॥

सकलद्वीपमें और सातद्वीपोंमें जितने राजा राज्य करते हैं, सेना सहित उनसे अर्जुनकी बडी भारी लडाई हुई थी ॥ १६ ॥

स तानपि महेष्वासो विजित्य भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥

पर, हे भरतश्रेष्ठ ! महाधनुर्धारी अर्जुनने उनको भी परास्त किया और उन सबोंके साथ मिलकर प्राग्ज्योतिषदेश पर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

तत्र राजा महानासीद्भगदत्तो विशां पते ।
तेनासीत्सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उस देशमें भगदत्त नामक एक महान् राजा था । उसके साथ महात्मा पाण्डुपुत्र अर्जुनका बहुत बडा युद्ध हुआ ॥ १८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ १९ ॥

प्राग्ज्योतिषका राजा भगदत्त किरात, चीन और सागरके किनारे पर स्थित अनूप देशके अगणित योधाओंसे घिरा हुआ था ॥ १९ ॥

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद्राजा संग्रामे विगतक्लमः ॥ २० ॥

कभी न थकनेवाला वह आठ दिन तक लडनेके बाद राजा भगदत्त युद्धमें धनञ्जयसे हंसते हुए यह बोले ॥ २० ॥

उपपन्नं महाबाहो त्वयि पाण्डवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ २१ ॥

हे महाबाहु पाण्डुनन्दन ! तुम पाकशासन इन्द्रके पुत्र हो, युद्धकी शोभा बढानेवाले हो, अतएव ऐसा वीर्य प्रकट करना तुम्हारे लिए योग्य ही है ॥ २१ ॥

अहं सखा सुरेन्द्रस्य शक्रादनवमो रणे ।
न च शक्नोमि ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥ २२ ॥

हे तात ! मैं महेन्द्रका सखा हूं और युद्धमें भी उनसे कम नहीं हूं, उस पर भी युद्धमें तुम्हारे सामने स्थिर नहीं रह सकता ॥ २२ ॥

किमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि महाबाहो तत्करिष्यामि पुत्रक ॥ २३ ॥

हे महाभुज पाण्डुपुत्र ! अब तुम क्या चाहते हो, कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ? हे पुत्र ! तुम जो कहोगे मैं अवश्य ही वह पूरा करूंगा ॥ २३ ॥

अर्जुन उवाच—

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ॥ २४ ॥

अर्जुन बोले– कुरुओंमें सबसे प्रधान, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हैं, मैं यही चाहता हूं, कि उनको साम्राज्य मिले, अतः आप उनको कर देवें ॥ २४ ॥

भवान्पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च ।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ २५ ॥

आप मेरे पिताके सखा, विशेष कर मुझ पर प्रसन्न हो रहे हैं, अतः आपको मैं आज्ञा नहीं दे सकता, इस कारण आप प्रीतिपूर्वक कर दे दें ॥ २५ ॥

भगदत्त उवाच—

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः ।
सर्वमेतत्करिष्यामि किं चान्यत्करवाणि ते ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ ८७२ ॥

भगदत्त बोले– हे कुन्तीनन्दन ! तुम मेरे जैसे प्रीतिके पात्र हो, राजा युधिष्ठिर भी वैसे ही हैं, अतः मैं अवश्य ही यह सब करूंगा, इसके अलावा कहो, तुम्हारा और क्या प्रिय करूं ? ॥ २६ ॥

महाभारतके सभापर्वमें तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ ८७२ ॥

ः २४ ः

वैशम्पायन उवाच—

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
प्रययावुत्तरां तस्माद्दिशं धनदपालिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पुरुषश्रेष्ठ महाभुज धनञ्जय इस प्रकार प्राग्ज्योतिषको जीत कर कुबेर द्वारा रक्षित उत्तर दिशाकी तरफ बढे ॥ १ ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम् ।
तथोपरिगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ २ ॥

और कुन्तीपुत्र पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने अन्तर्गिरि उसी प्रकार बहिर्गिरि और उपरिगिरिको भी जीत लिया ॥ २ ॥

विजित्य पर्वतान्सर्वान्ये च तत्र नराधिपाः ।
तान्वशे स्थापयित्वा स रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ३ ॥

हे महाराज ! उन्होंने सब पर्वत और वहांके राजाओंको अपने वशमें करके उनसे बहुतसे रत्न लेकर ॥ ३ ॥

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान्नृपान् ।
कुलूतवासिनं राजन्बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ४ ॥
मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ५ ॥

और उन राजाओंको अपना प्रिय बनाकर श्रेष्ठ मृदङ्गोंके समान गंभीर ध्वनि करनेवाले रथके पहियोंकी आहट और हाथियोंके चिंघाडसे धरतीको कंपाते हुए उन सब राजाओंके साथ कुलूतवासी बृहन्तके ऊपर आक्रमण किया ॥ ४–५ ॥

ततो बृहन्तस्तरुणो बलेन चतुरङ्गिणा ।
निष्क्रम्य नगरात्तस्माद्योधयामास पाण्डवम् ॥ ६ ॥

तब तरुण बृहन्त चतुरंगिणी सेनाके साथ उस नगरसे निकलकर पाण्डुपुत्र अर्जुनसे लडने लगा ॥ ६ ॥

सुमहान्संनिपातोऽभूद्धनंजयबृहन्तयोः ।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ७ ॥

तब धनञ्जय और बृहन्तमें बडा भयंकर युद्ध हुआ । पर अन्तमें बृहन्त पाण्डवका विक्रम सहनेमें समर्थ नहीं हुआ ॥ ७ ॥

सोऽविषह्यतमं ज्ञात्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः ।
उपावर्तत दुर्मेधा रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ८ ॥

वह दुष्ट बुद्धिवाला पर्वतराज बृहन्त कुन्तीपुत्रको बहुत असह्य जानकर सब प्रकारके रत्न लेकर उनके पास आया ॥ ८ ॥

स तद्राज्यमवस्थाप्य कुलूतसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन्राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥ ९ ॥

महाराज ! उस राज्यकी व्यवस्था करके अर्जुन राजा कुलूतके साथ आगे बढा और स्वल्पकाल हीमें सेनाबिन्दुको राज्यसे च्युत कर दिया ॥ ९ ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम्।
कुलूतानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ १० ॥

उसके बाद उन्होंने मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल और उत्तर कुलूत देशों और वहांके राजाओंको अपने वशमें किया ॥ १० ॥

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात्।
व्यजयद्धनंजयो राजन्देशान्पञ्च प्रमाणतः ॥ ११ ॥

हे महाराज ! धर्मराजकी आज्ञासे धनंजय अर्जुनने अपने सैनिकोंकी सहायतासे उन पांच राजाओंको परास्त किया ॥ ११ ॥

स दिवःप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं महत्।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत्प्रभुः ॥ १२ ॥

उन समर्थ अर्जुनने सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें पहुंचकर अपनी चतुरंगिणी सेनाके सहित वहां डेरा डाला ॥ १२ ॥

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥

तब उन पराजित राजाओंको साथमें लेकर उन महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने पुरुवंशी नरराज विष्वगश्व पर आक्रमण किया ॥ १३ ॥

विजित्य चाहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान्।
ध्वजिन्या व्यजयद्राजन्पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १४ ॥

और पर्वत परके महारथी शूरवीरोंको रणमें हराकर सेना द्वारा उक्त पौरवके द्वारा सुरक्षित राजधानीको जीत लिया ॥ १४ ॥

पौरवं तु विनिर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥

विष्वगश्वको और पर्वत परके लुटेरोंको युद्धमें जीत कर क्षत्रियश्रेष्ठ पाण्डुनन्दनने उत्सव सङ्केत नामक सात म्लेच्छ जातियोंको जीत लिया ॥ १५ ॥

ततः काश्मीरकान्वीरान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभः।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १६ ॥

इसके बाद उन क्षत्रियश्रेष्ठ अर्जुनने काश्मीर देशके क्षत्रिय वीरोंको और दस छोटे छोटे राजाओंके सहित राजा लोहितको जीत लिया ॥ १६ ॥

ततस्त्रिगर्तान्कौन्तेयो दार्वान्कोकनदाश्च ये।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १७ ॥

हे महाराज ! इसके बाद त्रिगर्त, दार्व, कोकनद आदि नाना देशीय अनेक क्षत्रियवर्ग सब प्रकार कुन्तीपुत्रके वशमें आ गये ॥ १७ ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर कुरुनन्दनने सुन्दर अभिसारी नगरी जीत ली और उरगावासी रोचमानको भी युद्धमें परास्त किया ॥ १८ ॥

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्रामथद्बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ १९ ॥

उसके अनन्तर इन्द्रके पुत्र अर्जुनने राजा चित्रायुधसे रक्षित रमणीय सिंहपुरको अपनी सेनाकी सहायतासे हिलोड डाला ॥ १९ ॥

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत्कुरुनन्दनः ॥ २० ॥

उसके पश्चात् सब सेनाके साथ पाण्डवोंमें श्रेष्ठ, कुरुनन्दन किरीटधारी अर्जुनने सुह्म और चोलोंको भी मथ डाला ॥ २० ॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान्कुरुनन्दनः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २१ ॥

उसके बाद महा पराक्रमी उस कुरुनन्दन अर्जुनने बहुत बडी सेना लेकर दुष्ट बाल्हीक देशके वासियोंको अपने अधीन किया ॥ २१ ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फल्गु चोत्सृज्य पाण्डवः ।
दरदान्सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर इन्द्रके पुत्र पाण्डव अर्जुनने शक्तिहीन सेनाको छोडकर और सशक्त सेनाको साथमें लेकर दरदों और काम्बोजोंको भी जीता ॥ २२ ॥

प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान्सर्वानजयत्प्रभुः ॥ २३ ॥

महाराज ! जो लुटेरे पर्वतके उत्तर भागका आश्रय लिये हुए थे और जो वनमें बसते थे, प्रभावी फाल्गुनने उन सबोंको परास्त किया ॥ २३ ॥

लोहान्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान्महाराज व्यजयत्पाकशासनिः ॥ २४ ॥

हे महाराज ! संगठित हुए हुए लोह, पश्चिम काम्बोज और उत्तर ऋषिकोंको इन्द्रनन्दनने जीत लिया ॥ २४ ॥

ऋषिकेषु तु संग्रामो बभूवातिभयंकरः।
तारकामयसंकाशः परमर्षिकपार्थयोः ॥ २५ ॥

ऋषिकोंके साथ उनकी बडी भयंकर लडाई हुई। बृहस्पतिकी पत्नी तारका जिस युद्धमें हेतु बनी थी, उसके सदृश पार्थ और ऋषिकोंमें भयंकर लडाई हुई थी ॥ २५ ॥

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान्रणमूर्धनि।
शुकोदरसमप्रख्यान्हयानष्टौ समानयत्।
मयूरसदृशानन्यानुभयानेव चापरान् ॥ २६ ॥
स विनिर्जित्य सङ्ग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम्।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यवसत्पुरुषर्षभः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ ८९९ ॥

हे महाराज! पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयने तब ऋषिकोंको युद्धस्थलमें जीतकर उनसे तोतेके पेटके समान हरे आठ घोडे कर रूपमें ले लिये और उत्तर तथा पश्चिम देशमें उपजे मयूरके समान वर्णयुक्त वेगवान् और तेज दूसरे घोडोंको भी कर रूपमें लिया। तब उन पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने युद्धमें निष्कुट गिरि और हिमाचलको परास्त कर श्वेतपर्वतमें पहुंचकर डेरा डाला ॥ २६-२७॥

महाभारतके सभापर्वमें चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ ८९९ ॥

: २५ :

वैशम्पायन उवाच—

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य भारत।
देशं किंपुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे भारत! पाण्डवश्रेष्ठ महावीर अर्जुन श्वेतगिरिको पार करके द्रुमपुत्रसे सुरक्षित किन्नरोंके देशमें गए ॥ १ ॥

महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह
व्यजयत्पाण्डवश्रेष्ठः करे चैव न्यवेशयत् ॥ २ ॥

और क्षत्रियोंका नाश करनेवाले भयंकर संग्रामसे पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने उन किन्नरोंको परास्त करके उन्हें कर देनेवाला बनाया ॥ २ ॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम्।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ ३ ॥

उस देशको जीतकर इन्द्रके कुमार अर्जुन गुह्यकोंसे रक्षित हाटक नामक देशमें निर्भय होकर सेनाके साथ जा घुसे ॥ ३ ॥

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्याश्च ताः सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥

सामके उपाय द्वारा ही गुह्यकोंको जीतकर उन कुरुनन्दनने उत्तम मानस सरोवर और ऋषि-कुल्याओं (ऋषियोंके द्वारा खोदी गई नहरों) को देखा ॥ ४ ॥

सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशं व्यजयत्पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥

इसके बाद प्रभावशाली पाण्डव अर्जुनने मानस सरोवरके निकट जाकर हाटकोंके चारों ओर गन्धर्वोंसे सुरक्षित देशोंको भी जीता ॥ ५ ॥

तत्र तित्तिरिकल्माषान्मण्डूकाक्षान्हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात्तदा ॥ ६ ॥

वहां उन्होंने गन्धर्व नगरसे तित्तिर, कल्माष और मेंढकोंके समान आंखोंवाले अगणित अच्छे घोड़ोंको कर रूपमें प्राप्त किया ॥ ६ ॥

उत्तरं हरिवर्षं तु समासाद्य स पाण्डवः ।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥

पाण्डुपुत्र वासवनन्दन सव्यसाचीने अन्तमें उत्तर हरिवर्षके पास पहुंचकर उस देशको भी जय करना चाहा ॥ ७ ॥

तत एनं महाकाया महावीर्या महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

तब बडे शरीरवाले, महावीर्यवान्, महाबलशाली, द्वारपाल उनके निकट आकर प्रसन्न-चित्तसे यह वचन बोले ॥ ८ ॥

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥

हे पृथापुत्र ! किसी भी प्रकार यह नगर तुम्हारे द्वारा नहीं जीता जा सकता । अतः, हे कल्याणकारी अच्युत ! यहांसे लौट जाओ, यहांतकके प्रदेशोंको जीतना ही तुम्हारे लिये पर्याप्त है ॥ ९ ॥

इदं पुरं यः प्रविशेद्ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥

मनुष्य होकर जो पुरुष इस नगरमें घुसता है वह निश्चय ही मारा जाता है । हे वीर अर्जुन ! हम तुमसे प्रसन्न हैं, तुम बहुत विजय प्राप्त कर चुके हो ॥ १० ॥

×

न चापि किंचिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नात्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥

इसके अलावा यहां और कुछ भी जीतनेके योग्य दीख नहीं पडता, क्योंकि यह देश उत्तर कुरु है, यहां युद्ध नहीं किया जाता ॥ ११ ॥

प्रविष्टश्चापि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥

हे कुन्तीनदन्न ! यहां घुसकर भी तुम कुछ देख नहीं पाओगे, क्योंकि मनुष्यकी देहमें यहांके किसी पदार्थको देखा नहीं जा सकता ॥ १२ ॥

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि ।
तद्ब्रवीहि करिष्यामो वचनात्तव भारत ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ भारत ! पर यदि यहां और कार्य तुम करना चाहो, तो कहो, तुम्हारे कहने पर हम अवश्य ही पूरा कर देंगे ॥ १३ ॥

ततस्तानब्रवीद्राजन्नर्जुनः पाकशासनिः ।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥

हे महाराज ! तब इन्द्रके पुत्र अर्जुन उनसे बोले– मैं यहां धीमान् धर्मराजा युधिष्ठिरका साम्राज्य स्थापित करना चाहता हूं ॥ १४ ॥

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं बाध्यत्वं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत्किंचित्करवन्नः प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

तुम्हारा यह देश यदि ऐसा हो, कि मानव लोग इसमें नहीं जा सकते तो मैं इसके भीतर जाना नहीं चाहता, पर तुम युधिष्ठिरके लिये कुछ वस्तु कर रूपमें हमें दे दो ॥ १५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
मोकाजिनानि दिव्यानि तस्मै ते प्रददुः करम् ॥ १६ ॥

यह सुनकर उन द्वारपालोंने दो दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य क्षौम और दिव्य मृगछाल आदि करके रूपमें अर्जुनको दिये ॥ १६ ॥

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजिग्ये दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान्सुबहून्कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥

महाराज ! उन पुरुषव्याघ्र वीरवर अर्जुनने इस प्रकार दस्युओं और क्षत्रियोंसे अगणित संग्राम करके उत्तर दिशाको जीता था ॥ १७ ॥

स विनिर्जित्य राज्ञस्तान्करे च विनिवेश्य ह ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥

वह उन सब राजाओंको परास्त करके और उन्हें करदाता बना करके सबसे बहुविध धन, रत्न लेकर ॥ १८ ॥

हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्शुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशांश्चान्यान्सर्वाननिलरंहसः ॥ १९ ॥
वृतः सुमहता राजन्बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ९१९ ॥

तथा तित्तिरि, कल्माष, तोतेके पंखके समान हरे और मयूरके सदृश वर्णवाले, पवनके समान चलनेवाले अनेक घोडे लेकर बडी और चतुरङ्गिणी सेनासे घिरकर वह पुरुषश्रेष्ठ नगरोंमें उत्तम इन्द्रप्रस्थको लौट आये ॥ १९–२० ॥

महाभारतके सभापर्वमें पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ ९१९ ॥

: २६ :

वैशम्पायन उवाच—

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।
वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्धनः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– जिस समय अर्जुनने विजयके लिये यात्रा की थी, उसी समय शत्रुके शोकको बढानेवाले वीर्यवान् भरतशार्दूल भीमसेन भी धर्मराजकी आज्ञा लेकर शत्रुके राज्यको नष्ट करनेवाली बडी सेनासे घिर कर पूर्व दिशाकी तरफ चले ॥ १–२ ॥

स गत्वा राजशार्दूलः पाञ्चालानां पुरं महत् ।
पाञ्चालान्विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः ॥ ३ ॥

उन राजश्रेष्ठ पाण्डव भीमने पहिले पाञ्चालोंके महान् नगरमें पहुंच कर बहुविध उपायोंसे पांचालोंको समझाया ॥ ३ ॥

ततः स गण्डकीं शूरो विदेहांश्च नरर्षभः ।
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानगमत्प्रभुः ॥ ४ ॥

तब इसके बाद उस शूरवीर नरश्रेष्ठ भीमने थोडे ही समयमें गण्डकी और विदेहोंको जीतकर दशार्ण राज्य पर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ।
कृतवान्कर्म भीमेन महद्युद्धं निरायुधम् ॥ ५ ॥

उस स्थानमें दशार्णके राजा सुधर्माने भीमसेनके साथ रोवें खडे करनेवाला शस्त्रसे रहित अर्थात् बाहुओंसे ही महान् युद्ध किया ॥ ५ ॥

भीमसेनस्तु तद्दृष्ट्वा तस्य कर्म परंतपः ।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ६ ॥

परंतप और बडे पराक्रमी भीमसेनने बहुत बलवान् सुधर्माका वह कर्म देखकर उनको प्रधान सेनापतिके पद पर नियुक्त किया ॥ ६ ॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ।
सैन्येन महता राजन्कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ७ ॥

इसके बाद भयंकर पराक्रम करनेवाले वह भीम बडी सेना लेकर मानों धरतीको कंपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर आगे चले ॥ ७ ॥

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन्रोचमानं सहानुजम् ।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ८ ॥

बलशालियोंमें श्रेष्ठ हे महाराज ! वीरवर वृकोदरने अपने बलसे अश्वमेधके राजा रोचमानको उसके छोटे भाईके साथ युद्धमें परास्त किया ॥ ८ ॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा ।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥

उसको जीतकर महावीर कुरुनन्दन कुन्तीपुत्र भीमने थोडेसे ही प्रयत्नसे पूर्वदेशको जीत लिया ॥ ९ ॥

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत् ।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ १० ॥

वहांसे आगे चलकर दक्षिण देशमें पहुंचकर महान् पुलिन्द नगरमें जाकर उसके राजा सुकुमार और सुमित्रको अपने अधीन किया ॥ १० ॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद्भरतर्षभः।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय　　　　॥ ११ ॥

हे जनमेजय ! इसके पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीम धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार बहुत शक्तिशाली शिशुपालकी तरफ चले ॥ ११ ॥

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम्।
उपनिष्क्रम्य नगरात्प्रत्यगृह्णात्परंतपः　　　　॥ १२ ॥

शत्रुनाशी चेदिराज शिशुपालने भी पाण्डुपुत्रका वह अभिप्राय जानकर नगरसे निकलकर उनका सत्कार किया ॥ १२ ॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम्　　　　॥ १३ ॥

महाराज ! तब वह कुरुश्रेष्ठ भीम और चेदिश्रेष्ठ शिशुपाल दोनों मिलकर दोनों कुलोंके कुशलक्षेम पूछने लगे ॥ १३ ॥

ततो निवेद्य तद्राष्ट्रं चेदिराजो विशां पते।
उवाच भीमं प्रहसन्किमिदं कुरुषेऽनघ　　　　॥ १४ ॥

हे राजन् ! इसके बाद चेदिराज अपने राज्यका वृत्तान्त कहकर हंसते हुए भीमसे बोले— हे अनघ ! तुम यह सब क्या कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

तस्य भीमस्तदाचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम्।
स च तत्प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः　　　　॥ १५ ॥

तब भीमने उनके सामने धर्मराजकी इच्छा प्रगट की। नरराज शिशुपालने उसका आदर सत्कार कर वैसा ही किया ॥ १५ ॥

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदशाः क्षपाः।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः　　　　॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ ९२५ ॥

महाराज ! तब भीम वहां तेरह रात रहकर शिशुपालसे सत्कृत होकर अपनी सेना और वाहनोंके सहित आगे चले ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ ९२५ ॥

: २७ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत्।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिन्दमः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर शत्रुनाशी वृकोदरने कुमारराज्यमें जाकर श्रेणीमान्‌को और कोसलराज बृहद्बलको जीता ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घप्रज्ञं महाबलम्।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥

पाण्डवोंमें श्रेष्ठ भीमने अयोध्यामें महाबलवान् धर्मज्ञ दीर्घप्रज्ञको छोटे युद्धसे ही परास्त कर दिया ॥ २ ॥

ततो गोपालकच्छं च सोत्तमानपि चोत्तरान्।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं व्यजयत्प्रभुः ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् उन प्रभावी पाण्डवश्रेष्ठने गोपाल-कच्छ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम राजाओंको और मल्लोंके अधीश पार्थिवको भी परास्त किया ॥ ३ ॥

ततो हिमवतः पार्श्वे समभ्येत्य जरद्गवम्।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशे बली ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर हिमालयके किनारे पहुंचकर अल्पकालमें ही उन्होंने सम्पूर्ण जरद्गव देशको अपने अधीन कर लिया ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान्देशान्विजित्य पुरुषर्षभः।
उन्नाटमभितो जिग्ये कुक्षिमन्तं च पर्वतम्।
पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ॥ ५ ॥

इस प्रकार अनेक देशोंको जीत कर पुरुषोंमें श्रेष्ठ, बलशालियोंमें उत्तम और महावीर्यवान् पाण्डुपुत्र भीमने अपने बलसे उन्नाट देश और उसके निकटके कुक्षिमान् पर्वतको जीता ॥ ५ ॥

स काशिराजं समरे सुबन्धुमनिवर्तिनम्।
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥ ६ ॥

इसके बाद बहुत पराक्रम करनेवाले महाबाहु भीमने युद्धमें मुंह न मोडनेवाले काशिराज सुबन्धुको अपने वशमें किया ॥ ६ ॥

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम्।
युध्यमानं बलात्संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् पाण्डवश्रेष्ठ भीमने युद्धमें लडनेवाले सुपार्श्वदेशके राजपति क्रथको बलसे परास्त किया ॥ ७ ॥

ततो मत्स्यान्महातेजा मलयांश्च महाबलान् ।
अनघ्यान्गयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ॥ ८ ॥

इसके बाद महातेजस्वी उन भीमने मत्स्यदेशवासी और महाबली मलयोंको अनिन्दनीय बलसे युक्त गयोंको पराजित करके सारी पशुभूमिको जीता ॥ ८ ॥

निवृत्य च महाबाहुर्मदर्वीकं महीधरम् ।
सोपदेशं विनिर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान्बलात् ॥ ९ ॥

फिर वहांसे लौटकर महाबाहु भीमने मदर्वीक नामक पर्वत और सोपदेश जीतकर उत्तर दिशाकी ओर मुह करके आगेको चले और बलवान् कुन्तीपुत्रने वहां बल प्रगट कर वत्सभूमि पर अधिकार किया ॥ ९ ॥

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान्बहून् ॥ १० ॥

और भर्गोंके अधिपति, निषादोंके राजा और मणिपाल आदि अगणित राजाओंको जीता ॥ १० ॥

ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पाण्डवः ।
तरसैवाजयद्भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ११ ॥

तब उन पाण्डवने अति अल्प चेष्टासे भोगवान् पर्वत और दक्षिणके मल्लोंको शीघ्र ही जीत लिया ॥ ११ ॥

शर्मकान्वर्मकांश्चैव सान्त्वेनैवाजयत्प्रभुः ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ।
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

शर्मकों और वर्मकोंको प्रभावशाली भीमने शान्तिसे ही जीत लिया । जगत्के स्वामी और विदेह देशके राजा जनकको अति अल्पयुद्धसे ही जीत लिया ॥ १२ ॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् ।
किरातानामधिपतीन्व्यजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दनने विदेहदेशमें रहते ही रहते इन्द्र पर्वतके निकट रहनेवाले किरातोंके सात राजाओंको परास्त किया ॥ १३ ॥

ततः सुह्मान्प्राच्यसुह्मान्समक्षांश्चैव वीर्यवान्।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानुपयाद्बली ॥ १४ ॥
दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन्।
तैरेव सहितः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १५ ॥

इसके बाद बलवान् वीर्यवान् कुन्तीपुत्र भीम सुह्मों, प्राच्यसुह्मों और समक्षोंको युद्धमें जीतकर मागधोंकी ओर चले। वहां दण्ड, दण्डधार और दूसरे पृथ्वीनाथोंको जीतकर उन्हींके साथ गिरिव्रजमें जा पहुंचे ॥ १४–१५ ॥

जारासन्धिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह।
तैरेव सहितो राजन्कर्णमभ्यद्रवद्बली ॥ १६ ॥

जरासन्धके पुत्र सहदेवको सवझा बुझाकर और उसे करदाता बनाकर सबको साथमें लेकर, हे राजन्! भीमने कर्ण पर आक्रमण किया ॥ १६ ॥

स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥ १७ ॥

हे भारत! पाण्डवश्रेष्ठ वृकोदरने चतुरङ्गिणी सेनाके भारसे मानो धरतीको कंपाते हुए शत्रुनाशी कर्णसे युद्ध किया ॥ १७ ॥

स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत।
ततो विजिग्ये बलवान्राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ १८ ॥

और, हे भारत! उन कर्णको लडाईमें जीतकर और वशमें लाकर बलवान् भीमने पर्वतवासी राजाओंको भी जीत लिया ॥ १८ ॥

अथ मोदागिरिं चैव राजानं बलवत्तरम्।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ १९ ॥

महाराज! इसके बाद अति बलवान् राजा मोदागिरिको भी पाण्डुपुत्र भीमने अपनी भुजाओंके बलसे महान् युद्धमें नष्ट किया ॥ १९ ॥

ततः पौण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम्।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥ २० ॥

इसके बाद पुण्ड्रके राजा महाबलवान् वीर वासुदेव और कौशिकी नदीके किनारे रहनेवाले महातेजस्वी राजाको जीता ॥ २० ॥

उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ।
निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २१ ॥

ये दोनों बलसम्पन्न, वीर और बडे पराक्रमशील थे। हे महाराज! इन दोनोंको जीतकर भीम वंग देशके राजाकी तरफ चले ॥ २१ ॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम् ।
ताम्रलिप्तं च राजानं काचं वङ्गाधिपं तथा ॥ २२ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः ।
सर्वान्म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ॥ २३ ॥

राजा समुद्रसेन और चन्द्रसेन, ताम्रलिप्त और वंग देशके राजा काच और सुह्मोंके राजा तथा समुद्रके किनारेके राजाओंको जीतकर सब म्लेच्छोंको भी भरतश्रेष्ठ भीमने जीता ॥ २२–२३ ॥

एवं बहुविधान्देशान्विजित्य पवनात्मजः ।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद्बली ॥ २४ ॥

इस प्रकार महाबलवान् पवननन्दन भीम अनेक तरहके देशोंको जीतकर और उन सबसे धन लेकर लौहित्य देशमें जा पहुंचे ॥ २४ ॥

स सर्वान्म्लेच्छनृपतीन्सागरद्वीपवासिनः ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २५ ॥
चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमुक्तमनुत्तमम् ।
काञ्चनं रजतं वज्रं विद्रुमं च महाधनम् ॥ २६ ॥

समुद्रके बीचमें द्वीपों पर रहनेवाले सब म्लेच्छ नरेशोंको भांति भांतिके रत्न, चन्दन, अगुरु, वस्त्र, मणि, उत्तम मोतियां, सोना, चांदी, हीरे, विद्रुम आदि बहुमूल्य वस्तुओंको कर रूपमें देनेके लिए बाध्य किया ॥ २५–२६ ॥

स कोटिशतसंख्येन धनेन महता तदा ।
अभ्यवर्षदमेयात्मा धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २७ ॥

उस अद्वितीय आत्मशक्तिवाले म्लेच्छोंके राजाने तब करोडोंकी संख्यावाले अपार धनसे पाण्डुपुत्र भीम पर धनकी बरसात बरसा दी ॥ २७ ॥

इन्द्रप्रस्थमथागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद्धनम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ९६३ ॥

भयंकर पराक्रमी भीमसेनने तब इन्द्रप्रस्थमें आकर वह सब धन धर्मराज युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया ॥ २८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ ९६३ ॥

×

: २८ :

वैशम्पायन उवाच—

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः।
महत्या सेनया सार्धं प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराज! उसी प्रकार सहदेव भी धर्मराज युधिष्ठिरका आशीर्वाद पाकर बडी भारी सेनाके साहित दक्षिण दिशाकी तरफ चले ॥ १ ॥

स शूरसेनान्कात्स्न्र्येन पूर्वमेवाजयत्प्रभुः।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद्बली ॥ २ ॥

उस प्रभावशाली बलवान् कुरुवीर सहदेवने पहिले शूरसेनोंको सम्पूर्ण रूपसे परास्त कर, बल पूर्वक मत्स्यदेशके राजाको अपने अधीन किया ॥ २ ॥

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाहवे।
जिगाय करदं चैव स्वराज्ये संन्यवेशयत् ॥ ३ ॥

इसके बाद अधिराज देशके राजा दन्तवक्रको महान् युद्धमें जीतकर और उसे करदाता बनाकर उसको फिर उसीके राज्यमें स्थापित कर दिया ॥ ३ ॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम्।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत्स पटच्चरान् ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने राजा राजकुमार और सुमित्रको अपने वशमें किया, उसी प्रकार उन्होंने पश्चिमी मत्स्यराज्यमें रहनेवाले चोरों और लुटेरोंको भी जीता ॥ ४ ॥

निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा।
तरसा व्यजयद्धीमाञ्श्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

निषाद भूमि, पर्वत श्रेष्ठ गोशृङ्ग और राजा श्रेणिमानको उन बुद्धिमान् सहदेवने शीघ्र ही जीत लिया ॥ ५ ॥

नवराष्ट्रं विनिर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत्।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥

और नवराष्ट्रको जीतकर कुन्तीभोजकी तरफ चले, कुन्तीभोजने प्रेमसे उनका अधिकार स्वीकार कर लिया ॥ ६ ॥

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम्।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥

हे भारत! तदनन्तर सहदेव चर्मण्वती नदीके तटपर जम्भकके पुत्र राजासे जाकर मिले, पहिलेकी शत्रुता होने पर भी वासुदेव श्रीकृष्णने उसको जीवित ही छोड दिया था ॥ ७ ॥

चक्रे तत्र स संग्रामं सह भोजेन भारत ।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥

हे भारत ! उन सहदेवने सहभोजसे संग्राम किया, उसको जीतकर सहदेव दक्षिण दिशाको चले ॥ ८ ॥

करांस्तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ।
ततस्तैरेव सहितो नर्मदामभितो ययौ ॥ ९ ॥

उनसे बहुविध रत्नोंको कर रूपमें लेकर उन्होंने उन्हींके साथ नर्मदाके निकटके देशोंकी तरफ चल पडे ॥ ९ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ॥ १० ॥

अश्विनी कुमारके पुत्र प्रतापी सहदेवने वहां बडी भारी सेनाओंसे घिर कर चले आते हुए अवन्ती देशके विन्द और अनुविन्द नामक दो वीरोंको युद्धमें जीता ॥ १० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ ११ ॥
पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद्युद्धमासीद्भीरुभयंकरम् ॥ १२ ॥

इसके बाद उनसे रत्नोंको लेकर माहिष्मती नगरकी तरफ चल दिए और वहां उन नरश्रेष्ठ, प्रतापी, शत्रुओंको नष्ट करनेवाले पाण्डुपुत्र सहदेवने नीलराजासे युद्ध किया, वह सहदेवका युद्ध बहुत बडा और कायरोंको भयभीत करनेवाला हुआ ॥ ११-१२ ॥

सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयाय च ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान्हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

वह युद्ध सभी सेनाओंको नष्ट करनेवाला और प्राणोंको भी संशयमें डालनेवाला था। उस युद्धमें भगवान हुताशन अग्नि राजा नीलकी सहायता कर रहे थे ॥ १३ ॥

ततो हया रथा नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ १४ ॥

इसलिये सहदेवकी सेनामें उस समय घोडे, रथ, हाथी, पुरुष और कवच जलते हुए दीख पडने लगे ॥ १४ ॥

ततः सुसंभ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥ १५ ॥

हे जनमेजय ! कुरुनन्दन सहदेव उसे देखकर बहुत घबराये और उसके नष्ट करनेका कोई भी उपाय उन्हें सूझ नहीं पडा ॥ १५ ॥

जनमेजय उवाच—

किमर्थं भगवानग्निः प्रत्यमित्रोऽभवद्युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ १६ ॥

जनमेजय बोले— हे विप्रवर ! सहदेव यज्ञके लिये ही लड रहे थे, फिर भी भगवान् अग्नि युद्धमें उनके शत्रु क्यों हो गए ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान्हव्यवाहनः ।
श्रूयते निगृहीतो वै पुरस्तात्पारदारिकः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले— ऐसा कहा जाता है, कि पहिले माहिष्मती नगरमें रहते हुए भगवान् हुताशन एक परायी स्त्रीपर आसक्त हो गए थे ॥ १७ ॥

नीलस्य राज्ञः पूर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ।
तदा ब्राह्मणरूपेण चरमाणो यदृच्छया ॥ १८ ॥

तब अग्नि ब्राह्मणका रूप धारण करके अपनी इच्छासे सर्वत्र घूमते हुए वहां आए और वहां आकर नील राजा तथा अन्योंके अनजाने ही उन्होंने उस स्त्रीकी कामना की और स्त्रीने भी उनकी कामना स्वीकार कर ली ॥ १८ ॥

तं तु राजा यथाशास्त्रमन्वशाद्धार्मिकस्तदा ।
प्रजज्वाल ततः कोपाद्भगवान्हव्यवाहनः ॥ १९ ॥

परन्तु सब बात ज्ञात होनेपर धार्मिक राजा नीलने उन ब्राह्मण रूपधारी अग्निको शास्त्रके अनुसार दण्ड दिया । तब भगवान् हव्यवाहन क्रोधके मारे जल उठे ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसा कविम् ।
चक्रे प्रसादं च तदा तस्य राज्ञो विभावसुः ॥ २० ॥

उसे देखकर आश्चर्यचकित हुए हुए राजाने सिर झुकाकर अग्निको प्रणाम किया, तब विभावसु अग्नि राजापर प्रसन्न हुए ॥ २० ॥

वरेण छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥ २१ ॥

अत्यन्त कल्याण करनेवाले भगवान् अग्निने राजासे वर मांगनेको कहा, राजा नीलने भी यह वर मांग लिया, कि मेरी सेनाको कभी भय न हो ॥ २१ ॥

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात्तां पुरीं नृपाः ।
जिगीषन्ति बलाद्राजंस्ते दह्यन्तीह वह्निना ॥ २२ ॥

महाराज ! तभीसे वह वृत्तान्त न जानकर जो कोई राजा बलपूर्वक उस नगरीको जीतना चाहता था वह अग्निसे जल मरता था ॥ २२ ॥

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ।
बभूवुरनभिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ २३ ॥
एवमग्निर्वरं प्रादात्स्त्रीणामप्रतिवारणे ।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं प्रचरन्त्युत ॥ २४ ॥

हे कुरुवंशि ! उस माहिष्मती पुरीमें स्त्रियोंको स्वेच्छाचार करनेसे रोकना बिल्कुल अशक्य हो गया। क्योंकि अग्निने वर दिया था, कि स्त्रियोंको उनके स्वेच्छाचारसे कोई न रोके, उससे वे स्त्रियां स्वैरिणी बनकर स्वेच्छापूर्वक वहां विचरा करती थीं ॥ २३-२४ ॥

वर्जयन्ति च राजानस्तद्राष्ट्रं पुरुषोत्तम ।
भयादग्नेर्महाराज तदा प्रभृति सर्वदा ॥ २५ ॥

हे पुरुषोंमें उत्तम महाराज ! तभीसे लेकर राजगण भी अग्निके भयसे उस पुरीको हमेशा त्याग देते थे अर्थात् उसपर आक्रमण नहीं करते थे ॥ २५ ॥

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ।
परीतमग्निना राजन्नाकम्पत यथा गिरिः ॥ २६ ॥

पर धर्मात्मा सहदेव अपनी सेनाको अग्निसे घिर जानेके कारण और भयभीत देखने पर भी पर्वतकी भांति स्थिर बने रहे, कांपे नहीं ॥ २६ ॥

उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत्पावकं ततः ।
त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन्नमोऽस्तु ते ॥ २७ ॥

तब आचमन करके और पवित्र होकर वह सहदेव अग्निसे बोले- हे काले मार्गवाले अग्ने ! तुमको नमस्कार, मेरा यह प्रयत्न केवल तुम्हारे ही लिये है ॥ २७ ॥

मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ।
पावनात्पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः ॥ २८ ॥

हे पावक ! तुम यज्ञरूप हो, तुम्हीं देवोंके मुख हो । तुम पवित्र करते हो, इसलिये पावक हो और हव्यको वहन करते हो, इसलिये हव्यवाहन हो ॥ २८ ॥

वेदास्त्वदर्थं जाताश्च जातवेदास्ततो ह्यसि ।
यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन ॥ २९ ॥

तुम्हारे लिये ही वेदोंकी उत्पत्ति हुई है, इसलिये तुम ही जातवेदा हो ! हे हव्यवाहन ! इस कारण इस यज्ञमें विघ्न उपस्थित करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ।
विधिवत्पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ॥ ३० ॥
प्रमुखे सर्वसैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ।
न चैनमत्यगाद्वह्निर्वेलामिव महोदधिः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहकर माद्रीपुत्र सहदेवने जमीनपर कुशायें बिछायीं और, हे भारत! उस भय-भीत सेनाओंके सामने विधिपर्वक अग्निके आगे बैठ गये। तब जिस प्रकार महासमुद्र तटको पार नहीं करता वैसे ही अग्नि भी इसे लांघ नहीं सके ॥ ३०-३१ ॥

तमभ्येत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ।
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ३२ ॥

तब वह अग्नि उन कुरुनन्दन और नरोंमें देव सहदेवके निकट जाकर उन्हें समझा बुझाकर धीरे धीरे यह बोले ॥ ३२ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया ।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ॥ ३३ ॥

हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ! उठो, मैं तुम्हारे और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सब अभिप्रायोंको जानता हूं, केवल तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये ऐसा किया था ॥ ३३ ॥

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम ।
यावद्राज्ञोऽस्य नीलस्य कुलवंशधरा इति ।
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ॥ ३४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! इन राजा नीलके कुलमें जबतक वंशधर सन्तान बनी रहेगी, तब तक मुझको इस पुरीकी रक्षा करनी पडेगी, पर, हे पाण्डव! तुम मनसे जो चाहते हो, वह भी मैं पूरा कर दूंगा ॥ ३४ ॥

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसानतः ।
पूजयामास माद्रेयः पावकं पुरुषर्षभः ॥ ३५ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ माद्रीपुत्र सहदेवने प्रसन्नमनसे उठ कर शिर झुकाकर हाथ जोडकर पावककी पूजा की ॥ ३५ ॥

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्ययात्तदा
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधां पतिम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पावकके चले जानेपर राजा नील सत्कारकी सामग्री लेकर योद्धाओंके राजा नर-व्याघ्र सहदेवके निकट आया ॥ ३६ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य तम् ।
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम्   ॥ ३७ ॥

विजयी माद्रिपुत्र वह पूजा स्वीकार कर और उनको करदाता बनाकर और विजयी होकर वहांसे दक्षिणकी ओर चले ॥ ३७ ॥

त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ।
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पोतनेश्वरम्   ॥ ३८ ॥

उन महाभुज सहदेवने अपरिमित तेजस्वी त्रैपुर राजाको अपने वशमें करके पोतननाथको बलसे पकड लिया ॥ ३८ ॥

आहृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ।
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तथा   ॥ ३९ ॥

तदनन्तर महाबाहु सहदेवने, कौशिक जिसके पुरोहित थे, ऐसे सुराष्ट्रके राजा आहृतिको महान् यत्नसे अपने वशमें किया ॥ ३९ ॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ।
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते   ॥ ४० ॥

और सुराष्ट्र राज्यहीमें रह करके धर्मात्मा उन्होंने भोजकट नगरके रहनेवाले महामात्र श्रीमान् रुक्मीके पास दूत भेजा ॥ ४० ॥

भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ।
स चास्य ससुतो राजन्प्रतिजग्राह शासनम्   ॥ ४१ ॥
प्रीतिपूर्वं महाबाहुर्वासुदेवमवेक्ष्य च ।
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद्युधां पतिः   ॥ ४२ ॥

और साक्षात् इन्द्रके सखा भीष्मकके पास दूत भेजा, उस महाबाहु भीष्मकने भी वासुदेवको स्मरण कर पुत्र सहित प्रीतिपूर्वक उनका शासन मान लिया, तब योद्धाओंके राजा सहदेव उनसे रत्न लेकर फिर आगे चले ॥ ४१–४२ ॥

ततः शूर्पारकं चैव गणं चोपकृताह्वयम् ।
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः   ॥ ४३ ॥

तदनन्तर उन महातेजस्वी और महाबलवान् सहदेवने शूर्पारक, उपकृत और दण्डकोंको अपने अधीन किया ॥ ४३ ॥

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन्म्लेच्छयोनिजान् ।
निषादान्पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ॥ ४४ ॥

तदनन्तर सागरद्वीपोंमें रहनेवाले म्लेच्छ योनिसे उत्पन्न राजाओंको, पुरुषोंको खानेवाले निषादोंको, कर्ण प्रावरणगणोंको ॥ ४४ ॥

ये च कालमुखा नाम नरा राक्षसयोनयः ।
कृत्स्नं कोल्लगिरिं चैव सुरचीपत्तनं तथा ॥ ४५ ॥

मनुष्य और राक्षसके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए कालमुख नामके जो थे उन्हें, तथा सम्पूर्ण कोल्लगिरि, तथा सुरचीपत्तन ॥ ४५ ॥

द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ।
तिमिङ्गिलं च नृपतिं वशे चक्रे महामतिः ॥ ४६ ॥

ताम्र नामक द्वीप तथा रामक पर्वत और तिमिङ्गिल नरेशको उन बुद्धिमान् सहदेवने अपने अधीन किया ॥ ४६ ॥

एकपादांश्च पुरुषान्केवलान्वनवासिनः ।
नगरीं संजयन्तीं च पिच्छण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ४७ ॥

इसके बाद एकपाद देशमें रहनेवालों तथा केवल नामक वनमें रहनेवालोंको, सञ्जयन्ती नगरी और पिच्छण्ड और करहाटक देशोंको अपने दूतोंको भेजकर ही अपने अधिकारमें कर लिए और उन्हें कर देनेवाला बनाया ॥ ४७ ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोड्रकेरलैः ।
अन्ध्रांस्तलवनांश्चैव कलिङ्गानोष्ट्रकर्णिकान् ॥ ४८ ॥

और भी उन्होंने पाण्डय, द्रविड, उड्रकेरल, अन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग और उष्ट्रकर्णिकोंको ॥ ४८ ॥

अन्ताखीं चैव रोमां च यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ४९ ॥

और अन्ताखी और रोमा और यवनोंका नगर इन सबको दूतोंके द्वारा ही वशमें कर लिया और उन्हें करदाता बनाया ॥ ४९ ॥

भरुकच्छं गतो धीमान्दूतान्माद्रवतीसुतः ।
प्रेषयामास राजेन्द्र पौलस्त्याय महात्मने ।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ॥ ५० ॥

हे राजेन्द्र ! अनन्तर शत्रुनाशी धीमान् धार्मिकवर माद्रवती–पुत्रने भडौच पहुंचकर पुलस्त्य-नन्दन महात्मा विभीषणके पास प्रीतिपूर्वक दूतोंको भेजा ॥ ५० ॥

स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम् ।
तच्च कालकृतं धीमानन्वमन्यत स प्रभुः ॥ ५१ ॥

उन्होंने भी प्रीतिपूर्वक उनका शासन स्वीकार कर लिया । प्रभावी धीमान् बिभीषणने सहदेवके उस शासनको समयके योग्य ही समझा ॥ ५१ ॥

ततः संप्रेषयामास रत्नानि विविधानि च ।
चन्दनागुरुमुख्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ५२ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान् ।
न्यवर्तत ततो धीमान्सहदेवः प्रतापवान् ॥ ५३ ॥

तब बिभीषणने उन सहदेवकी सेवामें विविध रत्न, चन्दन और अगुरुकी लकडी, दिव्य आभूषण, महामूल्य वस्त्र और महामूल्यवान् मणियोंको भिजवाया; उस भेंटको स्वीकार कर प्रतापी धीमान् सहदेव अपने राज्यको लौट गए ॥ ५२–५३ ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च ।
करदान्पार्थिवान्कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ५४ ॥

महाराज ! भरतश्रेष्ठ शत्रुनाशी सहदेव इस प्रकार बलसे, सामसे और विजयके द्वारा राजाओंको जीतकर तथा उन्हें करदाता बनाकर लौट आये ॥ ५४ ॥

धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभ ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८ ॥ १०१८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! अपने उपार्जित उस सब धनको धर्मराजके आगे धर कर और सफल मनोरथवाले होकर वे सहदेव परम सुखसे रहने लगे ॥ ५५ ॥

महाभारतके सभापर्वमें अठ्ठाइसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ १०१८ ॥

: २९ :

वैशम्पायन उवाच—

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा ।
वासुदेवजितामाशां यथासौ व्यजयत्प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे जनमेजय ! अब नकुलकी विजय और कर्मोंकी कथा सुनाता हूं । उन प्रभावी वीरवरने जिस प्रकार वासुदेवकी जीती हुई पश्चिम दिशाको जीता था वह सुनो ॥ १ ॥

×

निर्याय खाण्डवप्रस्थात्प्रतीचीमभितो दिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान्प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥
सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च ।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥

मतिमान् नकुल बडी भारी सेना लेकर खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशाकी तरफ प्रचण्ड सिंहनादसे योधाओंके गर्जनके और रथोंके पहियोंकी घरघराहटसे इस धरातलको कंपाते हुए चले ॥ २–३ ॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यधनधान्यवत् ।
कार्त्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने कार्तिकेयको अत्यन्त प्रिय धनधान्यसे भरपूर, गोधनसे सम्पन्न, अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त रमणीय रोहितक पर्वत पर चढाई की ॥ ४ ॥

तत्र युद्धं महद्वृत्तं शूरैर्मत्तमयूरकैः ।
मरुभूमिं च कात्स्न्र्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महेच्छं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान्मालवान्पञ्चकर्पटान् ॥ ६ ॥

वहां शूरवीर और उन्मत्त मयूरकोंके साथ बडी लडाई हुई । इसके बाद अति द्युतिमान् पाण्डुनन्दनने सब मरुभूमि, बहुत धनधान्ययुक्त शैरीषक और महेच्छ शिबियों, त्रिगर्तों, अम्बष्ठों, मालवों और पांच कर्पटोंको अपने आधीन किया ॥ ५–६ ॥

तथा मध्यमिकायांश्च वाटधानान्द्विजानथ ।
पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ७ ॥
गणानुत्सवसङ्केतान्व्यजयत्पुरुषर्षभः ।
सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणेया महाबलाः ॥ ८ ॥

माध्यमिक तथा वाटधान द्विजोंको जीतकर आगेको पधारे । इसके बाद फिर पीछे लौट कर पुष्करारण्यमें रहनेवाले उत्सवसंकेत नामक म्लेच्छोंको पुरुषश्रेष्ठ नकुलने जीता । सिन्धु नदीके किनारेके जो महाबली ग्रामणेयगण थे (उन्हें भी नकुलने जीता) ॥ ७–८ ॥

शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ ९ ॥

सरस्वतीका आश्रय लेकर मत्स्य देशमें रहनेवाले जो शूद्र और आभीर गण थे तथा पर्वत-वासी थे ॥ ९ ॥

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवापरपर्यटम् ।
उत्तरज्योतिकं चैव तथा वृन्दाटकं पुरम् ।
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ॥ १० ॥

सम्पूर्ण पंचनद, अपरपर्यट, उत्तरज्योतिक और वृन्दाटक तथा द्वारपाल नगर यह सब तेजस्वी उन्होंने बलसे वशीभूत किये ॥ १० ॥

रमठान्हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ।
तान्सर्वान्स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ॥ ११ ॥

और रमठ, हारहूण तथा पश्चिम देशके दूसरे जो राजा थे, उन सबको पाण्डुपुत्र नकुलने डरा धमका कर ही अपने वशमें कर लिया ॥ ११ ॥

तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय चाभिभुः ।
स चास्य दशभी राज्यैः प्रतिजग्राह शासनम् ॥ १२ ॥

हे भारत ! अति द्युतिमान् सामर्थ्यशाली नकुलने वहां रहते ही वासुदेवके निकट दूत भेजा। उन्होंने दस अन्य राज्योंके साथ उनका शासन मान लिया ॥ १२ ॥

ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ।
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ॥ १३ ॥

इसके अनन्तर बलवान् माद्रीकुमारने मद्रोंकी राजधानी शाकलमें जाकर अपने मामा शल्यको प्रीतिपूर्वक वशमें कर लिया ॥ १३ ॥

स तस्मिन्सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशां पते ।
रत्नानि भूरीण्यादाय संप्रतस्थे युधां पतिः ॥ १४ ॥

हे महाराज ! उन नरनाथने जब सत्कारयोग्य योद्धाओंके स्वामी नकुलका उचित सत्कार किया, तब वह बहुत रत्न लेकर आगे चले ॥ १४ ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान्म्लेच्छान्परमदारुणान् ।
पह्लवान्बर्बरांश्चैव तान्सर्वाननयद्वशम् ॥ १५ ॥

इसके बाद सागरके गर्भमें रहनेवाले अति निर्दय म्लेच्छों, पह्लवों और बर्बरों आदि सभीको अपने वशमें किया ॥ १५ ॥

ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।
न्यवर्तत नरश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १६ ॥

विचित्र उपायोंके जानकार नरश्रेष्ठ नकुल नरेशोंको वशीभूत कर और बहुत रत्न बटोरकर लौट आये ॥ १६ ॥

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १७ ॥

महाराज! दस हजार ऊंट अति कष्टसे उन महात्माके धनके खजानेको लेकर चल सके थे ॥ १७ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम्।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान्धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

वीर श्रीमान् माद्रीपुत्र नकुलने इस प्रकारसे वह सारा धन इन्द्रप्रस्थमें बैठे हुए राजा युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया ॥ १८ ॥

एवं प्रतीचीं नकुलो दिशं वरुणपालिताम्।
विजिग्ये वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ समाप्त दिग्विजयपर्व ॥ १०३७ ॥

इस प्रकार वासुदेवके द्वारा जीते गए और वरुणसे पाले जाते हुए पश्चिम खण्डको भरतश्रेष्ठ नकुलने जीता ॥ १९ ॥

महाभारतके सभापर्वमें उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ दिग्विजयपर्व समाप्त ॥ १०३७ ॥

: ३० :

वैशम्पायन उवाच—

रक्षणाद्धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात्।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा रक्षित होकर सत्यका पालन करनेसे तथा शत्रुओंका नाश होनेसे इन्द्रप्रस्थकी प्रजायें अपने अपने कर्मोंमें मग्न हो गईं ॥ १ ॥

बलीनां सम्यगादानाद्धर्मतश्चानुशासनात्।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥ २ ॥

यथायोग्य कर लेने और धर्मके अनुसार प्रजाओंका शासन करनेसे बादल प्रचुर जल बर्षाने लगा, अब वह जनपद भी समृद्ध हो गया ॥ २ ॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षं कर्षणं वणिक्।
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥

राजाके पुण्यकर्मोंके प्रभावसे राज्यके सब कार्य भली प्रकार निर्वाहित होने लगे, विशेष करके पशुपालन, खेती और वाणिज्य इनकी पूरी उन्नति हुई ॥ ३ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन्प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥

महाराज ! युधिष्ठिरके राज्यकालमें लुटेरे और ठग भी एक दूसरेसे झूठी बात नहीं बोलते थे और राजाके प्यारे जनोंके मुखसे भी झूठी बात नहीं निकलती थी ॥ ४ ॥

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्छनम् ।
सर्वमेतत्तदा नासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

सदा धर्मका पालन करनेवाले युधिष्ठिरके शासनमें वृष्टिकी कमी, बहुत वृष्टि, रोगभय, अग्निभय, अकालमृत्यु यह सब बातें नहीं थीं ॥ ५ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः पृथक्पृथक् ॥ ६ ॥

सब राजा वर्ग युधिष्ठिरका प्रिय करने और सेवा करने अथवा कर देनेके लिये ही राजाके समीप आते थे, दूसरे कार्य अर्थात् जयादिके अभिप्रायसे नहीं ॥ ६ ॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

धर्मानुसार धनार्जनके द्वारा उनके विशाल भण्डारकी ऐसी वृष्टि हुई थी, कि सैंकड़ों वर्षोंमें भी उसके नष्ट होनेकी सम्भावना नहीं थी ॥ ७ ॥

स्वकोशस्य परीमाणं कोष्ठस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरने अपने धन और धान्यादिका परिमाण जानकर यज्ञ करनेका निश्चय मनमें किया ॥ ८ ॥

सुहृदश्चैव तं सर्वे पृथक्च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र सांप्रतम् ॥ ९ ॥

उनके मित्रवर्ग भी सब अलग अलग और एकत्र होकर बोले— विभो ! आपके यज्ञ करनेका योग्य काल आ पहुंचा है, अतः अब उसका प्रबन्ध करें ॥ ९ ॥

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चापि विजानताम् ॥ १० ॥

वे सब ऐसी बातें कर ही रहे थे, कि उसी समय श्रीकृष्ण आ पहुंचे । जिन कृष्णको " पुराण ऋषि " कहते, हैं, वेद ही जिनकी आत्मा है, जाननेवालोंके लिए जो प्रत्यक्ष हैं ॥ १० ॥

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाप्ययश्च ह।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥

जंगम अर्थात् चलनेवालोंमें और स्थावर अर्थात् न चलनेवालोंमें श्रेष्ठ, जगकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानके नियन्ता, केशव, केशिनामक असुरको मारनेवाले कृष्ण ॥ ११ ॥

प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा।
बलाधिकारे निक्षिप्य संहृत्यानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥

सब वृष्णियोंके प्राकारके समान संरक्षक, विपत्कालमें अभय-दाता, शत्रुनाशी, अपने पिता आनकदुन्दुभि अर्थात् वसुदेवको राज्यशासन एवं सेनाके अधिकार देकर ॥ १२ ॥

उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महता वृतः ॥ १३ ॥

बहुत बडी सेनासे घिरकर पुरुषसिंह माधव श्रीकृष्ण युधिष्ठिरके लिए छोटे बडे धनोंकी राशिको लेकर आये ॥ १३ ॥

तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम्।
नादयन्रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥

वे श्रीकृष्ण अपार धन और रत्नोंके अक्षय सागरसे युक्त उस श्रेष्ठ नगरको अपने रथकी ध्वनिसे गुंजाते उस नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

असूर्यमिव सूर्येण निवातामिव वायुना।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ॥ १५ ॥

सूर्यरहित खण्डमें सूर्य उगनेसे अथवा वायुरहित स्थानमें वायु बहनेसे वहांके लोग जैसे आनन्दित होते हैं, वैसे ही श्रीकृष्णके शुभागमनसे भारत-पुरी अति आनन्दित हुई ॥१५॥

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि।
संपृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥

पुरुषवर युधिष्ठिर अति आनन्दसे उनके सामने गए और विधिपूर्वक सत्कारके बाद अन्तमें सुखसे बैठे हुए उन श्रीकृष्णसे कुशलक्षेम पूछनेके बाद ॥ १६ ॥

धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभः।
भीमार्जुनयमैश्चापि सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १७ ॥

धर्मराजने धौम्य, द्वैपायन आदि ऋषिवर्य और भीम अर्जुन तथा नकुल सहदेव इन सबके सामने कृष्णसे कहा ॥ १७ ॥

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १८ ॥

हे वृष्णिनन्दन कृष्ण ! केवल तुम्हारे कारण ही यह धरती मेरे वशमें आई है और तुम्हारी कृपासे ही मैंने यह अपरिमित धन लाभ किया है ॥ १८ ॥

सोऽहमिच्छामि तत्सर्वं विधिवद्देवकीसुत ।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येषु हव्यवाहे च माधव ॥ १९ ॥

अतः, हे देवकीनन्दन माधव ! मैं इस धनका उपयोग श्रेष्ठ ब्राह्मणोंमें और यज्ञके कार्यमें करना चाहता हूँ ॥ १९ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

हे महाबाहु दाशार्ह ! मैं तुम्हारे और अनुजोंके साथ मिलकर उस यज्ञको करना चाहता हूं। तुम उसमें अपनी सम्मति दो ॥ २० ॥

स दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥

हे महाबाहु गोविन्द ! उस विषयमें तुम अपनेको दीक्षित करो, क्योंकि, हे दाशार्ह ! तुम्हारे यज्ञ करनेसे मैं निष्पाप बन जाऊंगा ॥ २१ ॥

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो ।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥

अथवा, हे विभो ! इन भाइयोंके सहित मुझको दीक्षित होनेकी आज्ञा दो, तुम्हारी आज्ञा पानेसे ही मैं अनुत्तम यज्ञका फलभागी हो सकूंगा ॥ २२ ॥

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम् ।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम् ।
संप्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके गुणोंका वर्णन कर उनको यह उत्तर दिया, कि, हे राजशार्दूल ! आप ही सम्राट् होनेके योग्य पात्र हैं, अतः आप महायज्ञ राजसूय पूरा करें; आपके फल पानेसे हम भी कृतार्थ हो जाएंगे ॥ २३ ॥

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते ।
नियुङ्क्ष्व चापि मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः ॥ २४ ॥

मैं आपका मङ्गल करनेमें सन्नद्ध हूं । आप अपनी इच्छानुसार यज्ञ करें और मुझको भी किसी कार्यमें नियुक्त करें । मैं आपकी सब आज्ञाका पालन करूंगा ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम ।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे हृषीकेश श्रीकृष्ण ! मेरी इच्छा होते ही जब तुम आ गये हो, तब मेरा सङ्कल्प सफल हो गया और सिद्धिलाभका भी निश्चित ही है ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
ईहितुं राजसूयाय साधनान्युपचक्रमे ॥ २६ ॥

वैशम्पायन बोले– श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित राजसूय यज्ञके साधनोंको बटोरनेका काम शुरु किया ॥ २६ ॥

तत आज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २७ ॥

तदनन्तर शत्रुनाशी धर्मराजने युद्ध करनेवालोंमें श्रेष्ठ सहदेवको और मन्त्रियोंको आज्ञा दी ॥ २७ ॥

अस्मिन्क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः ।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥

इस यज्ञके लिये जिस प्रकार ब्राह्मण कहें, उसी प्रकार यज्ञके अङ्ग रूप सभी साधन, सभी मंगलकारक पदार्थ ॥ २८ ॥

अधियज्ञांश्च सम्भारान्धौम्योक्तान्क्षिप्रमेव हि ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥

धौम्यके द्वारा बताई गई यज्ञकी सामग्री यथाक्रमसे और यथायोग्य रीतिसे तुरन्त ले आओ ॥ २९ ॥

इन्द्रसेनो विशोकश्च पुरुश्चार्जुनसारथिः ।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३० ॥

अर्जुनके सारथि इंद्रसेन, विशोक और पूरु हमारा प्रिय करनेकी इच्छासे अन्नादिके बटोरनेमें लग जाएं ॥ ३० ॥

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोहराः प्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंके मनोंको अच्छे लगनेवाले तथा उन्हें प्रसन्न करनेवाले तथा सभी रस और सुगन्धियोंसे भरपूर सभी इच्छित पदार्थ बनवाये जाएं ॥ ३१ ॥

तद्वाक्यसमकालं तु कृतं सर्वमवेदयत् ।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे महात्मनि ॥ ३२ ॥

योधाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने महात्मा धर्मराजके इस आज्ञा–वचनको सुनते ही उसी समय युधिष्ठिरसे कहा कि सब काम कर दिया गया है ॥ ३२ ॥

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान्साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ॥ ३३ ॥

हे महाराज ! तदनन्तर कृष्णद्वैपायनने साक्षात् मूर्तिमान् वेदके सदृश ब्राह्मणोंको ऋत्विकके कार्यमें नियुक्त किया ॥ ३३ ॥

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥

और सत्यवतीके पुत्र कृष्ण द्वैपायन स्वयं उस यज्ञमें ब्रह्माके कार्यमें दीक्षित हुए। धनञ्जय गोत्रके श्रेष्ठ सुसामा नामक ऋषि उद्गाता हुए ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य श्रेष्ठ अध्वर्यु, वसुपुत्र पैल धौम्यके साथ होता बने ॥ ३५ ॥

एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३६ ॥

और हे भरतश्रेष्ठ ! उनके वेदवेदान्तोंमें विद्वान् शिष्य और पुत्रवर्ग होत्रग बने ॥ ३६ ॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमीहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं योजयामासुस्तद्देवयजनं महत् ॥ ३७ ॥

उन्होंने स्वस्तिवाचन करके उक्त यज्ञके लिए विधिपूर्वक सङ्कल्प करके उस विस्तृत यज्ञ-भूमिकी शास्त्रानुसार पूजा की ॥ ३७ ॥

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
रत्नवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥ ३८ ॥

तदनन्तर शिल्पियोंने आज्ञा पाकर वहां देवोंके मन्दिरके समान रत्नोंसे युक्त लम्बे चौडे गृह बना दिये ॥ ३८ ॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं कुरुसत्तमः ॥ ३९ ॥

अनन्तर कुरुश्रेष्ठ राजश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने मन्त्री सहदेवको उसी क्षण आज्ञा दी ॥ ३९ ॥

×

आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान्द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान्प्राहिणोत्तदा ॥ ४० ॥

तुम निमन्त्रणके लिये शीघ्र चलनेवाले दूतोंको शीघ्र भेज दो । सहदेवने तब राजाकी आज्ञा सुनके दूत भेज दिए ॥ ४० ॥

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्भूमिपानपि ।
विशश्च मान्याञ्छूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥

(और उन दूतोंसे कह दिया कि) राष्ट्रभरके सब मान्य ब्राह्मण, राजा और वैश्योंको निमन्त्रित करो तथा सभी शूद्रोंको भी बुला आओ ॥ ४१ ॥

ते सर्वान्पृथिवीपालान्पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयांबभूवुश्च प्रेषयामास चापरान् ॥ ४२ ॥

तदन्तर उन शीघ्रगामी दूतोंने सहदेवके वाक्यानुसार सब राजाओंको निमंत्रित किया तथा उन्होंने भी कुछ दूसरे दूतोंको भेज दिया ॥ ४२ ॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४३ ॥

हे भारत ! उसके अनन्तर उन ब्राह्मणोंने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको राजसूयके लिये योग्य कालमें दीक्षित किया ॥ ४३ ॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४४ ॥
भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैस्तथा ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्र नानादेशसमागतैः ।
अमात्यैश्च नृपश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ॥ ४५ ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर दीक्षित होकर और सहस्रों विप्रोंसे घिर कर भाइयों, ज्ञातियों, मित्रों, मंत्रियों और अनेक देशोंसे आये हुए राजाओंमें श्रेष्ठ क्षत्रियोंके साथ मूर्तिमान् धर्मकी भांति यज्ञस्थानमें गये ॥ ४४–४५ ॥

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ।
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ४६ ॥

सब विद्याओंमें पण्डित वेदवेदाङ्गपारग ब्राह्मणगण नाना देशोंसे वहां आकर एकत्रित होने लगे ॥ ४६ ॥

तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ।
बह्वन्नाञ्छयनैर्युक्तान्सगणानां पृथक्पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नाञ्शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ४७ ॥

सहस्रों शिल्पियोंने धर्मराजकी आज्ञासे अपने साथियोंकी सहायतासे उन सब विप्रोंके लिए सभी ऋतुओंमें सुखदायक और अत्यधिक अन्न और सोने बिछानेकी सामग्रीसे युक्त अलग अलग वासगृह बना दिये ॥ ४७ ॥

तेषु ते न्यवसन्राजन्ब्राह्मणा भृशसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ॥ ४८ ॥

हे महाराज ! वे ब्राह्मणगण अच्छी तरह सत्कृत होकर बहुभांतिकी कथायें कहते हुए और नटोंके नाचादिको देखते हुए उन घरोंमें रहने लगे ॥ ४८ ॥

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ।
अनिशं श्रूयते स्मात्र मुदितानां महात्मनाम् ॥ ४९ ॥

भोजन और जोर जोरसे सम्भाषण करनेवाले उन सब प्रसन्नचित्त महात्मा विप्रोंका बडा कोलाहल वहां सदा सुनाई पडने लगा ॥ ४९ ॥

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति ।
एवंप्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः ॥ ५० ॥

वास्तवमें वहां उनका " दीजिए दीजिए " और " खाइए खाइए " का वार्तालाप ही सदा सुनाई पडता था ॥ ५० ॥

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग्ददौ ॥ ५१ ॥

हे भारत ! धर्मराजने उनको सैंकडों सहस्रों गौ, शय्या, सोना और स्त्रियां अलग अलग दीं ॥ ५१ ॥

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ॥ ५२ ॥

स्वर्गमें शतक्रतु इन्द्रके समान पृथ्वीमें अद्वितीय वीर महात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका यज्ञ इस प्रकारसे प्रारम्भ हुआ ॥ ५२ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय भरतर्षभ ॥ ५३ ॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातृणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ १०९१ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कृप और उन भाइयोंको जो उनके प्रेमी थे लिवा लानेके लिये पाण्डुपुत्र नकुलको हस्तिनापुर भेजा ॥ ५३–५४ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ १०९१ ॥

: 31 :

वैशम्पायन उवाच—

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः ।
भीष्ममामन्त्रयामास धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— समरमें विजयी पाण्डुनन्दन नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्म, धृतराष्ट्र आदिको निमंत्रित किया ॥ १ ॥

प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ।
संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ॥ २ ॥

तपनन्तर वे ब्राह्मणोंको आगे कर प्रीतिपूर्वक यज्ञ देखनेको चले तथा दूसरे भी यज्ञको जाननेवाले विद्वान् धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञकी बात सुनकर प्रसन्न मनसे चले ॥ २ ॥

अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्मनुजर्षभ ।
द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ ३ ॥
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः पार्थिवास्तत्र भारत ।
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ॥ ४ ॥

इसी प्रकार, हे मनुष्यश्रेष्ठ भारत! सैंकड़ों राजगण भी धर्मराजके यज्ञकी बात सुनके उस यज्ञसभा और धर्मराजको देखनेकी इच्छासे प्रसन्न मनसे नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंको लेकर नाना दिशाओं और देशोंसे वहां आ पहुंचे ॥ ३–४ ॥

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र, भीष्म, महामति विदुर, दुर्योधनादि वे सब भाई ॥ ५ ॥

सत्कृत्यामन्त्रिताः सर्वे आचार्यप्रमुखा नृपाः ।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥
तथा द्रोणाचार्य आदि प्रमुख कौरव सत्कारपूर्वक आमंत्रित किए गए। इसी प्रकार गान्धारराज सुबल, महाबली शकुनि ॥ ६ ॥

अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ।
ऋतः शल्यो मद्रराजो बाह्लिकश्च महारथः ॥ ७ ॥
अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, ऋत, मद्रराज शल्य, महारथी बाह्लीक ॥ ७ ॥

सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥
सोमदत्त, कुरुवंशी भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृप, द्रोण और सिन्धुराज जयद्रथ ॥ ८ ॥

यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ।
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महायशाः ॥ ९ ॥
पुत्रसहित द्रुपद, पृथ्वीनाथ शाल्व, प्राग्ज्योतिष नगरका राजा महायशस्वी भगदत्त ॥ ९ ॥

सह सर्वैस्तथा म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ।
पार्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १० ॥
सागरतटके तथा अनूप देशोंमें रहनेवाले सब म्लेच्छोंके साथ पहाडी राजा और राजा बृहद्बल ॥ १० ॥

पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ।
आकर्षः कुन्तलश्चैव वानवास्यान्ध्रकास्तथा ॥ ११ ॥
पौण्ड्रक वासुदेव, वङ्ग (बंगाल) का राजा, कलिङ्ग (उडीसा) का राजा, आकर्ष, कुन्तल, वानव तथा आन्ध्रदेशके राजा गण ॥ ११ ॥

द्रविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ।
कुन्तिभोजो महातेजाः सुह्मश्च सुमहाबलः ॥ १२ ॥
द्राविडवर्ग, सिंहलगण, काश्मीरदेशीय राजा, तेजस्वी कुन्तीभोज, महाबलवान् सुह्म ॥ १२ ॥

बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ।
विराटः सह पुत्रैश्च माचेल्लश्च महारथः ।
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ॥ १३ ॥
बाह्लीक देशीय दूसरे शूरवीर राजा, पुत्रोंके सहित विराट् और महारथी माचेल्ल तथा अन्य राजागण, राजपुत्र और नाना नगरोंके ईश्वर ॥ १३ ॥

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत।
आगच्छत्पाण्डवेयस्य यज्ञं संग्रामदुर्मदः ॥ १४ ॥
और, हे भारत! युद्धमें बहुत वीर शिशुपाल भी अपने पुत्रके साथ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके यज्ञमें आया ॥ १४ ॥

रामश्चैवानिरुद्धश्च बभ्रुश्च सहसारणः।
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥
बलराम और अनिरुद्ध, सारणके साथ बभ्रु, गद, प्रद्युम्न, साम्ब और वीर्यवान् चारुदेष्ण ॥ १५

उल्मुको निशठश्चैव वीरः प्राद्युम्निरेव च।
वृष्णयो निखिलेनान्ये समाजग्मुर्महारथाः ॥ १६ ॥
उल्मुक और निशठ और प्रद्युम्नका वीर पुत्र और वृष्णिवंशी दूसरे वीर्यवान् महारथी सब आये ॥ १६ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः।
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १७ ॥
ये सब और दूसरे मध्यदेशीय अगणित राजगण युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञमें आये ॥ १७ ॥

ददुस्तेषामावसथान्धर्मराजस्य शासनात्।
बहुकक्ष्यान्वितान्राजन्दीर्घिकावृक्षशोभितान् ॥ १८ ॥
हे महाराज! धर्मराजकी आज्ञासे उनको बहुत कमरोंवाले ताल और वृक्षोंसे सुहावने वास-गृह दिये गये ॥ १८ ॥

तथा धर्मात्मजस्तेषां चक्रे पूजामनुत्तमाम्।
सत्कृताश्च यथोदिष्टाञ्जग्मुरावसथान्नृपाः ॥ १९ ॥
धर्मके पुत्र युधिष्ठिरने स्वयं उन नरेशोंकी उत्तम रीतिसे पूजा की और तब सत्कार पाकर वे राजगण अपने लिए निर्दिष्ट किये हुए डेरोंमें चले गए ॥ १९ ॥

कैलासशिखरप्रख्यान्मनोज्ञान्द्रव्यभूषितान्।
सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ॥ २० ॥
वे घर कैलासकी चोटीके समान ऊंचे सुन्दर, भांति भांतिकी सामग्रीसे सम्पन्न, चारों ओरसे अच्छी तरह घिरे हुए, अच्छी तरह बनाये गए और शुभ्र थे ॥ २० ॥

सुवर्णजालसंवीतान्मणिकुट्टिमशोभितान्।
सुखारोहणसोपानान्महासनपरिच्छदान् ॥ २१ ॥
तथा वे घर सुवर्णके जालसे सुशोभित, मणिकुट्टिमसे शोभित, सुखसे चढने योग्य सीढियोंसे सुख देनेवाले, मूल्यवान् वस्तु और आसनोंसे युक्त थे ॥ २१ ॥

स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ।
हंसांशुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ॥ २२ ॥

तथा मालाओंसे शोभित, सुन्दर अगुरुगन्धसे सुगंधित, हंस और चन्द्रमाके समान शुभ्र और योजन भरकी दूरीसे दीखनेवाले थे ॥ २२ ॥

असंबाधान्समद्वारान्युतानुच्चावचैर्गुणैः ।
बहुधातुपिनद्धाङ्गान्हिमवच्छिखरानिव ॥ २३ ॥

तथा एक दूसरेसे असंयुक्त, अलग अलग दरवाजोंसे युक्त वे घर अनेक गुणोंसे युक्त थे। तथा उन घरोंको अनेक धातुओंके रंगसे रंग देनेके कारण वे हिमालयकी चोटीके समान रंग बिरंगे दीख रहे थे ॥ २३ ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन्भूमिपा भूरिदक्षिणम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

आये हुए राजाओंने वहां विश्राम कर अन्तमें बहुत दक्षिणा देनेवाले अगणित मंत्रियोंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरको देखा ॥ २४ ॥

तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महात्मभिः ।
भ्राजते स्म तदा राजन्नाकपृष्ठमिवामरैः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ ११११६ ॥

महाराज ! सम्पूर्ण राजाओं, महात्माओं एवं ब्राह्मणोंसे भरी हुई वह सभा उस समय देवोंसे घिरे हुए स्वर्गकी भांति दीप्ति पाने लगी ॥ २५ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ ११११६ ॥

: ३२ :

वैशम्पायन उवाच—

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाराज ! तदनन्तर युधिष्ठिर आगे बढकर दादा भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यको प्रणामकर उनको और अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुर्योधन तथा विविंशतिसे यह वचन बोले ॥ १ ॥

अस्मिन्यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः।
इदं वः स्वमहं चैवः यदिहास्ति धनं मम।
प्रीणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमनियन्त्रिताः ॥ २ ॥

इस यज्ञमें आप सब प्रकार मुझ पर कृपा दर्शावें। यहां जो मेरी बहुत धनसम्पत्ति है, इसको तथा मुझे अपना ही जानें और सब परामर्श मुझको देकर कृतार्थ करें ॥ २ ॥

एवमुक्त्वा स तान्सर्वान्दीक्षितः पाण्डवाग्रजः।
युयोज ह यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ३ ॥

यज्ञमें दीक्षित पाण्डवज्येष्ठने उन सबसे यह कहकर अन्तमें सबको यथायोग्य अधिकारमें नियुक्त किया ॥ ३ ॥

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत्।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ४ ॥

भक्ष्य और भोज्य अर्थात् खानेपीनेके पदार्थोंके अधिकारमें उन्होंने दुःशासनको नियुक्त किया। ब्राह्मणोंके स्वागत करनेके कार्यमें अश्वत्थामाकी योजना की ॥ ४ ॥

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं संन्ययोजयत्।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ५ ॥

राजाओंकी पूजा करनेका भार सञ्जय पर दिया, कर्तव्यका पालन किया गया है वा नहीं, इसकी पूछताछके कार्यमें महामति भीष्म और द्रोणाचार्य नियुक्त हुए ॥ ५ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत्।
तथान्यान्पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन्न्ययोजयत् ॥ ६ ॥

हिरण्य, सुवर्ण और रत्नोंकी रक्षा तथा दक्षिणा देनेका भार युधिष्ठिरने कृपाचार्य पर डाल दिया और दूसरे पुरुषसिंहोंको भी उन उन कार्योंमें नियुक्त किया ॥ ६ ॥

बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत्तत्र रेमिरे ॥ ७ ॥

बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ नकुलके द्वारा आदर पाकर स्वामीकी भांति वहां रमने लगे ॥ ७ ॥

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद्विदुरः सर्वधर्मवित्।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥ ८ ॥

सब धर्मोंके जानकार क्षत्ता विदुर खर्च करनेवाले बने और दुर्योधन सब प्रकारके उपहारोंको लेनेके कार्य पर नियुक्त हुए ॥ ८ ॥

सर्वलोकः समावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ।
द्रष्टुकामः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ ९ ॥

श्रेष्ठ फल पानेकी इच्छासे और सभा तथा धर्मराज युधिष्ठिरको देखनेकी अभिलाषासे वहां सभी लोग आए ॥ ९ ॥

न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्रावरमर्हणम् ।
रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयन् ॥ १० ॥

वहां किसीने भी हजारसे कम उपहार नहीं दिया; सबने बहुत सा धनरत्न देकर धर्मराजको बढाया ॥ १० ॥

कथं नु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ॥ ११ ॥

राजगण इस प्रकार आपसमें स्पर्धा करते हुए धन देने लगे कि " कुरुराज युधिष्ठिर मेरे ही दिए गए धनरत्नसे यज्ञकी समाप्ति क्यों न करें ? " ॥ ११ ॥

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ।
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ॥ १२ ॥

देवोंके विमानोंको जिनका अगला भाग छू रहा है, ऐसे ऊंचे ऊंचे भवनों, सेनाओंसे घिरी हुई बुरुजों, इन्द्र आदि लोकपालोंके विमानों, ब्राह्मणोंके घरों ॥ १२ ॥

कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ।
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ॥ १३ ॥

राजाओंके लिये निर्मित, नानारत्नोंसे जटित, महान् ऋद्धिसे सम्पन्न सुशोभित विमानके सदृश गृहों ॥ १३ ॥

राजभिश्च समावृत्तैरतीवश्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन्कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

और परम श्रीसम्पत्तिसे सहित आये हुए राजाओंसे महात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी वह सभा बहुत शोभित हुई ॥ १४ ॥

ऋद्ध्या च वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः ।
षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद्दक्षिणावता ।
सर्वाञ्जनान्सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने ऐश्वर्यसे वरुणसे स्पर्धा करते हुए बहुत दक्षिणावाले तथा षडग्नियोंसे होनेवाले उस राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया और सब लोगोंको सब प्रकार काम्य वस्तु देकर तथा धनादि देकर तृप्त किया ॥ १५ ॥

×

अन्नवान्बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृत: ।
रत्नोपहारकर्मण्णो बभूव स समागमः ॥ १६ ॥

उस समयका समाज अन्नयुक्त, अनेक खाद्य पदार्थोंसे सम्पन्न, तृप्त हुए हुए लोगोंसे भरा हुआ और रत्नोंको ले जानेके काममें नियुक्त लोगोंसे भरा हुआ था ॥ १६ ॥

इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षासमन्वितैः ।
तस्मिन्हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥ १७ ॥

मन्त्र और प्रक्रियामें पण्डित महर्षियोंके द्वारा उस विशाल यज्ञमें इडा, आज्य और सोमकी आहुतियां दिए जानेपर देवोंकी परम तृप्ति हुई ॥ १७ ॥

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन्यज्ञे मुदान्विताः ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ समाप्तं राजसूयपर्व ॥ ११३४ ॥

देवोंकी भांति ब्राह्मण भी उस यज्ञमें दक्षिणा, अन्न और बहुत धन पाकर प्रसन्न हुए और दूसरे वर्णोंके लोग भी तृप्त और परम हर्षित हुए ॥ १८ ॥

॥ महाभरतके सभापर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ राजसूयपर्व समाप्त ॥ ११३४ ॥

: ३३ :

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह ।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्थं महर्षयः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— राजसूय यज्ञके अन्तमें अभिषेकके दिन महर्षि ब्राह्मणगण राजाओंके साथ सत्कारके लिए अन्तर्गृहमें गये ॥ १ ॥

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥ २ ॥
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयो यथा ।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार ब्रह्माके भवनमें देवगण और देवर्षि इकट्ठे होकर शोभित होते हैं, उसी प्रकार नारद आदि प्रमुख महात्मा राजर्षियोंके साथ उस अन्तर्गृहमें बैठकर बहुत शोभा पाने लगे। वे अति तेजस्वी ऋषिगण एक कामको समाप्त करके दूसरे कर्मकी प्रतीक्षा करते हुए आपसमें बातचीत करने लगे ॥ २–३ ॥

इदमेवं न चाप्येवमेवमेतन्न चान्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डाना: परस्परम् ॥ ४ ॥

बहुतसे वहाँ आपसमें यह वितण्डा करने लगे, कि "यह ऐसा होगा, नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता, यह अवश्य ऐसा ही है, यह कभी अन्यथा हो ही नहीं सकता" ॥ ४ ॥

कृशानर्थांस्तथा केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चितैः ॥ ५ ॥

वे अनेक प्रकार हेतु और शास्त्रोंके सिद्धान्त बताकर कमजोर सिद्धान्तको सशक्त और सशक्त सिद्धान्तको कमजोर सिद्ध करते थे ॥ ५ ॥

तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैः प्रपूरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥ ६ ॥

बाज जैसे उडते समय आकाशमें निहित, मांसपर झपट्टा मारता है, वैसे ही कोई कोई मेधावी जन दूसरोंके द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्तको व्यर्थ सिद्ध कर देते थे ॥ ६ ॥

केचिद्धर्मार्थसंयुक्ताः कथास्तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्ववेदविदां वराः ॥ ७ ॥

सब वेदोंके जानकारोंमें वरिष्ठ कोई कोई महाव्रती ब्राह्मण धर्मार्थसे संयुक्त कथाओंको कहने लगे ॥ ७ ॥

सा वेदिर्वेदसंपन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ॥ ८ ॥

महाराज ! वेदोंके ज्ञाता देवों, द्विजों और महर्षियोंसे वह वेदी उसी प्रकार सुशोभित हुई, जिस प्रकार निर्मल आकाश तारोंसे सुशोभित होता है ॥ ८ ॥

न तस्यां संनिधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रतः ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरके भवनमें उस अन्तर्वेदीके पास उस समय न कोई शूद्र ही उपस्थित था और न कोई हीन मनुष्य ही ॥ ९ ॥

तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् ।
तुतोष नारदः पश्यन्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

देवर्षि नारद लक्ष्मीसे युक्त बुद्धिमान् धर्मराजके यज्ञसे उत्पन्न हुई उस लक्ष्मीको देखकर प्रसन्न हुए ॥ १० ॥

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप ।
नारदस्तं तदा पश्यन्सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥

हे राजन् ! तदनन्तर क्षत्रिय कुलकी उस भीडको देखकर मुनि नारद चिन्ता करने लगे ॥ ११ ॥

सस्मार च पुरावृत्तां कथां तां भरतर्षभ ।
अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! ब्रह्माके भवनमें अंशावतरणके विषयमें जिसकी चर्चा हुई थी, उस प्राचीन कथाका स्मरण करने लगे ॥ १२ ॥

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन ।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥

हे कुरुनन्दन ! उस क्षत्रिय समाजको देवोंका समाज समझकर नारदने मन ही मनमें पद्मके समान नेत्रवाले हरिका स्मरण किया ॥ १३ ॥

साक्षात्स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः ।
प्रतिज्ञां पालयन्धीमाञ्जातः परपुरंजयः ॥ १४ ॥

कि देवोंके शत्रुओंका बध करनेवाले, शत्रुओंके नगरोंको उध्वस्त करनेवाले सामर्थ्यवान् नारायण ही अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए क्षत्रिय कुलमें प्रत्यक्ष उत्पन्न हुए हैं ॥ १४ ॥

संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान्भूतकृत्स्वयम् ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥ १५ ॥

प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले नारायणने देवोंको स्वयं यह आज्ञा दी थी कि "तुम मर्त्य लोकमें जन्म लेकर एक दूसरेको मारकर फिर अपने अपने लोकोंको प्राप्त करोगे" ॥ १५ ॥

इति नारायणः शम्भुर्भगवाञ्जगतः प्रभुः ।
आदिश्य विबुधान्सर्वानजायत यदुक्षये ॥ १६ ॥

जगत्के प्रभु भगवान् कल्याणकारी नारायणने सब देवोंको इस प्रकार आज्ञा देकर स्वयं यदुगृहमें जन्म लिया है ॥ १६ ॥

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः ।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥ १७ ॥

नक्षत्रोंमें चन्द्रमाके समान वंशको धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम नारायण मर्त्यलोकमें अन्धक और वृष्णियोंके वंशमें लक्ष्मीके सहित विराजमान हुए हैं ॥ १७ ॥

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्वे उपासते ।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ॥ १८ ॥

इन्द्रादि सब देवगण जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, शत्रुनाशी वह हरि अब मनुष्यके समान प्रकट हुए हैं ॥ १८ ॥

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम् ।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ॥ १९ ॥

कैसे आश्चर्यकी बात है, कि ये स्वयंभू नारायण स्वयं इस सेनासे युक्त क्षत्रिय जातिका नाश करेंगे ॥ १९ ॥

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास धर्मवित् ।
हरिं नारायणं ज्ञात्वा यज्ञैरीड्यं तमीश्वरम् ॥ २० ॥

धर्मके जानकरोंमें श्रेष्ठ अति बुद्धिमान् नारद यज्ञके द्वारा उपास्य नारायण हरिका ध्यान करके ऐसी चिन्तामें निमग्न हो गए ॥ २० ॥

तस्मिन्धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥

धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ महाबुद्धिमान् नारद धर्मराजके उस महायज्ञमें अत्यन्त सम्मानित होकर बैठ गए ॥ २१ ॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद्राजन्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियातामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥ २२ ॥

महाराज ! तदनन्तर भीष्मने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा– ' हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! सत्कारके योग्य राजाओंकी यथायोग्य पूजा करो ॥ २२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव संयुक्तं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं चाहुः षडर्घ्यार्हान्नृपं तथा ॥ २३ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! आचार्य, ऋत्विक्, सगे संबन्धी, स्नातक, मित्र और नरेश यह छः पुरुष अर्घ्य पानेके योग्य पात्र कहे जाते हैं ॥ २३ ॥

एतानर्हानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥

पन्डित लोग कहते हैं, कि एक वर्षके बाद आनेपर वे अर्घ्य पाते हैं और फिर ये तो बहुत दिनोंके बाद हमारे यहां आये हैं ॥ २४ ॥

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥

अतः इनमेंसे हरेकके लिये एक एक अर्घ्य ले आओ । पर इनमें जो सर्वोंसे श्रेष्ठ और समर्थ है, उन्हींको पहिले दो ' ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कस्मै भवान्मन्यतेऽर्घमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे कुरुनन्दन पितामह ! मुझसे कहें, कि आप कौनसे असाधारण जनको पहिले अर्घ्य पानेके योग्य समझते हैं ? ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य भारत ।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! तदनन्तर शान्तनु-कुमार भीष्म बुद्धिसे निश्चय कर वृष्णि-कुलमें उत्पन्न श्रीकृष्णको भूमण्डलभरमें पहिले पूजा पानेके योग्य विचार कर बोले ॥२७॥

एष ह्येषां समेतानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥

जैसे सब ज्योतिर्मालाओंमें आदित्य सबसे तेजस्वी है वैसे ही इन राजाओंमें श्रीकृष्ण तेज, बल और पराक्रमसे अत्यधिक प्रकाशित दीख पडते हैं ॥ २८ ॥

असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

सूर्यरहित देश सूर्यके उगनेसे जैसे प्रकाशित हो जाता है, अथवा जैसे वायुसे वर्जित स्थान वायु चलनेसे प्रसन्न हो जाता है, श्रीकृष्णके आनेसे हमारा यह सभा–मन्दिर वैसे ही प्रकाशित और प्रमुदित हुआ ॥ २९ ॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवद्वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर प्रतापी सहदेवने भीष्मकी आज्ञा पाकर विधिपूर्वक उन वृष्णिवंशमें उत्पन्न कृष्णको प्रधान अर्घ्य दिया ॥ ३० ॥

प्रतिजग्राह तत्कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णने शास्त्र-दर्शित कर्मसे उसे ले लिया, परन्तु वासुदेवकी वह पूजा शिशुपालसे सही नहीं गयी ॥ ३१ ॥

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।
अपाक्षिपद्वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ ११६६ ॥

वह महाबलवान् चेदिराज शिशुपाल सभामें भीष्म और धर्मराजको लाञ्छित कर श्रीकृष्णकी निन्दा करने लगा ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ ११६६ ॥

: ३४ :

शिशुपाल उवाच—

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपतिषु कौरव्य राजवत्पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥

शिशुपाल बोले– हे कौरव ! महात्मा तेजस्वी बडे बडे राजाओंके यहा विद्यामान रहते हुए वृष्णिनन्दन कृष्ण राजाओंके समान राजपूजा नहीं पा सकते ॥ १ ॥

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत्कामात्पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! तुमने जो स्वेच्छासे श्रीकृष्णकी पूजा की, यह तुम्हारा व्यवहार महात्मा पाण्डवोंके योग्य व्यवहार नहीं है ॥ २ ॥

बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं तत्राभ्यतिक्रान्त आपगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥

पाण्डवो ! तुम बालक हो, कुछ नहीं जानते हो, धर्म बडा सूक्ष्म है, यह अविचारी गंगाके पुत्र भीष्म भी (वृद्धताके कारण) अपनी बुद्धि खो बैठा है ॥ ३ ॥

त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।
भवत्यभ्यधिकं भीष्मो लोकेष्ववमतः सताम् ॥ ४ ॥

तुम्हारे समान ही स्वयंको धार्मिक समझनेवाला यह भीष्म अपनी ही प्रिय इच्छापर कार्य करने पर लोकसमाजमें साधुओंके अपमानका पात्र बन रहा है ॥ ४ ॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम्
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥

तुमने सभी नरेशोंके बीचमें यह कृष्ण राजा न होते हुए भी, जैसी पूजा तुमने की है, वैसी राजाओंके योग्य किस तरह प्राप्त कर सकता है ? ॥ ५ ॥

अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं भरतर्षभ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम कृष्णको वृद्ध जानके उसकी पूजा करना चाहते हो तो वृद्ध वसुदेव विद्यमान रहते उसका बेटा कैसे पूजनीय हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान्।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥

अथवा यदि प्रिय चाहनेवाले वा सहचरके रूपमें वसुदेवके बेटेकी पूजा करना चाहते हो, तो द्रुपदके उपस्थित रहते हुए कृष्ण पूजाके अधिकारी कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुपुंगव।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥

अथवा, हे कुरुश्रेष्ठ ! कृष्णको आचार्य जानकर यदि पूजा करना चाहते हो, तो द्रोणके विद्यमान रहते वार्ष्णेय कैसे पूजा जा सकता है ? ॥ ८ ॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन।
द्वैपायने स्थिते विप्रे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥

अथवा, हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! ऋत्विक् मानकर कृष्णको पूजना चाहते हो, तो कृष्ण-द्वैपायनके उपस्थित रहते तुमने कृष्णको क्यों पूजा ? ॥ ९ ॥

नैव ऋत्विङ्न चाचार्यो न राजा मधुसूदनः।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ ०१ ॥

हे कुरुशार्दूल ! यह वासुदेव न तो ऋत्विक है, न आचार्य है और न राजा ही है, फिर भी तुम्हारा इसे पूजना केवल प्रिय कामनाके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? ॥ १० ॥

अथ वाप्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! इस मधुसूदनको पूजना ही यदि तुम्हारा अभिप्राय था, तो अपमान करनेके लिये इन राजाओंको यहां बुलानेका क्या प्रयोजन था ? ॥ ११ ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान्सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥ १२ ॥

हमने न भयसे, न लोभसे वा न सन्धि करनेके लिये इन महात्मा कुन्तीकुमारको कर दिया है ॥ १२ ॥

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥ १३ ॥

यह धर्ममें प्रवृत्त होकर साम्राज्यकी कामना कर रहे हैं, इसीलिये सबने इनको कर दिया है, पर अब ये हमें कुछ मानते ही नहीं ॥ १३ ॥

किमन्यदवमानाद्धि यदिमं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ॥ १४ ॥

हे महाराज ! अपमानके अलावा यह और क्या हो सकता है कि राजसमाजमें राजलक्षणोंसे रहित कृष्णको तुमने पूजा है ॥ १४ ॥

अकस्माद्धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां प्रयोजयेत् ।
योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान्पुरा ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम धर्मके पुत्र हो, तुम धर्मात्मा हो, यह जो तुम्हारा यश था, उसे तुमने व्यर्थ ही नष्ट कर डाला । क्योंकि वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए जिस दुरात्माने पहिले महात्मा राजा जरासन्धको अनुचित रूपसे मारा है, इस धर्मत्यागीको कौन धर्मात्माके समान अनुचित पूजा दे सकता है ? ॥ १५ ॥

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
कृपणत्वं निविष्टं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ॥ १६ ॥

आज युधिष्ठिरमें धार्मिकता नष्ट हो गई और कृष्णकी पूजा करके आज युधिष्ठिरने अपनी दीनता ही प्रदर्शित की है ॥ १६ ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवोऽर्हति ॥ १७ ॥

हे कृष्ण ! ये बेचारे कुन्तीपुत्र तुम्हारे डरके कारण कमजोर हो गए हैं, फिर भी तुम्हें इसका तो विचार कर ही लेना चाहिए था कि तुम इस पूजाके योग्य हो या नहीं ? ॥ १७ ॥

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात्त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ १८ ॥

अथवा, कृष्ण ! यद्यपि ये बेचारे तुम्हारे पास पूजाकी सामग्री लाए, तथापि पूजाके अयोग्य होनेपर भी तुमने इस पूजाके लिये सम्मति कैसे दे दी ? ॥ १८ ॥

×

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशितुं श्वेव निर्जने ॥ १९ ॥

एकान्त स्थानमें मिले हुए हविके भागको खानेवाले कुत्तेके समान तुम पूजाके अयोग्य होते हुए भी इस पूजाको पाकर यह समझते हो कि तुम बहुत बडे हो गए ? ॥ १९ ॥

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामवमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २० ॥

हे जनार्दन ! यह श्रेष्ठ राजाओंका अपमान नहीं है, अपितु ये कौरव स्पष्टतया तुम्हारा ही अपमान कर रहे हैं ॥ २० ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।
अराज्ञो राजवत्पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २१ ॥

मधुसूदन ! नपुंसकका विवाह और अन्धेका रूप देखना जैसे संभव है, राजा न होकरके तुम्हारी राजाके समान पूजा किया जाना भी उसी प्रकार है ॥ २१ ॥

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद्यथातथम् ॥ २२ ॥

चाहे जो कुछ हो, राजा युधिष्ठिर कैसे हैं यह पहिचाने गये; भीष्म भी जैसे हैं, वह भी समझ लिया गया और यह कृष्ण कैसा है, यह भी समझा गया, जिसका जैसा गुण अवगुण था, वह भी प्रगट हो गया ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।
निर्ययौ सदसस्तस्मात्सहितो राजभिस्तदा ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४ ॥ ११८९ ॥

तब शिशुपाल उनसे यह कहकर परमासनसे उठकर राजाओंके साथ उस सभासे चला गया ॥ २३ ॥

महाभारतके सभापर्वमें चौतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ ११८९ ॥

: ३५ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर राजा युधिष्ठिर शिशुपालकी ओर तुरन्त दौडे और समझा बुझाकर उससे यह मीठी वाणी बोले ॥ १ ॥

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन्पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥

हे नरेश ! तुमने जैसी बात कही है, वह तुम्हारे योग्य नहीं है, हे राजन् ! तुम्हारे इस कथनमें परम अधर्म तो है ही, साथ ही कठोर होनेके कारण निरर्थक भी है ॥ २ ॥

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिव ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्था अतोऽन्यथा ॥ ३ ॥

हे महाराज ! यह कभी सम्भव नहीं हो सकता, कि शान्तनुनन्दन भीष्म परम धर्मको समझ नहीं सकते, अतः कुछका कुछ समझकर आप इनका अनादर न कीजिये ॥ ३ ॥

पश्य चैतान्महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतमान्बहून् ।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अपनेसे वृद्धतम इन राजाओंको देखिए ये सब राजा कृष्णकी पूजाको मान्यता दे रहे हैं, वैसे आप भी मान्यता दीजिये ॥ ४ ॥

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

हे चेदिनाथ ! कुरुनन्दन भीष्म यथार्थ रूपसे श्रीकृष्णके स्वरूपसे ज्ञात हैं। यह कौरव भीष्म श्रीकृष्णको जैसे जानते हैं, आप उनको वैसे नहीं समझते ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच—

नास्मा अनुनयो देयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नानुमन्यते ॥ ६ ॥

भीष्म बोले— सब लोकोंमें सबसे वृद्ध श्रीकृष्णकी पूजा जिसे प्यारी नहीं लगती, ऐसे जनसे विनय करना या उसे समझाना बेकार है ॥ ६ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥

युद्ध करनेवालोंमें श्रेष्ठ जो क्षत्रिय वीर किसी क्षत्रियको युद्धमें पराजित करके और उसे वशमें लाकर छोड़ देते हैं, वह विजेता क्षत्रिय पराजित क्षत्रियकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

अस्यां च समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥

इस राजसमाजमें मैं एक भी ऐसे राजाको नहीं देखता हूँ, जो युद्धमें सात्वतीके पुत्र कृष्णके तेजसे न हार गया हो ॥ ८ ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो जनार्दनः ॥ ९ ॥

यह जनार्दन अच्युत केवल हमारे ही पूजनीय नहीं हैं, अपितु ये तीनों लोकोंके द्वारा भी पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत्सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

कृष्णने बहुतसे क्षत्रिय श्रेष्ठोंको युद्धमें जीत लिया है और सम्पूर्ण विश्व इनमें सब प्रकारसे प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

तस्मात्सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा भूत्ते बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥

अतएव वृद्धोंके विद्यमान रहते हुए भी मैं श्रीकृष्णकी ही पूजा करता हूँ; दूसरोंकी नहीं । अतः, हे शिशुपाल ! इस विषयमें तुमको वैसा न कहना चाहिये था, ऐसी बुद्धि तुम्हारी फिर न हो ॥ ११ ॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन्बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ।
समागतानामश्रौषं बहून्बहुमतान्सताम् ॥ १२ ॥

हे राजन् शिशुपाल ! मैंने बहुतसे ज्ञानमें वृद्धोंकी उपासना की है और सत्पुरुष इकट्ठे होकर जो कथायें कहते हैं, उनमें गुणवान् कृष्णके सर्वमान्य अनेकों गुण मैंने सुने हैं ॥ १२ ॥

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ।
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ॥ १३ ॥

और भी इन धीमान् महापुरुषने जन्मसे जो जो कर्म किये हैं उन सबोंकी कथायें भी मैंने मनुष्यों द्वारा कही जाती हुई सुनी हैं ॥ १३ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ।
न संबन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ॥ १४ ॥
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूमसुखावहम् ।
यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्महे । ॥ १५ ॥

चेदिनाथ ! ऐसा कदापि मत समझना, कि हम भूमण्डल भरमें साधुओंसे पूजे जानेवाले, सब भूतोंको सुख देनेहारे जनार्दनको केवल स्वेच्छासे अथवा सम्बन्ध वा उपकारके लिये पूजते हैं; इनका यश, शूरता और जयका वृत्तान्त विशेष जान करके ही हम इनकी पूजा कर रहे हैं ॥ १४–१५ ॥

न हि कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ।
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ॥ १६ ॥

इस सभामें बालकसे बालककी भी परीक्षा करनेमें हम नहीं चूके हैं, पर गुणमें वृद्धजनोंको भी अतिक्रम कर हरि ही हमारे मतसे पूजनीय बने हैं ॥ १६ ॥

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ।
पूज्ये ताविह गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंमें ज्ञानके वृद्ध, क्षत्रियोंमें सबसे बली पूजे जाते हैं, पर गोविन्दमें ज्ञानवृद्धता और बलवृद्धता दोनों ही हैं ॥ १७ ॥

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यमितं तथा ।
नृणां हि लोके कस्यास्ति विशिष्टं केशवादृते ॥ १८ ॥

कृष्णमें वेदवेदाङ्गका विज्ञान भी है और बल भी अपरिमित है, इसलिए मनुष्यलोकमें केशवसे अधिक गुणवान् दूसरा कौन होगा ? ॥ १८ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ १९ ॥

दान, दाक्षिण्य, शास्त्रज्ञान, शूरता, लज्जा, कीर्ति, अच्छी बुद्धि, संनती, श्री, धृति, तुष्टि, पुष्टि ये सभी गुण कृष्णमें सदा प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ १९ ॥

तमिमं सर्वसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्च्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संमन्तुमर्हथ ॥ २० ॥

अतः, हे राजाओ ! ऐसे ज्ञानी आचार्य, पिता, गुरु, अर्चाके पात्र, अर्चनीय तथा सब गुणोंसे सम्पन्न अच्युतकी पूजाके लिए आप सब मान्यता दीजिये ॥ २० ॥

ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशे तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २१ ॥

हृषीकेश ऋत्विक, गुरु, कन्यादानके योग्य स्नातक, भूप और प्यारे यह सब ही कुछ हैं, इसी लिये हमने इनकी पूजा की ॥ २१ ॥

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं समर्पितम् ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण ही सब लोकोंके उत्पत्ति और प्रलयके कारण हैं । श्रीकृष्णहीके लिये यह चराचर विश्व रचा गया है ॥ २२ ॥

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद् वृद्धतमोऽच्युतः ॥ २३ ॥

यही कृष्ण ही अव्यक्त प्रकृति अर्थात् जगत्के उपादान कारण कर्ता सनातन और सर्व भूतोंसे अतीत हैं, इसीलिये अच्युत सबसे अधिक पूजनीय हैं ॥ २३ ॥

बुद्धिर्मनो महान्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥

बुद्धि, मन, महान् तत्त्व, वायु, तेज, जल, आकाश, पृथ्वी और चार प्रकारके प्राणी (जरायुज, स्वदेज, अण्डज, उद्भिज) सब कृष्णमें प्रतिष्ठित हैं ॥ २४ ॥

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये।
दिशश्चोपदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रदल, ग्रहगण, दिग्मण्डल और उपदिशायें सब श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ॥ २५ ॥

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥ २६ ॥

पर यह मूर्ख पुरुष शिशुपाल श्रीकृष्णको समझता नहीं है, इसीलिये सब जगह और सदा कृष्णकी इस प्रकार निन्दा किया करता है ॥ २६ ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान्नरः।
स वै पश्येद्यथाधर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ २७ ॥

जिस प्रकार उत्कृष्ट धर्मका संचय करनेवाले किसी बुद्धिमान् जनको धर्मके तत्त्वका पता लग जाता है, उस प्रकार यह मूर्ख शिशुपाल धर्मकी गति नहीं समझ सकता ॥ २७ ॥

सवृद्धबालेष्वथ वा पार्थिवेषु महात्मसु।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥ २८ ॥

इन बालों, वृद्धों और महात्मा राजाओंमें ऐसा कौन होगा, कि जो कृष्णको पूजाके योग्य नहीं मानता अथवा उनकी पूजा नहीं करता ? ॥ २८ ॥

अथेमां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ १२१८ ॥

अथवा यदि शिशुपालको निश्चय हो, कि पूजा अनुचित हुई है, तो वह इस पूजाके अयोग्य हो जानेके कारण यथायोग्य पूजा कर सकता है ॥ २९ ॥

महाभारतके सभापर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ १२१८ ॥

: ३६ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महायशाः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद्वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—महायशस्वी भीष्म ऐसा कहकर चुप हो गए, तब सहदेव उसके उत्तरमें यह अर्थयुक्त वचन बोले ॥ १ ॥

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥

हे राजओ ! अपरिमित पराक्रमी और केशि राक्षसका वध करनेवाले केशवका मेरे द्वारा पूजा जाना तुममें जिस नरेशसे सहा न जाये ॥ २ ॥

सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥

तो मैं सब बलशालियोंके सिर पर यह लात मारता हूं, मेरे इस वचनका वे उचित उत्तर देवें ॥ ३ ॥

मतिमन्तस्तु ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्च्यमर्चितमर्चार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ॥ ४ ॥

और जितने बुद्धिमान् राजा हैं, वे इन आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय और अर्घ्य देनेके योग्यपात्र श्रीकृष्णकी पूजाको स्वीकार कर लें ॥ ४ ॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद्बुद्धिमतां सताम् ।
मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये संदर्शिते पदे ॥ ५ ॥

इस प्रकार सहदेवके पैर दिखानेपर भी बुद्धिमान् साधु अभिमानी और बलशाली इन राजाओंमेंसे किसीने भी कुछ नहीं कहा ॥ ५ ॥

ततोऽपतत्पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ।
अदृश्यरूपा वाचश्चाप्यब्रुवन्साधु साध्विति ॥ ६ ॥

तब सहदेवके सिरपर फूल वृष्टि हुई और अनेक आकाशवाणियोंने "साधु साधु" शब्द कहे ॥ ६ ॥

आविध्यदजिनं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ॥ ७ ॥

भविष्य और भूतकालको बतानेवाले, सभी संशयोंके नष्ट करनेवाले, सब लोकोंको जानने-वाले नारदने कृष्णको अजेय सिद्ध किया ॥ ७ ॥

तत्राहूतागताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः।
संप्रादृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ ८ ॥
वहां बुलाये गए और आये हुए सभी सुनीथ आदि मुख्य मुख्य राजा क्रोधित होनेके कारण बदले हुए रंगके चेहरेवाले दिखाई दिए ॥ ८ ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम्।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥ ९ ॥
तब आपसमें निश्चय करके क्रोधसे राजाओंने उस सभामें युधिष्ठिरके अभिषेककी और वासुदेवके पूजाकी निन्दा की ॥ ९ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ ०१ ॥
पर अपने मित्रों द्वारा रोके जाते हुए उन राजाओंका रूप उसी प्रकार शोभित हुआ, जिस प्रकार मांसके पाससे दूर किये जाते हुए तथा गरजते हुए सिंहोंका होता है ॥ १० ॥

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम्।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥ ११ ॥
राजाओंरूपी सागरकी वह अमर्यादित और अविनाशी सेना युद्धके लिए (तैय्यार हो रही है), यह बात श्रीकृष्ण जान गए ॥ ११ ॥

पूजायित्वा च पूजार्हं ब्रह्मक्षत्रं विशेषतः।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ २१ ॥
पूजाके योग्य ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी पूजा करके मनुष्योंमें देवरूप सहदेवने वह कर्म पूरा किया ॥ १२ ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ १३ ॥
तब श्रीकृष्णकी पूजा हो जानेपर शत्रुनाशी शिशुपाल आंखें लाल करके क्रोधसे राजाओंसे बोले– हे राजाओ ! सेनापतिके रूपमें मैं यहां खडा हुआ हूँ ॥ १३ ॥

स्थितः सेनापतिर्वोऽहं मन्यध्वं किं नु सांप्रतम्।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान्वृष्णिपाण्डवान् ॥ ४१ ॥
अब आप निश्चय करें कि क्या करना है, हम सब तैय्यार होकर इन मिले हुए वृष्णि और पाण्डवोंसे रणमें भिड जायें ॥ १४ ॥

इति सर्वान्समुत्साह्य राज्ञस्तांश्चेदिपुङ्गवः।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षट्‌त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ समाप्तमार्घाभिहरणपर्व ॥ १२३३ ॥

चेदिराज शिशुपाल इस प्रकार उन राजाओंको भरपूर उत्साहित कर अन्तमें उनसे यज्ञमें विघ्न डालनेके लिए सलाह करने लगा ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ अर्घाभिहरणपर्व समाप्त ॥ १२३३ ॥

: ३७ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिसागरम्।
रोषात्प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

भीष्मं मतिमतां श्रेष्ठं वृद्धं कुरुपितामहम्।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवारिहा ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर इन्द्र जैसे बृहस्पतिसे परामर्श पूछते हैं, उसी प्रकार अति तेजस्वी शत्रुनाशी युधिष्ठिरने क्रोधसे उफनते हुए उस राजाओंके सागरको सागरके समान निहारकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुपितामह वृद्ध भीष्मसे यह पूछा ॥ १–२ ॥

असौ रोषात्प्रचलितो महान्नृपतिसागरः।
अत्र यत्प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

हे पितामह! यह विशाल राजसमुद्र क्रोधके मारे लहरा उठा है, इस विषयमें जैसा उपाय करना उचित हो वह उपाय, हे पितामह! आप मुझे बतायें ॥ ३ ॥

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात्प्रजानां च शिवं भवेत्।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥ ४ ॥

हे पितामह! यज्ञमें विघ्न न हो और प्रजाओंका सर्वत्र मङ्गल हो वह सब उपाय आप मुझे बतावें ॥ ४ ॥

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥ ५ ॥

तब धर्मज्ञ धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर कुरुओंके पितामह भीष्म यह वचन बोले ॥ ५ ॥

×

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति ।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥
हे कुरुशार्दूल! तुम डरो मत, क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है? इस विषयमें मैंने पहिले ही अच्छा और कल्याणकारी उपाय सोच लिया है ॥ ६ ॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तत्र समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥
जिस प्रकार सिंहके सो जानेपर वहां कुत्ते आकर मिलकर भौंका करते हैं, उसी प्रकार ये सब राजा भौंक रहे हैं ॥ ७ ॥

वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथेमे प्रमुखे स्थिताः
भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ ॥ ८ ॥
जिस प्रकार सिंहके पास कुत्ते भौंका करते हैं, उसी प्रकार, हे तात! वृष्णियोंमें सिंहके समान कृष्णके चुपचाप बैठे रहनेके कारण ये क्रोधित राजा कुत्तेके समान भौंक रहे हैं ॥ ८ ॥

न हि संबुध्यते तावत्सुप्तः सिंह इवाच्युतः ।
तेन सिंहीकरोत्येतान्नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
नींदमें पडे सिंहके समान अच्युत जबतक जागते नहीं है, तबतक नरसिंह चेदिराज इन लोगोंको सिंह बना रहा है ॥ ९ ॥

पार्थिवान्पार्थिवश्रेष्ठ शिशुपालोऽल्पचेतनः ।
सर्वान्सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम् ॥ १० ॥
हे राजाओंमें श्रेष्ठ तात! अल्पबुद्धिवाला शिशुपाल सब राजाओंको सब प्रकारसे यमराजके घर ले जाना चाहता है ॥ १० ॥

नूनमेतत्समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः ।
यदस्य शिशुपालस्थं तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥
हे भारत! शिशुपालका यह जो तेज है, जान पडता है, कि श्रीकृष्ण निश्चय ही उसे हर लेना चाहते है ॥ ११ ॥

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥
हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। इस चेदिराज शिशुपालकी और सब राजाओंकी बुद्धि ही लुप्त हो गई है ॥ १२ ॥

आदातुं हि नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं यदा ।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥

वास्तवमें यह नरव्याघ्र माधव जब जिसको मारना चाहते हैं तब चेदिराज शिशुपालके समान उनकी बुद्धि पहले ही बिगड जाती है ॥ १३ ॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः ।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! कृष्ण त्रिभुवन भरमें जरायुजादि चार प्रकारके सब भूतोंकीही उत्पत्ति और लयके कारण हैं ॥ १४ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ १२४८ ॥

हे भारत ! भीष्मकी यह बात सुनकर नरेश चेदिराज भीष्मको रूखे अक्षरोंसे युक्त तीक्ष्ण वचन सुनाने लगा ॥ १५ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ १२४८ ॥

: ३८ :

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन्सर्वपार्थिवान् ।
न व्यपत्रपसे कस्माद्वृद्धः सन्कुलपांसनः ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला— हे भीष्म ! तुम वृद्ध होकर कुलमें कलङ्क क्यों लगाते हो और अनेक तरहके भय दिखाते हुए सब राजाओंको डर दिखलानेमें लजाते भी नहीं ? ॥ १ ॥

युक्तमेतत्तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया ।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ २ ॥

अथवा जन्मसे ही नपुंसकके रूपमें बने रहकर ऐसा धर्मसे हीन अर्थका कहना तुम्हारे योग्य ही तो है, क्योंकि तुम सब कुरुओंमें मुख्य हो ॥ २ ॥

नावि नौरिव संबद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात् ।
तथाभूता हि कौरव्या भीष्म येषां त्वमग्रणीः ॥ ३ ॥

जिनके तुम अग्रणी या प्रधान हो, वे कौरव ठीक उसी दशामें हैं, कि जैसे एक नाव दूसरीसे बंधी हुई हो अथवा जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेके पीछे चलता है ॥ ३ ॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रच्यावितं मनः ॥ ४ ॥

कृष्णका पूतना–वध आदि कर्म विशेष रूपसे कह कर तुमने हमारे हृदयमें बडी व्यथा पहुंचाई है ॥ ४ ॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः ।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥ ५ ॥

हे भीष्म ! केशवकी स्तुति करनेकी इच्छा करनेवाले अभिमानी और मूर्ख तुम्हारी जीभ सैंकडों भागोंमें क्यों नहीं फट जाती ? ॥ ५ ॥

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन्गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

हे भीष्म ! अति अज्ञानी मनुष्योंके द्वारा भी जिसकी निंदा की जानी चाहिए, उस ग्वालेकी तुम ज्ञानमें वृद्ध हो करके भी स्तुति करना चाहते हो ॥ ६ ॥

यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् ।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥

हे भीष्म ! कृष्णने बचपनमें यदि एक चिडिया (पूतना) मार दी अथवा जो युद्धको नहीं जाननेवाले थे, उन अश्व और बैलको मार दिया, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ७ ॥

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥

और भी यदि इसने सूखी हुई लकडीकी गाडी पांवसे गिरा दी, तो हे भीष्म ! उसमें भला कौनसा बडा आश्चर्य कर दिखाया ? ॥ ८ ॥

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः ।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

हे भीष्म ! दीमकके टीलेके समान गोवर्धन गिरिको यदि इसने सप्ताह भर उठा भी लिया, तो वह मेरी समझमें कोई बडी बात नहीं है ॥ ९

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि ।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परं विस्मयमागताः ॥ १० ॥

तुम्हारी इस बातको सुनकर कि “ पहाडकी चोटी पर खेलते कूदते इसने बहुत अन्न खाया था ” सबको बडा आश्चर्य हुआ है ॥ १० ॥

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः ।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महद्भुतम् ॥ ११ ॥

हे धर्मज्ञ ! जिस बलवान्‌का अन्न इसने खाया था, उसी कंसको इसने मार डाला, यह कोई बडे आश्चर्यकी बात नहीं है ? ॥ ११ ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् ।
यद्वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञ वाक्यं कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥

हे कुरुकुलमें नीच अधर्मज्ञ भीष्म ! प्रतीत होता है कि तूने सज्जनोंके द्वारा कहे हुए इस वचनको नहीं सुना है, इसलिए तुझे मैं यह वचन कहता हूँ ॥ १२ ॥

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद्ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यश्च स्याच्छरणागतः ॥ १३ ॥

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जना धर्मिणः सदा ।
भीष्म लोके हि तत्सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ॥ १४ ॥

वीर पुरुष स्त्री, गौ और ब्राह्मणों पर और जिसका अन्न खाया हो तथा जो शरणमें आ चुका हो, इन पर कभी शस्त्र प्रहार न करे, इस प्रकार धार्मिक सन्त एवं सज्जन उपदेश देते हैं, पर हे भीष्म ! लोकोंमें तुझमें वह सब व्यर्थ दीख पडते हैं ॥ १३–१४ ॥

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम ।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन्कुरुसत्तम ।
गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन्भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥ १५ ॥

हे कौरवोंमें श्रेष्ठ भीष्म ! यह समझ कर, कि मानो मैं कुछ जानता ही नहीं, तू मेरे सामने केशवकी स्तुति करके उसकी ज्ञानमें वृद्ध, वृद्ध, महान्, इत्यादि नानाविध बातोंसे प्रशंसा कर रहा है, पर एक गौ बैलको मारनेवाला और स्त्री (पूतना) को मारनेवाला पुरुष प्रशंसा या स्तुतिका पात्र कैसे हो सकता है ? ॥ १५ ॥

असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः ।
संभावयति यद्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः ।
एवमेतत्सर्वमिति सर्वं तद्वितथं ध्रुवम् ॥ १६ ॥

" यह (कृष्ण) बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ है और यह सब लोकोंका स्वामी है " आदि तुम्हारी बातोंको सुनकर यह जनार्दन भी यह सब सच मानकर अपनेको उन सबके योग्य समझ रहा है, पर वास्तवमें वह सब झूठ है ॥ १६ ॥

न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १७ ॥

मुंहसे भले ही अनेक बातें कहीं जायें, पर कहनेवालेको उन बातोंका कोई फायदा नहीं होता, भूलिङ्ग × पक्षीके समान सब प्राणी अपने स्वभाव पर ही जाते हैं ॥ १७ ॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नात्र संशयः।
अतः पापीयसी चैषां पाण्डवानामपीष्यते ॥ १८ ॥
येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः।
धर्मवाक्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ १९ ॥

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, कि तुम्हारा यह स्वभाव भी बहुत नीच है। इसी कारण, जिनके लिए कृष्ण अत्यन्त पूज्य है और सज्जनोंके मार्गसे भ्रष्ट तथा धर्म न जानता हुआ भी धर्मका उपदेश देनेवाला तू जिनका पथ प्रदर्शक है, ऐसे उन पाण्डवोंका स्वभाव तुझसे भी अधिक पापी है ॥ १८-१९ ॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानवतां वरः।
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २० ॥

हे भीष्म! धर्मको जाननेवाले तूने जो कर्म किया है, क्या वैसा कार्य ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कोई अपनेको धर्मशील जानता हुआ कर सकता है? ॥ २० ॥

अन्यकामा हि धर्मज्ञ कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञ भीष्म! अम्बा नामकी काशीराजकी पुत्रीने और ही कुछ कामना की थी, तूने प्राज्ञ होनेका घमण्ड मारते हुए भी उसे क्यों हर लिया? ॥ २१ ॥

यां त्वयापहृतां भीष्म कन्यां नैषितवान्नृपः।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां वृत्तमनुष्ठितः ॥ २२ ॥

तेरे भाई राजा विचित्रवीर्यने तेरे द्वारा हरी गई उस कन्याको स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार सज्जनोंके मार्गको अपनाया था ॥ २२ ॥

दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २३ ॥

तुम प्राज्ञ कहनेकी ऐसी बडाई रखते हो, फिर भी तुम्हारे सामने ही विचित्रवीर्यकी दो स्त्रियोंमें अन्यजन द्वारा सज्जनसे आचरण किये पथके अनुसार सन्तानें उपजाजी गई थीं ॥ २३ ॥

× भूलिंग एक पक्षी है, जो हमेशा यही चिल्लाता रहता है कि "साहस मत करो", पर स्वयं अत्यन्त साहस करके शेरके जबडेमें फंसे हुए मांसके टुकडोंको चुन चुन कर खाता है।

न हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद्धारयसि मोहाद्वा क्लीबत्वाद्वा न संशयः ॥ २४ ॥

हे भीष्म ! यह कोई धर्म नहीं है ! तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य व्यर्थ है, या तो मोहसे, नहीं तो नपुंसक होनेके कारण तुमने इस ब्रह्मचर्यव्रतको धारण किया है ॥ २४ ॥

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रुवन् ॥ २५ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं कहीं भी तुम्हारी उन्नति नहीं देखता हूं । जिन्होंने धर्मकी व्याख्या की है, उन पण्डितोंकी तुमने कभी उपासना नहीं की है ॥ २५ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ २६ ॥

देवसेवा, दान, पठन, बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञ, यह पुत्रफलके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २६ ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २७ ॥

हे भीष्म ! बहुविध व्रत उपवाससे जो कुछ पुण्य प्राप्त होता है, पुत्रहीन जनका वह सब निःसन्देह व्यर्थ हो जाता है ॥ २७ ॥

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुशासनात् ।
हंसवत्त्वपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ २८ ॥

मिथ्या धर्मका पालन करनेके कारण तुम भी बिना पुत्रके ही वृद्ध हो गए हो, अतः हंसकी भांति अब अपने ही बन्धुओंके द्वारा वधको प्राप्त होओ ॥ २८ ॥

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म यत्तदहं सम्यग्वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ २९ ॥

हे भीष्म ! ज्ञानमें पण्डित दूसरे मानव भी पहिले यह कह गये हैं, मैं सुननेवाले तुमसे भली प्रकार वह कहता हूं ॥ २९ ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत्पुरा ।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति ह ॥ ३० ॥

पहिले समुद्रके किनारे कोई एक बूढा हंस रहता था । वह बडा अधर्म किया करता था, पर धर्मकी कथा सुनाकर पक्षियोंको उपदेश करता फिरता था ॥ ३० ॥

धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल ।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं धर्मवादिनः ॥ ३१ ॥
हे भीष्म ! पक्षीगण हमेशा धर्म कहनेवाले उसकी यह बात, कि "तुम धर्मका आचरण करो, अधर्मका नहीं ।" सदा सुनते थे ॥ ३१ ॥

अथास्य भक्षमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३२ ॥
हे भीष्म ! सुना जाता है, कि समुद्रके जलमें विचरनेवाले दूसरे अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले जन्तु भी धर्मार्थमें उसको भोजन ला देते थे ॥ ३२ ॥

तस्य चैव समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमोदन्त चरंतो भीष्म पक्षिणः ॥ ३३ ॥
हे भीष्म ! वे सब उसके पास अपने अपने अण्डे रखकर सागर जलमें घूम फिर आनन्द करते थे ॥ ३३ ॥

तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ।
स हंसः संप्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ॥ ३४ ॥
वह पापिष्ठ हंस अपने कर्ममें सदा सावधान रहकर असावधान रहनेवाले उन सब पक्षियोंके अण्डे खा जाता था ॥ ३४ ॥

ततः प्रक्षीयमाणेषु तेष्वण्डेष्वण्डजोऽपरः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञस्तं कदाचिद्ददर्श ह ॥ ३५ ॥
तदनन्तर धीरे धीरे उन सब अण्डोंके चुक जानेपर दूसरा एक बडा बुद्धिमान् पक्षी मन ही मनमें भय खा गया और किसी एक दिन प्रत्यक्षमें भी उसकी वह लीला देख ली ॥ ३५ ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् ।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३६ ॥
तब हंसका यह पापकार्य देखकर और बहुत दुःखी होकर उस पक्षीने सब पक्षियोंसे कह दी ॥ ३६ ॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समागताः ।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ॥ ३७ ॥
हे कुरुश्रेष्ठ ! इसके बाद उन पक्षियोंने अपनी आंखोंसे सब कुछ देखकर उस झूठे और मिथ्या आचरण करनेवाले उस हंस पक्षीको मार डाला ॥ ३७ ॥

ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तमिवाण्डजम् ॥ ३८ ॥

हे भीष्म! क्रुद्ध हुए हुए पक्षियोंने जैसे उस हंसको मार डाला, उसी प्रकार ये राजा तुझे भी मार डालेंगे, क्योंकि तू उस हंसके समान अधर्माचरणी है ॥ ३८ ॥

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
भीष्म यां तां च ते सम्यक्कथयिष्यामि भारत ॥ ३९ ॥

हे भरतपुत्र! पुराणके जानकार पण्डित लोग इस विषयमें एक कथा कहते हैं। उसे भी पूरी तरह तुमसे कहता हूं ॥ ३९ ॥

अन्तरात्मनि विनिहिते रौषि पत्ररथ वितथम्।
अण्डभक्षणमशुचि ते कर्म वाचमतिशयते ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ १२८८ ॥

"रे हंस! कामादिसे तेरी अंतरात्मा घायल होनेपर भी तू धर्मकी बातें कर रहा है, पर अण्डा खानेके समान यह अपवित्र कर्म तेरी बातको महत्त्वहीन बना देता है ॥ ४० ॥

महाभारतके सभापर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ १२८८ ॥

: ३९ :

शिशुपाल उवाच—

स मे बहुमतो राजा जरासंधो महाबलः।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला— इस कृष्णको दास जानके जिन्होंने इससे लडना नहीं चाहा था, वह महाबली बडे पराक्रमी राजा जरासंध मेरे बडे माननीय थे ॥ १ ॥

केशवेन कृतं यत्तु जरासंधवधे तदा।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत्साध्विति मन्यते ॥ २ ॥

जरासन्धके मारे जानेके कालमें केशव, भीम तथा अर्जुनने जो कर्म किया था, उसे कौन सुकर्म कह सकता है? ॥ २ ॥

अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य धीमतः ॥ ३ ॥

इस कृष्णने कुद्वारसे घुसनेवाले तथा छलसे अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले बुद्धिमान् जरासन्धका प्रभाव भली प्रकार समझ लिया था ॥ ३ ॥

×

येन धर्मात्मनात्मानं ब्रह्मण्यमभिजानता ।
नैषितं पाद्यमस्मै तद्दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

अपनेको ब्राह्मण भक्त समझनेवाले जिस धर्मात्मा जरासंधने भी पहले इस दुरात्माको पाद्य नहीं देना चाहा ॥ ४ ॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः ।
जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥

जरासन्धने जब कृष्ण, भीम और धनञ्जयको भोजन करनेको कहा था, तब कृष्णने उलटा ही काम किया ॥ ५ ॥

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे ।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥

हे मूर्ख ! तेरे मतसे यदि यह कृष्ण जगत्का कर्ता है, तो अपनेको सचमुच ब्राह्मण क्यों नहीं समझता ? ॥ ६ ॥

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया ।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥

मुझको सबसे बडा आश्चर्य तो यह जान पडता है, कि यद्यपि तुम पाण्डवोंको सज्जनोंके पथसे हटाते हो, उसपर भी वे तुम्हारे अभिप्रायको भला समझते हैं ॥ ७ ॥

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत ।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥

अथवा स्त्रीके समान बने हुए और वृद्ध तुम जब इनके सब अर्थोंके दर्शानेवाले बने हो, तब इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

वैशम्पायन बोले— शिशुपालकी रूखे अक्षरोंसे युक्त उन रूखी बातोंको सुनके बलियोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधयुक्त हो गए ॥ ९ ॥

तस्य पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते ।
भूयः क्रोधाभिताम्रान्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥

कमलदलके सदृश और स्वभावहीसे फैले और क्रोधसे लाल दोनों नेत्र और भी लाल बन गये ॥ १० ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥

उनकी तीन स्थानोंसे ठेढी हुई हुई भौंह सब राजाओंको इस प्रकार दीखी, कि मानों त्रिकूट पर्वतके शिखरपरसे तीन मार्गोंसे बहनेवाली कोई गंगा हो ॥ ११ ॥

दन्तान्संदशतस्तस्य कोपाद्ददृशुराननम् ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव दिधक्षतः ॥ १२ ॥

क्रोधके मारे दांतसे दांत पीसते हुए उनका मुखमण्डल मानो युगान्तके सब लोकोंको जलानेकी इच्छा करनेवाले कराल कालके समान दीख पडने लगा ॥ १२ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥

वेगसे (शिशुपालकी तरफ) दौडते हुए उस मनस्वी भीमको महाबाहु भीष्मने उसी प्रकार पकड लिया, जिस प्रकार भगवान् शंकर महासेन कार्तिकेयको पकड लेते हैं ॥ १३ ॥

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥

हे भारत ! रोके जाते हुए उस भीमका क्रोध वृद्ध भीष्मके विविध वचनोंसे शान्त हो गया ॥ १४ ॥

नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः ।
समुद्धूतो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार लहराता हुआ महासमुद्र वर्षा बीतने पर तटकी भूमिके ऊपर नहीं चढता, वैसे शत्रुनाशी वृकोदर भी भीष्मकी बातका उल्लंघन नहीं कर सके ॥ १५ ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने नराधिप ।
नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

हे राजन् ! पर भीमसेनके क्रोधित होने पर भी वीरवर शिशुपाल अपने बल पर स्थिर होनेके कारण जरा भी कांपा नहीं ॥ १६ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिंदमः ।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्षुद्रमृगं तथा ॥ १७ ॥

हे शत्रुनाशी ! सिंह जैसे छोटे मृगकी परवाह नहीं करता, वैसे वृकोदरको वेगसे बारबार अपनी तरफ आते हुए देखने पर भी उनसे उनको कोई भय नहीं हुआ ॥ १७ ॥

प्रहसंश्चाब्रवीद्वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥

भीम पराक्रमी भीमसेनको सब प्रकारसे क्रोधित देखकर प्रतापी चेदिराज हंसता हुआ यह बोला ॥ १८ ॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः ।
मत्प्रतापाग्निनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥

हे भीष्म ! उसे छोड दो । ये राजा उसे अग्निसे पतङ्गकी भांति मेरे प्रभावाग्निसे जलते हुए देख लें ॥ १९ ॥

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं तच्छ्रुत्वा कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ १३०८ ॥

तब चेदिराजकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुश्रेष्ठ भीष्म भीमसे यह वचन बोले ॥ २० ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें उन्तालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ १३०८ ॥

: ४० :

भीष्म उवाच—

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्म बोले- यह शिशुपाल तीन आंखों और चार भुजाओंसे युक्त होकर चेदिकुलमें उत्पन्न हुआ था और जन्म लेते ही गदहेकी आवाजमें चिल्लाया था ॥ १ ॥

तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ ।
वैकृतं तच्च तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इस पर इसके पिता माता अपने बान्धवों सहित डर गए और वे उसे विकृत रूपवाला देखकर उसे छोड देनेका विचार करने लगे ॥ २ ॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासंमूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥

तब अपनी पत्नी, मंत्री और पुरोहितके साथ चेदिराज चिन्ताके कारण मूढ हृदय हो गया तब आकाशवाणी बोली ॥ ३ ॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो महाबलः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

"हे राजन् ! यह जो तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह बडा बली और श्रीमान् होगा, इसलिए इससे तुमको भय नहीं है, तुम बिना घबराये इस बच्चेको पालो ॥ ४ ॥

न चैवैतस्य मृत्युस्त्वं न कालः प्रत्युपस्थितः ।
मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥

हे राजन् ! तुम्हारे प्रयत्नसे इसकी मृत्यु नहीं होगी । अभी इसके मरनेका समय नहीं आया है । शस्त्रसे इसकी मृत्यु होगी और इसको मारनेवाला उत्पन्न भी हो चुका है" ॥ ५ ॥

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः ।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुप्त वाणीके द्वारा कहे हुए इस वचनको सुनकर पुत्रस्नेहसे व्याकुल उस माताने उस गुप्त व्यक्तिसे कहा ॥ ६ ॥

येनेदमीरितं वाक्यं ममैव तनयं प्रति ।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥

"मेरे पुत्रके प्रति जिसने यह वाणी कही है, मैं हाथ जोड उसको प्रणाम करती हूं । वह एक बात फिर कहे ॥ ७ ॥

श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ।
अन्तर्हितं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः ॥ ८ ॥

मैं सुनना चाहती हूं, कि इस पुत्रको मारनेवाला कौन होगा ।" तब गुप्त हुए प्राणीने यह वचन फिर कहे ॥ ८ ॥

येनोत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ।
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ ॥ ९ ॥

"जिसके अपनी गोदमें लेनेसे इस बच्चेकी दो अधिक भुजायें पांच सिरवाले दो सर्पोंके सदृश धरती पर गिर जायंगे ॥ ९ ॥

तृतीयमेतद्बालस्य ललाटस्थं च लोचनम् ।
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ १० ॥

और जिसको देखकर इसके माथे परका यह तीसरा नेत्र गायब हो जायगा, वही इसको मारेगा" ॥ १० ॥

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ।
धरण्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन्दिदृक्षवः ॥ ११ ॥
त्रिनेत्रवाले चतुर्भुजाओंवाले बालक और उसपर कही हुई देववाणीका वृत्तान्त सुनकर पृथ्वी भरके सब नरेश उसे देखनेके लिए आये ॥ ११ ॥

तान्पूजयित्वा संप्राप्तान्यथार्हं स महीपतिः ।
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत्तदा ॥ १२ ॥
चेदिराजने आये हुए उन राजाओंकी यथायोग्य पूजा करके हर नरेशकी गोदमें पुत्रको रखा ॥ १२ ॥

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ।
शिशुरङ्के समारूढो न तत्प्राप निदर्शनम् ॥ १३ ॥
इस प्रकारसे क्रमशः सहस्रों राजाओंकी गोदमें रखने पर भी बच्चे पर कुछ प्रभाव नहीं पडा ॥ १३ ॥

ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तां पितुस्तदा ॥ १४ ॥
यदुनन्दन महाबली बलराम और जनार्दन अपने पिताकी बहिन यदुकन्यासे मिलनेके लिए चेदिनगर आये ॥ १४ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं यथाज्येष्ठं नृपांश्च तान् ।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १५ ॥
और श्रेष्ठताके अनुसार न्यायानुसार उन राजाओंको अभिवादन करके कुशल क्षेम पूछकर राम और कृष्ण आसनोंपर बैठे ॥ १५ ॥

अभ्यर्चितौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः ।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात्स्वयम् ॥ १६ ॥
तदनन्तर उन वीरोंके पूजे जानेपर राजमहिषीने बहुत अधिक प्रीतिसे स्वयं दामोदरकी गोदमें पुत्रको रख दिया ॥ १६ ॥

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ ।
पेततुस्तच्च नयनं निममज्ज ललाटजम् ॥ १७ ॥
कृष्णकी गोदमें रखते ही उसकी दो अधिक भुजायें गिर गयीं और माथेपरका वह नेत्र भी अदृश्य हो गया ॥ १७ ॥

तदृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत ।
दद्स्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १८ ॥

यह देखकर दुःखी एवं भयभीत होकर उसने कृष्णसे वर मांगा । हे महाभुज कृष्ण ! मैं भयसे घबरा गयी हूं, मुझको एक वर दो ॥ १८ ॥

त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयंकरः ।
पितृष्वसारं मा भैषीरित्युवाच जनार्दनः ॥ १९ ॥

क्योंकि तुम दुःखियोंको सांत्वना देनेवाले और भयभीतोंको निर्भय करनेवाले हो। (बुआकी) ऐसी कातर वाणी सुनकर) जनार्दन कृष्ण अपनी बुआसे बोले कि मत डरो ॥ १९ ॥

ददानि कं वरं किं वा करवाणि पितृष्वसः ।
शक्यं वा यदि वाशक्यं करिष्यामि वचस्तव ॥ २० ॥

मैं क्या वर दूं, हे बुआ ! बोलो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूं, चाहे साध्य हो, वा असाध्य हो, मैं अवश्य ही तुम्हारी बात मानूंगा ॥ २० ॥

एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद्यदुनन्दनम् ।
शिशुपालस्यापराधान्क्षमेथास्त्वं महाबल ॥ २१ ॥

तब श्रीकृष्णके इस प्रकार कहनेपर उसने कहा, कि हे महाबली ! तुम शिशुपालके सब अपराध क्षमा करते रहो ॥ २१ ॥

कृष्ण उवाच—

अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ।
पुत्रस्य ते वधार्हाणां मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे बुआ ! आपका पुत्र वधयोग्य भी हो तो भी मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूंगा, अतएव तुम अपने मनको शोकयुक्त मत करो ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच—

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ १३३१ ॥

भीष्म बोले— हे वीर भीम ! इस प्रकार गोविन्दके बरसे अहङ्कारी बन करके ही यह अति कुबुद्धि पापात्मा भूपाल शिशुपाल तुमको युद्धके लिये ललकार रहा है ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ १३३१ ॥

: ४१ :

भीष्म उवाच—

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाह्वयतेऽच्युतम्।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे वृकोदर ! युद्धमें पीछे न हटनेवाले तुम्हें यह शिशुपाल जो आह्वान दे रहा है, वह इस शिशुपालकी बुद्धि नहीं है। इसमें सन्देह नहीं है, कि यह जगत्भर्ता श्रीकृष्णकी ही प्रेरणा है ॥ १ ॥

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः।
क्षेप्तुं दैवपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २ ॥

कालग्रसित देहवाले इस कुलाङ्गारने आज मुझको जैसा झिडका है, पृथ्वीभरमें कौन नरेश वैसा करनेका साहस कर सकता है ? ॥ २ ॥

एष ह्यस्य महाबाहो तेजोंशश्च हरेर्ध्रुवम्।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्पृथुयशा हरिः ॥ ३ ॥

यह शिशुपाल निःसन्देह महाबाहु कृष्णके तेजहीका अंश है और महायशस्वी भगवान् कृष्ण निश्चय ही उस तेजको हर लेना चाहते हैं ॥ ३ ॥

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट्।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥

हे कुरुशार्दूल ! यह कुबुद्धि चेदिराज हम सबका अनादर करता हुआ शेरके समान गुर्रा रहा है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो न ममृषे चैद्यस्तद्भीष्मवचनं तदा।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले— तब चेदिराजसे उस समय भीष्मका यह वचन सहा नहीं गया। इसके बाद बहुत क्रोधित होकर फिर भीष्मको प्रत्युत्तर देने लगा ॥ ५ ॥

शिशुपाल उवाच—

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः।
यस्य संस्तववक्ता त्वं बन्दिवत्सततोत्थितः ॥ ६ ॥

शिशुपाल बोले— हे भीष्म ! तुम भाटके समान उठकर सदा जिसकी स्तुति किया करते हो, उस केशवका जो प्रभाव है, उसे हम शत्रुओंपर प्रकट होने दो ॥ ६ ॥

संस्तवाय मनो भीष्म परेषां रमते सदा ।
यदि संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥

हे भीष्म ! परायेकी स्तुति करनेमें ही यदि तुम्हारे मनको आनन्द मिलता हो, तो इस कृष्णको छोडकर दूसरे राजाओंकी भरपूर स्तुति करो ॥ ७ ॥

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद्दारिता मही ॥ ८ ॥

जिन्होंने जन्म लेकर यह पृथ्वी फाड डाली, उन नरेशश्रेष्ठ बाह्लीक राज दरदकी स्तुति करो ॥ ८ ॥

वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले ।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥

हे भीष्म ! अङ्ग और वंगके अधीश बाहुबलमें साक्षात् सहस्रनेत्र इन्द्रके सदृश सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ इन कर्णकी स्तुति गाओ ॥ ९ ॥

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ ।
स्तुहि स्तुत्याविमौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १० ॥

हे भीष्म ! स्तुतिके योग्य द्विजोत्तम द्रोण और अश्वत्थामा इन दो महारथी पिता पुत्रकी सदा उत्तम स्तुति करो ॥ १० ॥

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचरम् ।
इमां वसुमतीं कुर्यादशेषामिति मे मतिः ॥ ११ ॥

मेरा यह निश्चित विचार है कि इन दोनोंमें एक भी क्रोधित होकर चराचरयुक्त इस सब धरतीको नष्ट कर सकता है ॥ ११ ॥

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् ।
अश्वत्थाम्नस्तथा भीष्म न चैतौ स्तोतुमिच्छसि ॥ १२ ॥

हे भीष्म ! ऐसा एक भी राजा नहीं दीखता, जो युद्धमें द्रोण वा अश्वत्थामाके योग्य हो सके, पर कैसे आश्चर्यकी बात है, कि इनकी स्तुति करनेको तुम्हारा जी नहीं चाहता ॥ १२ ॥

शल्यादीनपि कस्मात्त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान् ।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ १३ ॥

हे भीष्म ! सदा स्तुति गानेकी ही यदि तुम्हारी इच्छा हो तो शल्यादि भूपालोंकी ही तुम स्तुति क्यों नहीं करते ? ॥ १३

×

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद्वृद्धानां त्वया नृप ।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ १४ ॥

हे राजन् ! तुमने धर्मवेत्ता वृद्धोंके द्वारा कही गई धर्मविषयक कथायें पहले कभी सुनी नहीं, इस अवस्थामें मैं भी क्या कर सकता हूं ? ॥ १४ ॥

आत्मनिन्दात्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः ।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

हे भीष्म ! अपनी निन्दा वा प्रशंसा और परायी निन्दा वा स्तुतिगान करना ये चार प्रकारकी आर्योंकी रीति नहीं है ॥ १५ ॥

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात्संस्तौषि भक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥ १६ ॥

स्तुतिके अयोग्य इस केशवकी भक्तिपूर्वक मोहवश सदा भक्ति किया करते हो, पर तुम्हारा यह कार्य किसीको पसन्द नहीं है ॥ १६ ॥

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत्केवलकाम्यया ॥ १७ ॥

हे भीष्म ! केवल अपनी इच्छासे तुम कंसके गायको पालनेहारे दास और दुरात्मा जनमें जगत्का समावेश क्यों कर रहे हो ? ॥ १७ ॥

अथ वैषा न ते भक्तिः प्रकृतिं याति भारत ।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥

अथवा, हे भारत ! यह तुम्हारी भक्ति भूलिंग पक्षीके समान तुम्हारी प्रकृतिसिद्ध नहीं है, मैंने तो यह बात पहिले कह दी थी ॥ १८ ॥

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥ १९ ॥

हे भीष्म ! भूलिंग नामक एक पक्षी हिमालयके उस पार रहता है । उसके प्रत्यक्ष कार्यके विरोधी वचन सदा सुनाई पडते हैं ॥ १९ ॥

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥ २० ॥

वह सदा यह कहती है, कि " कोई साहसी कर्म मत करना, " पर वह यह नहीं समझती, कि वह स्वयं बडा साहसी कर्म करती है ॥ २० ॥

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात्सिंहस्य खादतः ।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ २१ ॥

वह स्वल्पबुद्धि पक्षिणी भोजन करते हुए सिंहके मुखसे दांतोंके बीचमें दबाये मांसके खण्डको चोंच द्वारा खींच लेती है ॥ २१ ॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम् ।
तद्वत्त्वमप्यधर्मज्ञ सदा वाचः प्रभाषसे ॥ २२ ॥

हे भीष्म ! इसमें जरा भी सन्देह नहीं है, कि वह सिंहकी इच्छा पर ही जीती है । रे अधर्मज्ञ ! तू भी उसी प्रकार हमेशा बडबडाता है ॥ २२ ॥

इच्छतां पार्थिवेन्द्राणां भीष्म जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ॥ २३ ॥

हे भीष्म ! इसमें सन्देह नहीं, कि तू भी भूपालोंकी इच्छा पर ही जीता है । क्योंकि लोकहिंसक कार्य करनेमें कोई भी तेरे समान नहीं है ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥ २४ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाराज ! तदनन्तर चेदिराजकी बडी कटीली बातें सुनकर भीष्म चेदिराज शिशुपालको सुनाकर यह वचन बोले ॥ २४ ॥

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
योऽहं न गणयाम्येतांस्तृणानीव नराधिपान् ॥ २५ ॥

हां ! मैं इन राजाओंकी ही इच्छा पर जीता तो हूं, पर इन राजाओंको मैं तिनकेके समान भी नहीं समझता ॥ २५ ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुधुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे ॥ २६ ॥

भीष्मके यह वचन कहते ही भूपवर्ग क्रोधित हो उठे । उनमेंसे कुछ राजा प्रसन्न हुए और कुछ भीष्मकी निन्दा करने लगे ॥ २६ ॥

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वचः ।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥ २७ ॥

कुछ महाधनुर्धारी राजा भीष्मकी वह बात सुनकर बोले, कि " यह भीष्म वृद्ध हो करके भी पापसे युक्त है, इसलिए इसे क्षमा करना उचित नहीं ॥ २७ ॥

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत्साध्वयं नृपैः।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥ २८ ॥

अच्छा हो कि राजाओंके द्वारा यह दुष्ट बुद्धिवाला भीष्म पशुके समान मार डाला जाए, अथवा यहां एकत्रित हुए सब राजाओंके द्वारा यह तिनकेकी आगसे जला दिया जाए" ॥ २८ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः।
उवाच मतिमान्भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥ २९ ॥

तदनन्तर कुरुपितामह बुद्धिमान् भीष्म उनके यह वचन सुनकर उन राजाओंसे बोले ॥ २९ ॥

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये।
यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥ ३० ॥

हे राजाओ! देखता हूं, बातें खतम होनेवाली नहीं हैं, ज्यों कहते जाओगे, त्यों त्यों बढती जायेंगी। पर अब मैं जो कहता हूं, सब ध्यान लगाकर सुनो ॥ ३० ॥

पशुवद्धातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥ ३१ ॥

मैं पशुके समान मारा ही जाऊं वा तिनकोंकी आगसे भूना जाऊं, लो, मैंने तुम सभीके सिर पर यह अपना पैर रख दिया है ॥ ३१ ॥

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥ ३२ ॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे शार्ङ्गगदाधरम्।
यावदस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ १३६४ ॥

अक्षय बलवान् गोविन्दको हमने पूजा है और वह भी यहां विद्यमान हैं, अतः तुममेंसे जिसकी बुद्धि मृत्युकी तरफ दौड रही हो, वह शार्ङ्ग और चक्रधारी माधव श्रीकृष्णको आज युद्धमें ललकारे और उसी क्षण मारा जाकर इन देवकी देहमें ही वह लीन भी हो जावे ॥ ३२-३३ ॥

महाभारतके सभापर्वमें इकतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ १३६४ ॥

: ४२ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर भीष्मका वचन सुन करके ही अति विक्रमी चेदिराज शिशुपाल वासुदेवसे लडनेकी इच्छासे श्रीकृष्णसे बोला ॥ १ ॥

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! तुझको ललकारता हूं, आ मुझसे लड, ताकि आज पाण्डवोंके सहित निश्चय ही तुझको मार डालूं ॥ २ ॥

सह त्वया हि मे वध्याः पाण्डवाः कृष्ण सर्वथा।
नृपतीन्समतिक्रम्य यैरराज त्वमर्चितः ॥ ३ ॥

हे कृष्ण ! तुम्हारे राजा न होने पर भी जिन्होंने अन्य राजाओंको छोडकर तुम्हारी पूजा की है, उन पाण्डवोंको मैं तुम्हारे साथ ही सब प्रकारसे निःसंदेह नष्ट करूंगा ॥ ३ ॥

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम्।
अनर्हमर्हवत्कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः।
इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ॥ ४ ॥

हे कृष्ण ! राजा न होनेके कारण दासके कर्म करनेवाले तथा पूजाके अयोग्य तुझ दुष्ट-बुद्धिको पूज्यके समान मूर्खतासे पूजते हैं, वे पाण्डव वध्य हैं, ऐसा मेरा विचार है। राजशार्दूल शिशुपाल क्रोधके मारे यह वचन कह कर गर्जता हुआ तैय्यार हो गया ॥ ४ ॥

एवमुक्ते ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः
उवाच पार्थिवान्सर्वांस्तत्समक्षं च पाण्डवान् ॥ ५ ॥

उसके ऐसा कहनेके बाद श्रीकृष्ण उसीके सामने पाण्डवों और सब राजाओंसे कोमल वाणीसे यह बात बोले ॥ ५ ॥

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥

हे नरेन्द्रों ! यह निष्ठुरात्मा यादवीपुत्र हम यादवोंका बडा शत्रु है, भले ही इसे कोई पीडा न भी दे, फिर भी यह उसे पीडा देता रहता है ॥ ६ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद्द्वारकामेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः ॥ ७ ॥

हे राजाओ! हमको प्राग्ज्योतिषपुरको गया हुआ जानकर, मेरे पिताका भाञ्जा होने पर भी इस निष्ठुरने द्वारका नगरीको फूंक दिया था ॥ ७ ॥

क्रीडतो भोजराजन्यानेष रैवतके गिरौ।
हत्वा बद्ध्वा च तान्सर्वानुपायात्स्वपुरं पुरा ॥ ८ ॥

हे नरेशो! पहिले राजा भोज रैवतक पर्वत पर विहार कर रहे थे। यह दुराचारी उनके सहचरोंको बांधकर और मारकर अपने नगरको चला गया था ॥ ८ ॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः ॥ ९ ॥

मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये इस पापात्माने दिग्विजयके निमित्त छोडे गए रक्षकोंसे घिरे हुए यज्ञके अश्वको चुराया था ॥ ९ ॥

सौवीरान्प्रतिपत्तौ च बभ्रोरेष यशस्विनः।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥

यशस्वी बभ्रुकी स्त्री यहांसे सौवीर राज्यको जा रही थी, तब इस दुराचारीने उसकी इच्छा न रहने पर भी जाती हुई उस नारीका मोहसे हरण किया था ॥ १० ॥

एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम्।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ११ ॥

इस दुराचारी शिशुपालने कपटसे राजा करूपके रूपको धारण करके उक्त राजाके लिये निर्दिष्ट अपने मामा और विशाल देशके राजाकी पुत्री भद्राको हर लिया था ॥ ११ ॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम्।
दिष्ट्या त्विदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥ १२ ॥

केवल बुआके कारण मैं इन बडे भारी दुःखोंको सह लेता हूं, पर सौभाग्यसे आज सब राजाओंके सामने यह प्रगट हो रहा है ॥ १२ ॥

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम्।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥

इसने आज मेरा अत्यन्त अपमान किया है, यह आप देख ही रहे हैं। इसके अलावा भी इसने परोक्षमें मेरी जितनी हानि की है वह भी सब सुनो ॥ १३ ॥

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद्वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥

चाहे जो कुछ हो, आज सब राजाओंके सामने वधके योग्य इस नराधमने गर्ववश जो अपराध किया है, उसको मैं क्षमा नहीं कर सकूंगा ॥ १४ ॥

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनासीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान्मूढः शूद्रो वेदश्रुतिं तथा ॥ १५ ॥

मरनेकी इच्छावाले इस मूर्खने रुक्मिणीको भी प्राप्त करनेकी इच्छा की थी, पर जिस प्रकार शूद्र वेदके मंत्रोंको प्राप्त कर नहीं सकता, उसी प्रकार यह भी रुक्मिणीको न पा सका ॥१५॥

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १६ ॥

तदनन्तर वे एकत्रित हुए हुए सब नरेश वासुदेवकी यह बात सुनके चेदिराजकी निन्दा करने लगे ॥ १६ ॥

ततस्तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं प्रहस्येदमुवाच ह ॥ १७ ॥

तब प्रतापी शिशुपाल उनका यह वचन सुनकर जोरसे हंसा और हंस कर यह बोला ॥१७॥

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥

हे कृष्ण ! पहिले मेरे लिये निर्दिष्ट रुक्मिणीकी बात सभामें राजाओंके सामने कहता हुआ तू शर्मिन्दा क्यों नहीं होता ? ॥ १८ ॥

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥

हे कृष्ण ! तुझे छोडकर और कौनसा दूसरा पुरुष होगा, जो दूसरेके लिए निश्चित की गई स्त्रीको हर कर फिर उसकी बात सभामें कहेगा अर्थात् तुझ ऐसा निर्लज्ज दूसरा कौन होगा ? ॥ १९ ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥ २० ॥

हे कृष्ण ! तू चाहे मुझ पर श्रद्धा कर या न कर, चाहे तू मुझको क्षमा कर या न कर, तू चाहे क्रोधित हो वा प्रसन्न हो, मुझसे तुझे क्या भय है ? ॥ २० ॥

तथा ब्रुवत एवास्य भगवान्मधुसूदनः।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः।
स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः ॥ २१ ॥

शिशुपाल ऐसा कह ही रहा था, कि शत्रुनाशी भगवान् मधुसूदनने क्रोधित होकर चक्रसे उसी क्षण शिशुपालका सिर काट डाला और वह महाभुज शिशुपाल भी वज्रसे घायल हुए पहाडके समान गिर गया ॥ २१ ॥

ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः।
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम् ॥ २२ ॥

हे महाराज! तब जिस प्रकार सूर्य आकाशमें चढता है, उसी प्रकार शिशुपालके शरीरसे निकल कर आकाशमें जाते हुए एक तेजको राजाओंने देखा ॥ २२ ॥

ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम्।
ववन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २३ ॥

तदनन्तर उस तेजोराशिने लोकोंके द्वारा नमस्कारके योग्य उन कमलकी समान आंखोंवाले कृष्णको प्रणाम किया और फिर वह तेज उनकी देहमें मिल गया ॥ २३ ॥

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः।
यद्विवेश महाबाहुं तत्तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

महाभुज पुरुषोत्तममें जो वह तेज प्रविष्ट हो गया, उसे देखकर सब राजाओंने अचरज माना ॥ २४ ॥

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः।
कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुन्धरा ॥ २५ ॥

श्रीकृष्णके चेदिराजको मारने पर बिना बादलके ही जलवृष्टि होने लगी, उल्कायें गिरने लगीं और पृथ्वी भी हिलने लगी ॥ २५ ॥

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ २६ ॥

तब वहां कई राजा तो कुछ बोले ही नहीं, क्योंकि वह प्रसंग शब्दोंसे वर्णनके अयोग्य होनेके कारण वे सिर्फ श्रीकृष्णकी तरफ देखते ही रहे ॥ २६ ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपीषन्नमर्षिताः।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन्क्रोधमूर्छिताः ॥ २७ ॥

पर कोई कोई क्रोधके मारे हाथसे अंगुलियां मलते रह गये, कोई कोई क्रोधसे व्याकुल होकर दांतोंसे होठ काटने लगे ॥ २७ ॥

रहस्तु केचिद्वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव तु संरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ २८ ॥
कोई कोई राजा छिपकर वृष्णिनन्दन कृष्णकी प्रशंसा करने लगे, कुछ नरेश बहुत क्रोधित हुए और कुछ न प्रसन्न ही हुए और न क्रोधित ही, वे तटस्थ बने रहे ॥ २८ ॥

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः ।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥ २९ ॥
महर्षिवृन्द महात्मा ब्राह्मण और महाबलशाली राजा केशवकी स्तुति गाते हुए प्रसन्नचित्तसे उठ कर चल दिये ॥ २९ ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद्भ्रातॄन्सत्कारेण महीपतिम् ।
दमघोषात्मजं वीरं संसाधयत मा चिरम् ।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३० ॥
तदनन्तर युधिष्ठिरने भाइयोंको आज्ञा दी, कि तुम दमघोषके पुत्र वीरवर राजा शिशुपालका सत्कार सहित तुरन्त संस्कार कार्य करो, उन्होंने तब बडे भाईकी आज्ञासे सब किया ॥३०॥

चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतिम् ।
अभ्यषिञ्चत्तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३१ ॥
पृथापुत्र युधिष्ठिरने भाइयों और उन सब राजाओंके साथ मिलकर उसी समय महीपाल शिशुपालके पुत्रको चेदिराजके अधिकारमें अभिषिक्त कर दिया ॥ ३१ ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।
यूनां प्रीतिकरो राजन्संबभौ विपुलौजसः ॥ ३२ ॥
शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान् ।
अन्नवान्बहुभक्षश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३३ ॥
इसके बाद कुरुराजका वह सभी समृद्धियोंसे युक्त, तरुणोंको प्रिय लगनेवाला, अत्यन्त ओजस्वी, जिसके विघ्न शान्त होकर, जिसका आरंभ सुखपूर्वक हो गया है, ऐसा बहुत धन धान्यसे परिपूर्ण, अन्न और अनेक तरहके भक्ष्य पदार्थोंसे युक्त और कृष्णके द्वारा सुरक्षित वह राजसूय यज्ञ अच्छी तरह सम्पन्न हुआ ॥ ३२–३३ ॥

समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
तं तु यज्ञं महाबाहुरा समाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्शौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३४ ॥
इस प्रकार युधिष्ठिरने उस राजसूय महायज्ञको समाप्त किया, महाभुज भगवान् जनार्दनने-शौरीने शार्ङ्ग–चक्र–गदाधारी होके अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की ॥ ३४ ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमभिगम्येदमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

इसके बाद सभी क्षत्रिय राजा यज्ञके अन्तमें अवभृथ स्नानको किए हुए धर्मराज युधिष्ठिर-के सामने आकर बोले ॥ ३५ ॥

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवान्विभो।
आजमीढाजमीढानां यज्ञः संवर्धितं त्वया।
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान्कृतः ॥ ३६ ॥

हे धर्मज्ञ अजमीढ वंशमें उत्पन्न युधिष्ठिर! आप सौभाग्यसे ही उन्नत हुए हैं, हे विभो! साम्रज्यको भी आपने प्राप्त कर लिया है। हे महाराज! इस कर्मसे आपने अजमीढोंका यश बढाया और बडा धर्मार्जन किया है ॥ ३६ ॥

आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः।
स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥

हे नरव्याघ्र! हम सब कामनाओंसे सब प्रकारसे पूजे गये हैं, अब हम आपसे आज्ञा चाहते हैं, सब अपने अपने राज्यको जायंगे, अतः आप आज्ञा दें ॥ ३७ ॥

श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
तथार्हं पूज्य नृपतीन्भ्रातॄन्सर्वानुवाच ह ॥ ३८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर नरेशोंकी यह बात सुनकर उनकी यथायोग्य पूजा कर सभी भाइयोंसे बोले ॥ ३८ ॥

राजानः सर्व एवैते प्रीत्यास्मान्समुपागताः।
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः।
तेऽनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ३९ ॥

यह सब शत्रुनाशी राजगण प्रीतिसे हमारे पास आये थे, अब मेरी अनुमति लेकर अपने अपने राज्यको जाना चाहते हैं, हमारे अधिकारकी सीमातक इन भूपश्रेष्ठोंके साथ जाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३९ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः।
यथार्हं नृपमुख्यांस्तानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४० ॥

धर्मचारी पाण्डवगण भाईकी आज्ञा मानकर सब नरेशोंके पीछे यथारीतिसे एक एक करके जाने लगे ॥ ४० ॥

विराटमन्वयात्तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथः ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! प्रतापी धृष्टद्युम्न राजा विराट्के, महारथी धनञ्जय महात्मा यज्ञसेनके पीछे शीघ्रतासे चले ॥ ४१ ॥

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं च ससुतं वीरं सहदेवो महारथः ॥ ४२ ॥

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके, और महारथी सहदेव पुत्र सहित वीर द्रोणाचार्यके पीछे चले ॥ ४२ ॥

नकुलः सुबलं राजन्सहपुत्रं समन्वयात् ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान्महीपतीन् ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! नकुल पुत्रसहित राजा सुबलके, द्रौपदीके पुत्र और सुभद्रानन्दन अभिमन्यु पहाडी राजाओंके पीछे चले ॥ ४३ ॥

अन्वगच्छंस्तथैवान्यान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभाः ।
एवं संपूजितास्ते वै जग्मुर्विप्राश्च सर्वशः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार अनेकों क्षत्रियश्रेष्ठ दूसरे क्षत्रियोंके साथ चले। सहस्रों ब्राह्मण भी इस प्रकार अच्छी तरह पूजे जाकर लौट गए ॥ ४४ ॥

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ४५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! सब श्रेष्ठ राजाओंके चलेजाने पर प्रतापी वासुदेव युधिष्ठिरसे यह बोले ॥ ४५ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ४६ ॥

हे कुरुनन्दन ! सौभाग्यसे आपने यज्ञश्रेष्ठ राजसूय समाप्त कर लिया, अब आपसे आज्ञा मांगता हूं, मैं द्वारकाको जाऊंगा ॥ ४६ ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराणमधुसूदनम् ।
तव प्रसादाद्गोविन्द प्राप्तवानस्मि वै क्रतुम् ॥ ४७ ॥

जनार्दनके इस प्रकार कहने पर धर्मराज मधुसूदनसे बोले– हे गोविन्द ! केवल तुम्हारी कृपासे मैंने यह बडा यज्ञ प्राप्त किया है ॥ ४७ ॥

समस्तं पार्थिवं क्षत्रं त्वत्प्रसादाद्वशानुगम्।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ४८ ॥

तुम्हारी ही कृपासे सब क्षत्रिय मेरे वशीभूत हुए हैं और अच्छे अच्छे उपहार लेकर मेरे पास उपस्थित हुए हैं ॥ ४८ ॥

न वयं त्वामृते वीर रंस्यामेह कथंचन।
अवश्यं चापि गन्तव्या त्वया द्वारवती पुरी ॥ ४९ ॥

हे वीर ! हम भी तुम्हारे विना किसी प्रकार आनन्द नहीं उठा सकेंगे, पर तुमको भी द्वारका नगरमें जाना ही जरूरी है ॥ ४९ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान्।
अभिगम्याब्रवीत्प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः ॥ ५० ॥

धर्मात्मा अति यशस्वी श्रीकृष्ण इस प्रकार सुनकर युधिष्ठिरके साथ पृथाके पास जाकर प्रीतिसे बोले ॥ ५० ॥

साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः।
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि ॥ ५१ ॥

हे बुआ ! आपके पुत्र अब साम्राज्य प्राप्त कर कृतार्थ और सम्पद् युक्त हुए हैं । अतएव आप प्रसन्न होवें ॥ ५१ ॥

अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे।
सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः ॥ ५२ ॥

और आपकी आज्ञा पाकर मैं भी द्वारकाको जाना चाहता हूँ, तदनन्तर केशवने सुभद्रा और द्रौपदीसे भी विदाकालके योग्य सम्भाषण किया ॥ ५२ ॥

निष्क्रम्यान्तःपुराच्चैव युधिष्ठिरसहायवान्।
स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ॥ ५३ ॥

इसके बाद युधिष्ठिरके सहित अन्तःपुरसे निकलकर स्नान और जपादि करके ब्राह्मणोंसे स्वस्ति कहलवाया ॥ ५३ ॥

ततो मेघवरप्रख्यं स्यन्दनं वै सुकल्पितम्।
योजयित्वा महाराज दारुकः प्रत्युपस्थितः ॥ ५४ ॥

हे महाराज ! तदनन्तर दारुक बादलकी देहके समान सजा सजाया रथ जोडकर आ पहुंचा ॥ ५४ ॥

उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ५५ ॥

तब महान् मनवाले पुण्डरीकाक्ष कृष्णने गरुडध्वज रथको आ पहुंचा देखकर उसकी परिक्रमा करके उसपर चढकर द्वारका नगरीकी ओर चल पडे ॥ ५५ ॥

तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्वासुदेवं महाबलम् ॥ ५६ ॥

श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंके सहित महाबली वासुदेवके पीछे पैदल चले ॥ ५६ ॥

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः ।
अब्रवीत्पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५७ ॥

तब पद्मके समान नेत्रवाले हरि क्षणभर अपने श्रेष्ठ रथको रोककर कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिरसे बोले ॥ ५७ ॥

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशां पते ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिवाण्डजाः ।
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः ॥ ५८ ॥

हे प्रजाओंके स्वामी युधिष्ठिर ! सदा अप्रमत्त और उत्साही बनके प्रजाका पालन कीजिए, जिस प्रकार प्राणी बादलके सहारे जिन्दा रहते हैं अथवा पक्षी महान् वृक्षके सहारे जिन्दा रहते हैं अथवा देवगण सहस्राक्ष इन्द्रके सहारे जिन्दा रहते हैं, उसी प्रकार आपके बन्धु-बान्धव आपके सहारे जिन्दा रहें ॥ ५८ ॥

कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ।
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान्प्रति ॥ ५९ ॥

श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर एक दूसरेसे ऐसा सम्भाषण कर एक दूसरेकी आज्ञा लेके अपने भवनोंको पधारे ॥ ५९ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ।
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ समाप्तं शिशुपालवधपर्व ॥ १४२४ ॥

हे महाराज ! यदुवर श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर केवल दुर्योधन और सुबलनन्दन शकुनि यह दोनों नरश्रेष्ठ कुछ कालतक उस दिव्य सभामें निवास करते रहे ॥ ६० ॥

महाभारतके सभापर्वमें बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ शिशुपालवधपर्व ॥ १४२४ ॥

४३

वैशम्पायन उवाच—

वसन्दुर्योधनस्तस्यां सभायां भरतर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! दुर्योधनने शकुनिके साथ उस सभामें रुककर धीरे धीरे उसके सब भागोंको देखा ॥ १ ॥

तस्यां दिव्यानभिप्रायान्ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥

वहां उस कुरुनन्दन दुर्योधनने जो दिव्य चीजें देखीं, पहिले हस्तिनानगरमें वैसी चीजें कभी नहीं देखी थीं ॥ २ ॥

स कदाचित्सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं तलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान्बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥

उस राजा धृतराष्ट्र–पुत्रने सभामें एक दिन स्फटिकके बने स्थल–भागके निकट जाकर जल जानकर बुद्धिके मोहसे अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया और (पर वहां जमीन होनेके कारण) उसका मन खिन्न हो गया और वह टेढा मुंह करके सभामें दूसरी चीजोंको देखने लगा ॥ ३–४ ॥

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम् ।
वापीं मत्वा स्थलमिति सवासाः प्रापतज्जले ॥ ५ ॥

आगे स्फटिकके समान निर्मल जलसे भरे तथा स्फटिकके बने फूले कमलवाले एक तालको स्थल जानकर उसमें वस्त्र सहित जा गिरा ॥ ५ ॥

जले निपतितं दृष्ट्वा किंकरा जहसुर्भृशम् ।
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ॥ ६ ॥

उसको जलमें गिरते देखकर नौकर चाकर बहुत हंसे और राजाकी आज्ञासे दुर्योधनको दूसरे अच्छे वस्त्र दिए ॥ ६ ॥

तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ॥ ७ ॥

उसकी वह दशा देखकर उस समय महाबली भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव सब हंसने लगे ॥ ७ ॥

नामर्षयत्ततस्तेषामवहासममर्षणः ।
आकारं रक्षमाणस्तु न स तान्समुदैक्षत ॥ ८ ॥

तब क्रोधित हुआ हुआ सुयोधन उनकी वह हंसी नहीं सह सका । पर अपने मनोविकारको छिपानेके लिए उसने उनकी तरफ ताका भी नहीं ॥ ८ ॥

पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ।
आरुरोह ततः सर्वे जहसुस्ते पुनर्जनाः ॥ ९ ॥

फिर पानीको पार करनेके लिए वह अपने वस्त्र उठाकर स्थल पर आया । उस पर भी सब लोक फिर हंस उठे ॥ ९ ॥

द्वारं च विवृताकारं ललाटेन समाहनत् ।
संवृतं चेति मन्वानो द्वारदेशादुपारमत् ॥ १० ॥

एक दरवाजेको खुला समझकर जब वह उसमेंसे जाने लगा तब उसका सिर दरवाजेसे जा टकराया । दूसरे दरवाजेको (खुला होनेपर भी) बंद समझकर उसके पास गया ही नहीं ॥ १० ॥

एवं प्रलम्भान्विविधान्प्राप्य तत्र विशां पते ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥ ११ ॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञमें वैसी अधिक सम्पत्ति देखकर और सभामें उक्त रूपसे अनेक प्रकारसे लज्जित होकर अन्तमें युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर अप्रसन्न चित्तसे हस्तिनानगरमें लौट आया ॥ ११-१२ ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यानग्लानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी लक्ष्मीको देखकर दुःखी होकर चिन्तायुक्त चित्तसे जाते हुए राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापसे युक्त हुई ॥ १३ ॥

पार्थान्सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! महात्मा पाण्डवोंको प्रसन्न, सब राजाओंको उनके वशीभूत और बालकसे वृद्ध तक सब लोगोंको उनका हित चाहनेवाले देखकर ॥ १४ ॥

महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १५ ॥
तथा उन महात्मा पाण्डवोंकी महिमाको देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन व्यथासे पीला पड़ गया ॥ १५ ॥

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेवानुचिन्तयन् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १६ ॥
मलिन मनसे जाते हुए वह युधिष्ठिर धीमान् धर्मराजकी उस अनुपम सभा और सम्पत्तिके बारेमें ही विचार करता रहा ॥ १६ ॥

प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाभ्यभाषत्सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ १७ ॥
तब वह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन इतना बावला सा हो गया कि सुबलनन्दन शकुनिके बार बार पुकारने पर भी उसका उसने कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ १७ ॥

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥ १८ ॥
शकुनिने उसको दुःखी चित्तवाला देखकर पूछा, कि तुम किस कारण लम्बी सांस लेते हुए चल रहे हो ? ॥ १८ ॥

दुर्योधन उवाच—

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
दुर्योधन बोले– सफेद घोडोंवाले महात्मा अर्जुनके अस्त्रके प्रतापसे जीती हुई इस धरतीको युधिष्ठिरके वशमें देखकर ॥ १९ ॥

तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युते ॥ २० ॥
हे महातेजस्वी मामा ! और देवलोकमें इन्द्रके समान उन प्रभावशाली पृथापुत्र युधिष्ठिरका वह यज्ञ पूरा होते देखकर ॥ २० ॥

अमर्षेण सुसंपूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्ये तोयमिवाल्पकम् ॥ २१ ॥
दुःखसे भरकर रात दिन जलनेसे मैं उसी प्रकार सूख रहा हूं, जिस प्रकार ज्येष्ठ और आषाढ महिनेके आनेपर तालावका थोडा जल सूख जाता है ॥ २१ ॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालं निपातितम् ।
न च तत्र पुमानासीत्कश्चित्तस्य पदानुगः ॥ २२ ॥

शिशुपाल जब सात्वतवंशियोंमें प्रधान कृष्णसे मारे गये तब ऐसा कोई भी वहां विद्यमान नहीं था, कि जो उनकी रक्षाके लिये सहायता करता ॥ २२ ॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं तं को हि तं क्षन्तुमर्हति ॥ २३ ॥

पांडवोंके कार्योंसे उत्पन्न हुई क्रोधाग्निसे राजा यद्यपि जले भुने जा रहे थे, तो भी उन्होंने पाण्डवोंके उस अपराधको क्षमा कर दिया। नहीं तो उसने जैसा अति अनुचित कार्य किया था क्या कोई भी उसे क्षमा कर सकता था ? ॥ २३ ॥

वासुदेवेन तत्कर्म तथायुक्तं महत्कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डवेयानां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २४ ॥

वसुदेवके पुत्र कृष्णने यथायोग्य महान् कर्म किया और महात्मा पाण्डुपुत्रोंके प्रभावसे वह कर्म सिद्ध भी हुआ ॥ २४ ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपतिष्ठन्ति कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २५ ॥

नरेशोंने बहुविध रत्नोंको लाकर वैश्योंके समान करदाता बनकर वह सब धन कुन्तीपुत्रको अर्पित कर दिया था ॥ २५ ॥

श्रियं तथाविधां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्येऽहमतथोचितः ॥ २६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका उस प्रकार प्रदीप्त वैभव देखकर क्रोधके वशमें होकर मैं जला जा रहा हूँ, यद्यपि मैं इस प्रकारसे जलनेके योग्य नहीं हूँ ॥ २६ ॥

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

मैं या तो आगमें घुसकर जल मरूंगा, अथवा जहर खा लूंगा, नहीं तो जलमें ही डूबकर मर जाऊंगा, पर इस हालतमें मैं किसी तरह भी जिन्दा नहीं रह सकता ॥ २७ ॥

को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् ।
सपत्नानृध्यतो दृष्ट्वा हानिमात्मन एव च ॥ २८ ॥

क्योंकि इस लोकमें कौन बलवान् मनुष्य उन्नति करते हुए शत्रुओंको और नीचे गिरे हुए स्वयंको देखकर सहन कर सकता है ? ॥ २८ ॥

×

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि ।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ २९ ॥

अब पाण्डवोंको सौभाग्यमें देखकर मेरा सह लेना यह प्रकट करता है, कि मैं न तो नारी, न अनारी, न तो पुरुष न तो नंपुसक कुछ भी नहीं हूं ॥ २९ ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३० ॥

पूरी धरतीका अधिकार, वैसी धन सम्पत्ति और वैसा यज्ञ देखके मेरे समान कौन पुरुष दुःखी न होगा ? ॥ ३० ॥

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् ।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३१ ॥

मैं अकेला वैसी राजलक्ष्मीको हरनेको असमर्थ हूं और सहायकोंको भी मैं नहीं देखता, इसलिए मरनेका ही विचार कर रहा हूँ ॥ ३१ ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुभ्रां श्रियं तामाहृतां तथा ॥ ३२ ॥

पाण्डवोंके द्वारा हरी हुई युधिष्ठिरकी अत्यन्त तेजस्वी उस सम्पत्तिको देखकर मुझे निश्चय यही जान पडता है, कि भाग्य ही प्रधान है, पुरुषार्थ व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य स वृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३३ ॥

हे सुबलके पुत्र ! युधिष्ठिरके नाशके लिये मैंने पहिले बडा प्रयत्न किया था, पर यह सब पार कर जलमें कमलके समान दिन पर दिन बढ रहा है ॥ ३३ ॥

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ।
धार्तराष्ट्रा हि हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३४ ॥

इसलिए मैं दैवहीको श्रेष्ठ और पुरुषार्थको व्यर्थ मानता हूं । क्योंकि पुरुषार्थ पर चलनेवाले धृतराष्ट्र पुत्रगण दिन पर दिन घट रहे हैं और दैवका आसरा ढूंढनेवाले पृथानन्दन पाण्डव बढते जा रहे हैं ॥ ३४ ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम् ।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ॥ ३५ ॥

वह श्री और वैसी सभा देखकर और वहांके रक्षकोंकी वह हंसी सुनकर मैं मानों अग्निसे जला जा रहा हूं ॥ ३५ ॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ १४६० ॥

अतः, हे मामा ! आप अत्यन्त दुःखी और क्रोधित मुझको आज मर जानेकी आज्ञा दें और मेरे मर जाने पर इसका हाल धृतराष्ट्रको बता दें ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें तैतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ १४६० ॥

: ४४ :

शकुनिरुवाच—

दुर्योधन न तेऽमर्षः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥

शकुनि बोले— दुर्योधन ! तुमको युधिष्ठिरसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये; पाण्डव सदा अपना भाग्य ही भोगते हैं ॥ १ १

अनेकैरभ्युपायैश्च त्वयारब्धाः परासकृत् ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ २ ॥

पहिले तुमने बडे बडे उपायोंसे वारंवार उनको नष्ट करनेकी चेष्टा की थी, पर वे नरव्याघ्र भाग्यकी सहायतासे उनसे बच गए ॥ २ ॥

तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ३ ॥

हे महाराज ! उन्होंने द्रौपदीको पत्नीके रूपमें प्राप्त किया, पुत्रोंसहित द्रुपदको और वीर्यवान् वासुदेवकी सहायता उन्होंने पृथ्वी जीतनेके काममें प्राप्त कर ली ॥ ३ ॥

लब्धश्च नाभिभूतोऽर्थः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ४ ॥

हे राजन् ! उन्होंने अपने पिताके राज्यका अंश प्राप्त कर लिया और उसमें भी उन्हें कुछ हानि नहीं हुई, तथा उसे पाकर अपने प्रतापसे वे उन्नत हुए, फिर इसमें दुःख माननेकी क्या बात है ? ॥ ४ ॥

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तर्पयित्वा हुताशनम् ॥ ५ ॥

धनञ्जयने अग्निको प्रसन्न कर गाण्डीव धनुष, बाणोंवाले बडे बडे दो अक्षय तरकस और दिव्य दिव्य अस्त्रोंको प्राप्त किया ॥ ५ ॥

तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः ।
कृता वशे महिपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ६ ॥

उस अर्जुनने अपने भुजवीर्यके बलसे सब राजाओंको वशीभूत किया है, भला उसमें तुम क्यों दुःखी हो रहे हो ? ॥ ६ ॥

अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ७ ॥

शत्रुको दुःख देनेवाले अर्जुनने अग्निसे जलनेसे मयदानवको बचाकर उससे उस सभाको बनवा लिया है ॥ ७ ॥

तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः ।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥ ८ ॥

उस मयकी आज्ञासे किंकर नामक भयावने राक्षस उस सभाकी रक्षा किया करते हैं, भला इसमें तुमको क्या दुःख है ? ॥ ८ ॥

यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे सहायास्ते महारथाः ॥ ९ ॥

हे भारत ! तुमने जो असहायताकी बात कही है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि ये सभी महारथी भाई तुम्हारे सहायक हैं ॥ ९ ॥

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण धीमता ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ १० ॥

महा धनुर्धारी द्रोण अपने बुद्धिमान् पुत्रके साथ, सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य ॥ १० ॥

अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ ११ ॥

अपने छोटे भाइयोंके साथ मैं और वीर्यवान् सौमदत्ति, ये सब तुम्हारे सहायक हैं, इन सबकी सहायता प्राप्त करके तुम भी सब धरतीको जीतो ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच—

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोले— हे महाराज ! आपकी आज्ञा हो, तो आपसे और दूसरे महारथी राजाओंसे मिलकर मैं पाण्डवोंको ही जीतूं ॥ १२ ॥

एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥ १३ ॥
इनको जीत लेनेसे ही सब राजा और बहुत धनसे भरी हुई वह सभा तथा सारी पृथ्वी मेरी हो जायेगी ॥ १३ ॥

शकुनि उवाच—
धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १४ ॥
शकुनि बोला— धनञ्जय, वासुदेव, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, द्रुपद और उनके पुत्र ॥ १४ ॥

नैते युधि बलाज्जेतुं शक्याः सुरगणैरपि।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १५ ॥
ये युद्धमें बलसे देवोंके द्वारा भी जीते नहीं जा सकते। वे सब महारथी हैं, महा धनुर्धारी अस्त्रमें पण्डित और युद्ध करनेमें कुशल हैं ॥ १५ ॥

अहं तु तद्विजानामि विजेतुं येन शक्यते।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥ १६ ॥
पर मैं जानता हूं, कि किस उपायसे युधिष्ठिर परास्त किया जा सकता है। हे महाराज! तुम उसे सुनो और उसको मानो ॥ १६ ॥

दुर्योधन उवाच
अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम्।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥ १७ ॥
दुर्योधन बोले— हे मामा! स्वजन और दूसरे महात्माओंको संकटमें डाले विना ही यदि वे जीते जा सकें, तो वह उपाय मुझे बतायें ॥ १७ ॥

शकुनि उवाच—
द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम्।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥ १८ ॥
शकुनि बोले— कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर जुआसे बहुत प्रेम करते हैं, पर वे जुआ खेलना नहीं जानते, खेलनेके लिये बुलानेपर वह कभी मुंह नहीं मोडेंगे ॥ १८ ॥

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि।
त्रिषु लोकेषु कौन्तेयं तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ १९ ॥
हे कुरुकुलतिलक! जुआ खेलनेमें मैं बहुत कुशल हूं। तीनों भवनमें मुझसे खेलनेमें तेज दूसरा नहीं है, इसलिए तुम जुआ खेलनेके लिए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको बुलवाओ ॥ १९ ॥

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम्।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥ २० ॥

हे पुरुषवर दुर्योधन! चौपड खेलनेमें कुशल मैं तुम्हारे लिए विना सन्देह उसके राज्य और उस प्रज्ज्वलित लक्ष्मीको जीत लूंगा ॥ २० ॥

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तं न संशयः ॥ २१ ॥

हे दुर्योधन! तुम राजाको यह सब बात बताओ, तुम्हारे पिता आज्ञा देंगे, तो मैं अवश्य ही उनको जीत लूंगा ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच—

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निशंसितुम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ १४८१ ॥

दुर्योधन बोले— हे सुबलकुमार! तुम ही कुरुओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्रसे न्यायके अनुसार सब कहो, मैं नहीं कह सकूंगा ॥ २२ ॥

महाभारतके सभापर्वमें चौवालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ १४८२ ॥

: ४५ :

वैशम्पायन उवाच—

अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम्।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— सुबलकुमार शकुनि गान्धारीपुत्र दुर्योधनके सहित राजा युधिष्ठिरके उस महायज्ञ राजसूयका अनुभव करके ॥ १ ॥

प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत्।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

और उसके विषयमें दुर्योधनके उस प्रिय मतको जानकर और उसकी बातें सुनकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे आसन पर विराजमान प्रज्ञानेत्र बडे ज्ञानी महाराज धृतराष्ट्रके निकट जाकर शकुनि यह वाक्य बोला ॥ २-३ ॥

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ ४ ॥

हे महाराज ! दुर्योधन मलिन, दीन, चिन्तासे युक्त, पीला, दुबला हो गया है, अतः, हे भरतश्रेष्ठ ! आप उसकी ओर ध्यान दें ॥ ४ ॥

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसंभवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य शोकं त्वं किमर्थं नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

ज्येष्ठपुत्रका शत्रुसे उत्पन्न असह्य शोकका कारण ध्यानमें क्यों नहीं लाते और क्यों नहीं उसे जान लेते ? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच —

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥ ६ ॥

(शकुनिसे इतना सुनकर) धृतराष्ट्र दुर्योधनसे बोले– पुत्र दुर्योधन ! तुम्हारे इतना दुःखी होनेका क्या कारण है ? हे कुरुवर ! यदि वह बात मेरे सुनने योग्य हो तो कहो ॥ ६ ॥

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव संभवम् ॥ ७ ॥

यह शकुनि कहता है, कि तुम दीन, हीन, पीले और दुबले हो गए हो, पर सोचने विचारने पर भी मुझको तुम्हारे शोकका हेतु जान नहीं पडता ॥ ७ ॥

ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र त्वयि सर्वं समर्पितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥

हे पुत्र ! यह अपरिमित सम्पत्ति सब तुम्हारे ही हाथमें है; तुम्हारे भाई, मित्र भी कभी तुमसे अप्रिय व्यवहार नहीं करते ॥ ८ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्ति त्वां केनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥

तुम सुन्दरसे सुन्दर वस्त्र पहिनते हो, अच्छेसे अच्छे मांससे युक्त पकान्न खाते हो, सुन्दर सुन्दर घोडों पर चढते हो, फिर भी तुम पीले-और दुबले क्यों हुए जा रहे हो ? ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्षः कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

मूल्यवान् सेज, सुन्दर सुन्दर स्त्रियां, नानाविध साजसे सजे गृह, मनभाने विहारस्थान यह सब देवोंकी भांति तुम्हारे कहनेके साथ ही प्रस्तुत हो जाते हैं, फिर भी, हे वीर पुत्र! ऐसी सम्पत्ति होनेपर भी तुम किस सोचमें पडे हुए हो ? ॥ १०-११ ॥

दुर्योधन उवाच—

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं तितिक्षन्कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोले— मैं एक कायर पुरुषकी तरह ही सब खाता और पहनता हूँ और कालकी प्रतीक्षा करते हुए मैं कठिन दुःख भी सह रहा हूं ॥ १२ ॥

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परे स्थिताः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परजान्स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

जो पुरुष शत्रुकी वृद्धिको सहनेमें असमर्थ होकर शत्रुके दिये दुःखसे प्रजाको बचाता है तथा शत्रुको संकटमें डालता है, वही पुरुष कहाता है ॥ १३ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति अभिमानश्च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥ १४ ॥

सन्तोष और अभिमान दोनों राज्यलक्ष्मीको नष्ट कर देते हैं। दया और भयको अपनाकर मनुष्य कभी ऊंचे पदको नहीं प्राप्त कर सकता ॥ १४ ॥

न मामवति तद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
ज्वलन्तीमिव कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥

मैं जो कुछ भोगता हूं, युधिष्ठिरकी लक्ष्मी देखकर उनमें मन नहीं रमता, कुन्तीपुत्रकी अति देदीप्यमान् राजश्री ही मेरे तेजको विनष्ट किए दे रही है ॥ १५ ॥

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशाम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेये स्थितां पश्यन्निवोद्यताम् ।
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ॥ १६ ॥

इस समय मैं उसकी श्रीको प्रत्यक्ष तो नहीं देखता, पर वह मेरे मनमें आकर हमेशा खडी रहती है। शत्रुकी वृद्धि और अपनी हीनता देखकर ही मैं मालिन, दीन, पीला और दुबला हुआ जाता हूं ॥ १६ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर अट्ठासी हजार गृहमेधी स्नातकोंको हरेकके पीछे तीस तीस दासियोंको नियुक्त करके पालता पोषता है ॥ १७ ॥

दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १८ ॥

इनके सिवाय दूसरे दस हजार ब्राह्मण युधिष्ठिरके घरमें नित्य सुवर्ण बर्तनमें अच्छे अन्नका भोजन करते हैं ॥ १८ ॥

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै परार्घ्यानपि कम्बलान् ॥ १९ ॥

राजा काम्बोजने उसके यहां कदली नामक काले, श्याम और सफेद खाल और मूल्यवान् कम्बल भेजे थे ॥ १९ ॥

रथयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।
त्रिंशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ॥ २० ॥

उसके राज्यमें सैंकडों, हजारों खचर, घोडे, रथ और तीस हजार ऊंट चरा करते हैं ॥२०॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन्क्रतुमुख्येऽस्मिन्कुन्तीपुत्राय भूरिशः ॥ २१ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! महायज्ञ राजसूयमें राजा कुन्तीपुत्रके लिये भांति भांतिके रत्न लेकर आए थे ॥ २१ ॥

न क्वचिद्धि मया दृष्टस्तादृशो नैव च श्रुतः ।
यादृग्धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २२ ॥

वास्तवमें धीमान् पाण्डुनन्दनके यज्ञमें जितना धन रत्न आया था, मैंने कहीं पहिले न तो उतना देखा था और न सुना था ॥ २२ ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शर्म नैवाधिगच्छामि चिन्तयानोऽनिशं विभो ॥ २३ ॥

हे विभो पृथ्वीनाथ ! शत्रुका वह अनन्त धन देखकर सदा चिन्तासे ग्रस्त होनेके कारण मैं सुखी नहीं हूँ ॥ २३ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः
त्रैखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २४ ॥

अंकुरोंसे युक्त भूमिसे सम्पन्न तथा गौयुक्त, सैंकडों ब्राह्मण तीन खर्वके समान उपहार लेकर रखवालोंसे रोक दिए जानेके कारण द्वार पर ही खडे थे ॥ २४ ॥

×

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्शुभान् ।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे ततः ॥ २५ ॥
सुवर्णके सुन्दर सुन्दर कमण्डलु बलिके लिये लेकर आनेके बाद ही वे भीतर जा सके थे ॥ २५ ॥

यन्नैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरास्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ॥ २६ ॥
देवबालायें इन्द्रके लिये भी जो मधु नहीं ले जा पातीं, वरुणके द्वारा प्रेषित उसी मधुको कांसेके पात्रमें भर कर समुद्र युधिष्ठिरके पास ले आया था ॥ २६ ॥

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् ।
दृष्ट्वा च मम तत्सर्वं ज्वररूपमिवाभवत् ॥ २७ ॥
सहस्र सुवर्णसे बने बहुत रत्नोंसे सुहावने समुद्र-जलसे पूर्ण शैक्य देखकर मानो मेरे देहमें ज्वर चढ गया था ॥ २७ ॥

गृहीत्वा तत्तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ।
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ॥ २८ ॥
हे पिता भरतश्रेष्ठ ! उन बहंगियोंको लेकर लोग पूर्वदक्षिणमें जाते थे और उसी प्रकार पश्चिम समुद्रकी तरफ भी जाते थे ॥ २८ ॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः ।
इदं चाद्भुतमत्रासीत्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २९ ॥
पर खेचरी जातिके विना कोई भी उत्तरी समुद्रमें जा नहीं सकता; पर हे तात ! उस यज्ञमें और भी आश्चर्य देखनेमें आया । वह कहता हूं, सुनिये ॥ २९ ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ॥ ३० ॥
ऐसा संकेत निश्चय किया गया, कि भोजनमें ब्राह्मणोंकी एक लाखकी संख्या पूरी हो जानेपर एक एक बार शंख बजाया जावे ॥ ३० ॥

मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ।
उत्तमं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ ३१ ॥
हे भारत ! बारंबार बजते हुए उस शंखकी ध्वनिको मैं सुना करता था, उससे मेरे शरीरके रोवें खडे हो जाते थे ॥ ३१ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ॥ ३२ ॥
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ।
वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः ॥ ३३ ॥

महाराज ! देखनेके लिए आये हुए बहुतसे राजाओंसे वह सभा भर गई थी। हे जननाथ ! उन धीमान् पाण्डवनन्दके यज्ञमें पृथ्वीपाल नरेशवर्ग वैश्योंकी भांति सब प्रकारके रत्नोंके साथ द्विजोंको परोसनेवाले बने थे ॥ ३२-३३ ॥

न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य वा
गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन्युधिष्ठिरे ॥ ३४ ॥

वास्तवमें जो श्री युधिष्ठिरमें विराज रही है, वह न यमराज, न इन्द्र, न ब्रह्मा, न कुबेर अर्थात् किसीकी भी नहीं है ॥ ३४ ॥

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३५ ॥

हे महाराज ! पाण्डुपुत्रकी वैसी अनुपम श्री देखके मेरा हृदय जल रहा है; मुझको किसी भी प्रकार चैन नहीं मिल रहा है ॥ ३५ ॥

शकुनि उवाच—

यामेतामुत्तमां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३६ ॥

(दुर्योधनकी इस बातपर) शकुनि बोले— हे सच्चे पराक्रमी भारत ! युधिष्ठिरकी तुमने जो यह अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसको पानेका उपाय मुझसे सुनलो ॥ ३६ ॥

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ३७ ॥

हे भारत ! धरती भरमें मैं चौपड खेलनेमें कुशल हूँ । मैं चौपडमें हार जीतका भेद जानता हूं, तथा उसके विशेष प्रकारोंका भी ज्ञान रखता और देश कालादिकी विशेषता समझता हूं ॥ ३७ ॥

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
आहूतश्चैष्यति व्यक्तं दीव्यावेत्याह्वयस्व तम् ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिरकी चौपडमें प्रीति तो है; पर वह खेलना नहीं जानता, अतः तुम उससे कहो कि " आओ, जुआ खेलें " इस प्रकार बुलाये जानेपर वह अवश्य आएगा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्तदा।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन बोले— शकुनिके ऐसा कहते ही राजा दुर्योधनने उसी क्षण धृतराष्ट्रसे यह वाक्य कहा ॥ ३९ ॥

अयमुत्सहते राजञ्श्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४० ॥

महाराज ! यह चौपडमें दक्ष मामा चौपड खेलकर पाण्डुपुत्रोंकी सम्पति हरना चाहते हैं, अतः, आप आज्ञा देवें ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्र बोले— बडे बुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं, उन्हींके परामर्शमें मैं सदा रहता हूं। अतः, उनसे मिलकर यह कार्य उचित है वा नहीं, इसका निश्चय करूंगा ॥ ४१ ॥

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम्।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४२ ॥

क्योंकि, वह बहुदर्शी पुरुष धर्मको सामने रखकर ऐसी अच्छी युक्ति कहेगा, कि जिससे दोनों ओरका मङ्गल होवे ॥ ४२ ॥

दुर्योधन उवाच—

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ॥ ४३ ॥

दुर्योधन बोले— हे महाराज ! यदि विदुर आपसे मिलके परामर्श करेंगे, तो वह मेरी इच्छासे आपका चित्त हटा देंगे, और यदि मेरा कहना आप नहीं मानेंगे, तो निश्चित समझिए कि मैं मर जाऊंगा ॥ ४३ ॥

स मयि त्वं मृते राजन्विदुरेण सुखी भव।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥ ४४ ॥

मेरे मर जानेके बाद आप विदुरके सहित सुखसे रहें और पूरी धरतीको भोगें, मुझसे आपको क्या मतलब ? ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

आर्तवाक्यं तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत्प्रेष्यान्दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन बोले— दुर्योधनकी वह प्रेमभरी कातर वाणीको सुनके उसकी हां में हां मिला कर धृतराष्ट्रने नौकरोंको आज्ञा दी ॥ ४५ ॥

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥ ४६ ॥

मेरी आज्ञासे शिल्पी लोग मेरे लिये एक बडी विस्तृत सहस्र खम्भेवाली और सौद्वार युक्त एक सुन्दर सभा रचें ॥ ४६ ॥

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तामक्षानावाप्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ४७ ॥

और बन जाने पर तुम सब देशोंसे मणिपालोंको बुलवाकर उस सभाको रत्नसे खचित करके सुखसे प्रवेश करने योग्य बनवाकर मुझसे कहो ॥ ४७ ॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद्विदुराय वै ॥ ४८ ॥

महाराज ! भूपाल धृतराष्ट्रने दुर्योधनके चित्तमें शान्ति पहुंचानेके लिए ऐसा निश्चय कर विदुरके पास दूत भेजा ॥ ४९ ॥

अपृष्ट्वा विदुरं ह्यस्य नासीत्कश्चिद्विनिश्चयः ।
द्यूतदोषांश्च जानन्स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ४९ ॥

विदूरसे विना पूछे वह स्वयं किसी कार्यकी कर्तव्यता निश्चित नहीं करते थे, और यह भी जानते थे, कि चौपडमें बहुत दोष हैं, पर पुत्रस्नेहसे आकृष्ट थे ॥ ४९ ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान्कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५० ॥

धीमान् विदुर वह वृत्तान्त सुनकर और यह समझकर कि, झगडेका द्वार खुल गया तथा सत्यनाशकी जड जम गयी है, धृतराष्ट्रके पास आये ॥ ५० ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ५१ ॥

वह महात्मा ज्येष्ठ भ्राताके पास आकर उनके पांवोंको सिरसे छूकर यह बोले ॥ ५१ ॥

नाभिनन्दामि ते राजन्व्यवसायमिमं प्रभो ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद्द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥ ५२ ॥

हे प्रभो राजन् ! मैं आपके इस निश्चयका अभिनन्दन नहीं कर सकता । हे प्रभो ! ऐसा करें, कि द्यूतके कारण पुत्रोंके बीचमें शत्रुता न होवे ॥ ५२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति ।
दिवि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे क्षत्त ! यदि देवोंकी प्रसन्नता हम पर बनी रहेगी, तो कभी भी हमारे पुत्रोंमें झगडा नहीं पैदा होगा ॥ ५३ ॥

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम् ।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५४ ॥

अतएव चाहे शुभ हो वा अशुभ हो, हित हो वा अहित हो, मित्रतासे चौपडका खेल होने दो । इसमें सन्देह नहीं, कि यह दैवी कार्य है ॥ ५४ ॥

मयि संनिहिते चैव भीष्मे च भरतर्षभे ।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद्भविष्यति ॥ ५५ ॥

हे भारत ! मेरे और भरतश्रेष्ठ भीष्मके निकट रहनेसे इस दैवी कार्यमें अनीति नहीं होने पाएगी ॥ ५५ ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे ।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥

अतः, तुम पवनके समान तेज घोडेवाले रथ पर चढकर आज ही खाण्डवप्रस्थको जाकर युधिष्ठिरको लेते आओ ॥ ५६ ॥

न वार्यो व्यवसायो मे विदुरैतद्ब्रवीमि ते ।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥ ५७ ॥

हे विदुर ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम मुझे इस कार्यसे हटानेकी कोशिश न करना ! जिस दैवसे यह कार्य हो रहा है, मैं उसीको प्रधान मानता हूं ॥ ५७ ॥

इत्युक्तो विदुरो धीमान्नैदमस्तीति चिन्तयन् ।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत्सुदुःखितः ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ १५४० ॥

धृतराष्ट्रकी इस बातपर विदुर यह सोचते हुए, कि अब इस कुलका अन्त पासमें आ गया है, बडे दुःखी होकर विज्ञवर भीष्मके निकट गये ॥ ५८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें पैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ १५४० ॥

: ४९ :

जनमेजय उवाच—

कथं समभवद्द्यूतं भ्रातृणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद्व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हमारे दादा पाण्डवोंने जिससे विपत्तिको प्राप्त किया, भाईयोंमें महा विनाश करनेवाला वह जुआ कैसे हुआ था ? ॥ १ ॥

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ वैशम्पायन ! चौपडसभामें कौन कौन राजा उपस्थित थे ? किन्होंने जुएका अनुमोदन किया और किन्होंने निषेध किया ॥ २ ॥

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद्विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

और, हे द्विजवर ! मैं चाहता हूं, कि आप विस्तृत रूपसे वह कथा कहें, क्योंकि वह पृथ्वीनाशकी जड थी ॥ ३ ॥

सूत उवाच—

एवमुक्तस्तदा राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान्।
आचचक्षे यथावृत्तं तत्सर्वं सर्ववेदवित् ॥ ४ ॥

सूत बोले— राजा जनमेजयके ऐसे पूछनेपर सब वेदोंके जानकार व्यासके प्रतापी शिष्यने सब हाल कह सुनाया ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भरतसत्तम।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले— हे भरतश्रेष्ठ महाराज ! यदि आपकी और भी अधिक सुननेकी इच्छा है तो फिर विस्तारपूर्वक यह कथा सुनें ॥ ५ ॥

विदुरस्य मतं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥

अंबिकापुत्र धृतराष्ट्र विदुरका मत जानकर दुर्योधनसे एकान्तमें फिर यह वाक्य बोले ॥ ६ ॥

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७॥

हे गान्धारीके पुत्र दुर्योधन ! जुआ मत खेलो; क्योंकि विदुर इसकी प्रशंसा नहीं करता; यह बुद्धिमान् पुरुष कभी हमारी अहितकी बात नहीं कहता ॥ ७॥

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत्प्रभाषते।
क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८॥

विदुर जो कुछ कहते हैं, मैं उसे परम हित समझता हूं, अतः, हे पुत्र ! तुम उन्हींका कहना मानो, क्योंकि वही तुम्हारे हितकारी हैं ॥ ८॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते।
यत्प्राह शास्त्रं भगवान्बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ९॥

अमरोंके गुरु देवर्षि उदार बुद्धिमान् भगवान् बृहस्पतिने धीमान् देवराजको जो जो शास्त्र सुनाये थे ॥ ९॥

तद्वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः।
स्थितश्च वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक ॥ १०॥

महाविद्वान् विदुर रहस्यसहित वह सब जानते हैं। हे पुत्र ! मैं भी उन्हींके परामर्शसे सदा कार्य किया करता हूं ॥ १०॥

विदुरो वाऽपि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः।
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप ॥ ११॥

हे राजन् ! अति बुद्धिमान् उद्धव जैसे वृष्णियोंमें प्रशंसित हैं, वैसे ही मेधायुक्त विदुर कुरुओंमें श्रेष्ठ गिने जाते हैं ॥ ११॥

द्यूतेन तदलं पुत्र द्यूते भेदो हि दृश्यते।
भेदे विनाशो राज्यस्य तत्पुत्र परिवर्जय ॥ १२॥

अतः हे पुत्र ! जुआ मत खेलो; जुएसे मित्रोंमें शत्रुता उत्पन्न हो जाती है और मित्रोंमें बिगाड होनेसे राज्य नष्ट हो जाता है, अतः यह इच्छा त्याग दो ॥ १२॥

पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद्वै कार्यं परं स्मृतम्।
प्राप्तस्त्वमसि तत्तात पितृपैतामहं पदम् ॥ १३॥

पुत्रके प्रति पिता माताका जो कर्तव्य सुना गया है, हे तात ! उसीके अनुसार पितरोंके पद पर तुम बैठे हुए ॥ १३॥

अधीतवान्कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ।
भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम् ॥ १४ ॥

तुम लिखे पढे हो, कुशल हो और गृहमें सदा प्यारसे पाले पोषे जाते हो। तुम भाइयोंमें ज्येष्ठ होकर राज्यपर बैठे हुए कौनसा सुन्दर पदार्थ नहीं प्राप्त करते ? ॥ १४ ॥

पृथग्जनैरलभ्यं यद्भोजनाच्छादनं परम् ।
तत्प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ १५ ॥

जो उत्तम भोजन और वस्त्रादि साधारण जनोंके लिये दुर्लभ हैं तुम वह पाते हो, फिर, हे महाबाहु पुत्र ! तुम शोक क्यों करते हो ॥ १५ ॥

स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ।
नित्यमाज्ञापयन्भासि दिवि देवेश्वरो यथा ॥ १६ ॥

हे भुजाओंवाले दुर्योधन । यह बडा भारी पैत्रिक राज्य तुम्हारे कारण और ज्यादा विस्तृत हो गया है और सदा आज्ञा देते हुए तुम स्वर्गमें विराजमान देवराज इन्द्रके समान शोभा पाते हो ॥ १६ ॥

तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखतरं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १७ ॥

तुम्हारी बुद्धि प्रसिद्ध ही है, इस पर भी यह दुःखदायक शोकका कारण कैसे उत्पन्न हो गया, यह तुम मुझे बताओ ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच—

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन्पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १८ ॥

दुर्योधन बोले– हे महाराज ! मैं बडा पापी हूं, इसीसे शत्रुकी उन्नति देखते हुए भी खाता, पीता और अच्छे अच्छे कपडे पहनता हूँ । शत्रुकी उन्नति देखनेसे जिसको क्रोध नहीं हो आता, पण्डित लोग उसे नीच पुरुष कहते हैं ॥ १८ ॥

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधरणा विभो ।
ज्वलितामिव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १९ ॥

हे प्रभो राजेन्द्र ! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रसन्नता नहीं देती, कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरमें प्रदीप्त राज्यलक्ष्मीको देखकर बहुत दुःख होता है ॥ १९ ॥

×

सर्वां हि पृथिवीं दृष्ट्वा युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद्ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

सम्पूर्ण धरतीको युधिष्ठिरके वशमें देखकर जो मैं जीवित हूँ, इसलिए मैं अमर हूँ, यह मैं आपसे दुःखपूर्वक कह रहा हूँ ॥ २० ॥

आवर्जिता इवाभान्ति निघ्नाश्चैत्रकिकौकुराः ।
कारस्करा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥

निघ्ना, चैत्रकि, कौकुर, कारस्कर और लौहजंघ आदि देशोंके राजा युधिष्ठिरके भवनमें दासोंकी भांति कार्य करते हुएसे प्रतीत होते हैं ॥ २१ ॥

हिमवत्सागरानूपाः सर्वरत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २२ ॥

हिमालय पर्वत, समुद्री किनारेके प्रदेशों तथा सभी समुद्रों एवं अन्तके प्रदेशोंके राजाओंकी युधिष्ठिरके घरमें बडी भीड रहती है ॥ २२ ॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशां पते ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! युधिष्ठिरने मुझको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जानकर सत्कारसहित रत्न बटोरनेके कार्यमें नियुक्त किया था ॥ २३ ॥

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।
नादृश्यत परः प्रान्तो नापरस्तत्र भारत ॥ २४ ॥

वहां आए हुए अत्यन्त मूल्यवान् श्रेष्ठ रत्नोंका इधरका किनारा और उधरका किनारा कुछ भी दिखाई नहीं देता था अर्थात् अपार रत्न भर गया था ॥ २४ ॥

न मे हस्तः समभवद्वसु तत्प्रतिगृह्णतः ।
प्रातिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २५ ॥

हे भारत ! उस धनको लेते लेते मेरे हाथ समर्थ नहीं हुए अर्थात् थक गए। मेरे थक जानेपर धन लेकर आए हुए राजा उसी प्रकार धन लेकर मेरी प्रतीक्षामें खडे हो गए ॥२५॥

कृतां बिन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥ २६ ॥

मयदानवने बिन्दु सरोवरके आसपाससे रत्न लाके वहां जो एक स्फटिकके पत्रवाला कृत्रिम सरोवर रचा था, उसको मैंने जलसे भरे सच्चे सरोवरके समान देखा ॥ २६ ॥

वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत्स वृकोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २७ ॥
उस भ्रमसे ज्योंही मैंने वस्त्र ऊपर उठाया त्योंही वृकोदर मुझको शत्रुकी उन्नतिसे मोहित और रत्नवर्जित जानकर हंस पडा ॥ २७ ॥

तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽयं वृकोदरम् ।
सपत्नेनाऽवहासो हि स मां दहति भारत ॥ २८ ॥
हे भारत ! मैं यदि समर्थ होता, तो भीमको वहीं गिरा देता । हे भारत ! शत्रुके द्वारा उडाई गई वह हंसी मुझको जला रही है ॥ २८ ॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ॥ २९ ॥
हे राजन् ! फिर मैं कमलोंवाले वैसे ही एक सच्चे तालावको पत्थरके समान जानकर जलमें गिर गया था ॥ २९ ॥

तत्र मां प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सस्वनम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥
इसपर कृष्ण अर्जुनके साथ जोरसे हंस पडा था और द्रौपदी भी स्त्रियोंके सहित मेरे हृदयको पीडा देती हुई हंसी थी ॥ ३० ॥

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजचोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखतरं मम ॥ ३१ ॥
मेरे वस्त्रोंके भीग जानेपर नौकरोंने राजाकी आज्ञासे दूसरे वस्त्र लाकर दिये, वह भी मेरे लिये गहरे दुःखका कारण बना ॥ ३१ ॥

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यं गदतो मे नराधिप ।
अद्वारेण विनिर्गच्छन्द्वारसंस्थानरूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥
हे नाथ ! और भी एक धोखेकी बात कहता हूं, सुनिये ! ऐसा एक स्थान बना है, कि ठीक द्वारके समान दीख पडता है, पर वास्तवमें द्वार नहीं है, उससे ज्यों ही मैंने निकलनेकी कोशिश की, त्योंही मेरा सिर पत्थरसे टकरा गया और मेरे माथेपर चोट लग गई ॥ ३२ ॥

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्य ललितौ किल ।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥ ३३ ॥
तब नकुल और सहदेव दोनोंने दूरसे मुझको घायल देखकर दुःख दिखाकर भुजाओंसे मुझे थाम लिया ॥ ३३ ॥

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

तब सहदेवने मुसकराते हुए मुझसे कहा था, कि महाराज! यह द्वार नहीं है, इधरसे जाइय ॥ ३४ ॥

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ १५७५ ॥

इनके अतिरिक्त मेरे और भी दुःखका हेतु यह है, कि पहिले जिन सब रत्नोंका नाम तक नहीं सुना था, वे उस सभामें दीख पडे इस कारण भी मेरे मनमें बहुत दुःख है ॥ ३५ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ १५७५ ॥

: ४७ :

दुर्योधन उवाच—

यन्मया पाण्डवानां तु दृष्टं तच्छृणु भारत।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला– हे भारत! राजागण इधर उधरसे जो जो श्रेष्ठ धन लेकर आए थे और जिनको मैंने अपनी आंखोंसे देखा था उनकी बात सुनिये ॥ १ ॥

न विन्दे दृढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम्।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥

महाराज! शत्रुका वह धन देखकर मेरी बुद्धि जाती रही और मैं अपनेको भूल गया; अब यह सुनिये, कि किस देशसे फलसे उत्पन्न वस्त्रादि और भूमिसे उत्पन्न हीरा आदि कितना धन आया था ॥ २ ॥

ऐण्डाश्चैलान्वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान्।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ वसु ॥ ३ ॥

राजा काम्बोजने अण्डोंसे उत्पन्न पक्षियों और बिल्लीके रोवेंसे बने, सुवर्ण जालसे मढे अगणित अच्छे अच्छे दुपट्टे और छाल दिए ॥ ३ ॥

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान्।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥

तीतर पक्षीके समान चितकबरे तथा तोतेके समान नाकवाले तीनसौ घोडे और पीलु, शमी तथा इङ्गुदफलसे पुष्ट तीनसौ ऊंट और खच्चर दिए ॥ ४ ॥

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासमीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाभागा धर्मराज्ञो महात्मनः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ५ ॥

गौओंको पालनेवाले (वैश्य), ब्राह्मण और शूद्र आदि वे महाभाग्यशाली जन महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरको प्रसन्न करनेके लिए तीन खरब मूल्यका उपहार लेकर अन्दर न जा सकनेके कारण दरवाजे पर ही खडे हुए थे ॥ ५ ॥

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्शुभान् ।
एवं बलिं प्रदायाथ प्रवेशं लेभिरे ततः ॥ ६ ॥

सैंकडों ब्राह्मण सुवर्णके सुन्दर कमण्डलुओंको उपहारके रूपमें देकर ही राजसभाके अन्दर प्रविष्ट हुए थे ॥ ६ ॥

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ।
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः ।
शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवान्याजिनानि च ॥ ७ ॥

कार्पास देशमें रहनेवाली एक लाख दासियां, श्यामा (सोलह वर्षकी तरुणियां), पतले शरीरवाली, लम्बे लम्बे बालोंवाली और सोनेके अलंकारोंसे विभूषित शूद्र जातिकी स्त्रियों और ब्राह्मणोंके उपभोगके योग्य रंकु जातिके हिरणोंकी खालोंको करके रूपमें लेकर आए ॥ ७ ॥

बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान्गान्धारदेशजान् ॥ ८ ॥

हे महाराज ! गांधार देशमें उत्पन्न घोडोंको तथा दूसरे भी सभी उपहारोंको लेकर भरुकच्छके निवासी आए ॥ ८ ॥

इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्नदीमुखैश्च ये ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः परिसिन्धु च मानवाः ॥ ९ ॥

बरसातके जलसे नदीके किनारे उत्पन्न होनेवाले घास और धान्यको खाकर जो पुष्ट होते हैं, उन घोडोंको लेकर समुद्रके टापुओंमें तथा सिन्धु नदीके परले किनारे पर रहनेवाले लोग आए थे ॥ ९ ॥

ते वैरामाः पारदाश्च बङ्गाश्च कितवैः सह।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १० ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु।
कम्बलान्विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ११ ॥

तथा वैराम, पारद, बंगदेशीय और कितवगण बहुविध रत्न, सुवर्ण, बकरे, भेड, गौ, ऊंट आदि पशु, फलसे उत्पन्न मधु और भांति भांतिके कम्बलका उपहार लेकर सभामें जानेसे रोके जाने पर भी द्वार पर खडे हुए थे ॥ १०-११ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १२ ॥
आजानेयान्हयाञ्शीघ्रानादायानिलरंहसः।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १३ ॥

प्राग्ज्योतिषका राजा म्लेच्छोंके स्वामी शूर बली महारथी राजा भगदत्त यवनोंके सहित वायुके समान वेगवान् तेज चलनेवाले सुजात घोडे और दूसरे उपहार लेकर सभामें न जा सकनेके कारण द्वार पर खडा हुआ था ॥ १२-१३ ॥

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन्।
प्राग्ज्योतिषोऽथ तद्दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥ १४ ॥

तब वह प्राग्ज्योतिष राज भगदत्त बडे मूल्यवान् मणिका बना पात्र और निर्मल गजदन्तकी मूठवाले खड्ग देकर (सभामें) गया ॥ १४ ॥

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षाँल्ललाटाक्षान्नानादिग्भ्यः समागतान्।
औष्णीषाननिवासांश्च बाहुकान्पुरुषादकान् ॥ १५ ॥

इनके अतिरिक्त मैं वहां अनेक देशोंसे हुए आये द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीष, निवास, बाहुक और पुरुषादक राजाओंको ॥ १५ ॥

एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान्।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ १६ ॥

तथा एकपाद आदि राजाओंको मैंने वहां द्वार पर ही रोके जाते हुए देखा। वे सब उस युधिष्ठिरको करके रूपमें बहुतसा सोना और चांदी दे रहे थे ॥ १६ ॥

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्शुकवर्णान्मनोजवान् ।
तथैवेन्द्रायुधनिभान्सन्ध्याभ्रसदृशानपि ॥ १७ ॥
अनेकवर्णानारण्यान्गृहीत्वाश्वान्मनोजवान् ।
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ॥ १८ ॥

एक पांववाले राजाओंने इन्द्रगोप (बीरबधूटी) कीटके समान लाल वर्णवाले, तोतेके समान रंगवाले, सन्ध्याके समय बादलके वर्ण, इन्द्र-धनुषके समान शबल वर्ण, ऐसे नाना वर्ण-वाले, मनकी भांति वेगवान् बनैले घोडों और बहुमूल्य सुवर्णको लाकर युधिष्ठिरको दिया था ॥ १७-१८ ॥

चीनान्हूणाञ्शकानोड्रान्पर्वतान्तरवासिनः ।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा ॥ १९ ॥

चीन, हूण, शक, ओड्र, पर्वतोंमें रहनेवाले वृष्णिवंशी, हारहूण, कृष्ण तथा हिमाचल-वासी ॥ १९ ॥

न पारयाम्यभिगतान्विविधान्द्वारि वारितान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ॥ २० ॥

आदि बहुविध लोग उनकी भांति भांतिकी अपरिमित वस्तु उपहारके रूपमें देनेके लिए आनेपर द्वार पर रोके गये ॥ २० ॥

कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभाञ्शतपातिनः ।
आहार्षुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ २१ ॥

काले गलेवाले, बडी देहवाले, सौकोस तक दौडनेवाले, अच्छी तरह सिखाये गए और दिशा-ओंमें प्रसिद्ध दस हजार गधे लेकर आए ॥ २१ ॥

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २२ ॥

यथा प्रमाण वर्णवाले और छूनेमें कोमल बाल्हीक और चीन देशमें उत्पन्न ऊनी, रंकु मृगके बालोंसे बने हुए, कीडोंसे बने हुए (रेशमी), पट्टसे तैय्यार किए गए ॥ २२ ॥

कुट्टीकृतं तथैवान्यत्कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २३ ॥
निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशून्शितान् ॥ २४ ॥

लच्छेदार, पद्मके समान मुलायम, बिना कपासके बने हुए सुन्दर कपडे और कोमल मृग-छाला, बडे बडे तेज खड्ग, ऋष्टिक और परश्वध पश्चिम देशमें पैदा होनेवाले नोंकदार सैंकडों परशु, ॥ २३-२४ ॥

रसान्गन्धांश्च विविधान्रत्नानि च सहस्रशः।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २५ ॥
भांति भांतिके गन्ध और रस और सहस्रों रत्नादि सहित सब उपहार लेकर बाहर ही रोके जानेके कारण द्वार पर खडे थे ॥ २५ ॥

शकास्तुखाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः।
महागमान्दूरगमान्गणितानर्बुदं हयान् ॥ २६ ॥
शक, तुखार, कंक, रोमश और शृङ्गी लोग तेजीसे दौडनेवाले तथा बहुत दूर तक जाने-वाले अगणित अर्बुद अश्व ॥ २६ ॥

कोटिशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसंमितम्।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २७ ॥
करोडों पद्म सुवर्णादिका उपहार लेकर बाहर ही रोक दिए जानेके कारण द्वार पर ही खडे हुए थे ॥ २७ ॥

णासनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ २८ ॥
मणि सोना और हाथीके दांतसे बने हुए बडे मूल्यवान् आसन बिछौना और यान ॥२८ ॥

रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान्।
हयैर्विनीतैः संपन्नान्वैयाघ्रपरिवारणान् ॥ २९ ॥
सुवर्णसे मढे हुए, सिखाये हुए घोडोंसे युक्त तथा बाघकी खालसे मढे हुए अनेक आकारके रथ ॥ २९ ॥

विचित्रांश्च परिस्तोमान्रत्नानि च सहस्रशः।
नाराचानर्धनाराचाञ्शस्त्राणि विविधानि च ॥ ३० ॥
सुन्दर सुन्दर गज, कम्बल, अनेक भांतिके रत्न, नाराच, अर्द्धनाराच आदि बहुविध शस्त्र ॥ ३० ॥

एतद्दत्त्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपः।
प्रविष्टो यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३१ ॥
इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ १६०६ ॥
यह सब बडी बडी वस्तु देनेपर पूर्वदेशके राजा महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञभवनमें जाकर बैठ सके ॥ ३१ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ १६०६ ॥

: ४८ :

दुर्योधन उवाच—

दायं तु तस्मै विविधं शृणु मे गदतोऽनघ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला— हे अनघ! भूपालोंने यज्ञके लिये युधिष्ठिरको जो अपरिमित धन दिया था, उन अनेक प्रकारके उपहारोंको देनेकी कथा कहता हूं, सुनिये ॥ १ ॥

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥

जो सुमेरु और मन्दर गिरिवरोंके बीचमें स्थित शैलोदा नामकी नदीके दोनों ओर कीचक नामके बांसकी सुन्दर छांहमें बैठकर सुख भोगते हैं ॥ २ ॥

खशा एकाशनाज्योहाः प्रदरा दीर्घवेणवः।
पशुपाश्च कुणिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥

वह खश, एकाशन ज्योह, प्रदर, दीर्घवेणु, पशुपा, कुणिन्द, तङ्गण और परतङ्गण ॥ ३ ॥

ते वै पिपीलिकं नाम वरदत्तं पिपीलिकैः।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥

आदि राजाओंने एक द्रोणमेय * वजन जितना सोना दिया। पिपीलिक अर्थात् चींटियोंके द्वारा दिए गए होनेके कारण इस सोनेको पिपीलिक कहते हैं ॥ ४ ॥

कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्शुक्लांश्चान्याञ्शशिप्रभान्।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥

सुन्दर सुन्दर काले रंगके और चन्द्रमाके समान शुभ्र वर्णके चँवर, हिमाचलके फूलोंसे उत्पन्न बहुत स्वादिष्ट मधु ॥ ५ ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥

उत्तर कुरुसे जलके साथ बहकर आनेवाले फूल उत्तर कैलाससे बलदायक औषधियां ॥ ६ ॥

पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥

और दूसरे सब उपहार लेकरके पर्वत प्रदेशोंके राजा सिर झुकाकर अजातशत्रु नरेश युधिष्ठिर के द्वार पर रोके जानेके कारण खडे हुए थे ॥ ७ ॥

---

* द्रोण=१०२४ तोला।

×

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।
वारिषेण समुद्रान्ते लोहित्यमभितश्च ये ।
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! हिमालयके आधे भागमें सूर्योदय शिखर पर, वारिष देशीय समुद्रके छोरमें और लौहित्य पर्वतके दोनों ओर बसनेवाले और फल और मूलोंको खानेवाले तथा चमडेको पहननेवाले किरात ॥ ८ ॥

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान्कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ ९ ॥

महाराज ! बहंगियों पर चन्दन, अगुरु, ढेरके ढेर चर्म, रत्न सुवर्ण और गन्धके पदार्थोंकी ढेरियां ॥ ९ ॥

कैरातिकानामयुतं दासीनां च विशां पते ।
आहृत्य रमणीयार्थान्दूरजान्मृगपक्षिणः ॥ १० ॥

किरात जातिकी दश सहस्र दासी और दूरदर्शी सुन्दर सुन्दर मृग तथा पक्षी बटोरके ॥ १० ॥

निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ११ ॥

और पहाडोंसे एकत्रित किये गए बहुत तेजयुक्त सुवर्ण और दूसरे भी उपहार लेकर रोके जाकर द्वार पर ही खडे हुए थे ॥ ११ ॥

काय‍व्या दरदा दार्वाः शूरा वैयमकास्तथा
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १२ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! काय‍व्य, दरद, दार्व, शूर, वैयामक, औदुम्बर दुर्विभाग और बाल्हीकोंके साथ पारद ॥ १२ ॥

काश्मीराः कुन्दमानाश्च पौरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः ॥ १३ ॥

काश्मीरवासी कुन्दमान, पारक, हंसकायन शिवि, त्रिगर्त्त, यौधेय, मद्र, कैकय ॥ १३ ॥

अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वसातयः समौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १४ ॥

अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, पह्लवोंके साथ वस्त्रप, वसातय, मौलेय, क्षुद्रक, मालव ॥ १४ ॥

शौण्डिकाः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशां पते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शानवत्या गयास्तथा ॥ १५ ॥

हे महाराज ! शौण्डिक और कुक्कुर और शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शानवत्य और गय ॥ १५ ॥

सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रपाणयः ।
आहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १६ ॥

आदि कुलीन श्रेणिमन्त, श्रेष्ठ और शस्त्र हाथोंमें लिए हुए क्षत्रियगण अजातशत्रु युधिष्ठिरके लिये सैंकडों मुद्रायें लाये थे ॥ १६ ॥

वङ्गाः कलिङ्गपतयस्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः ।
दुकूलं कौशिकं चैव पत्रोर्णं प्रावरानपि ॥ १७ ॥
तत्र स्म द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकाराः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥ १८ ॥

हे भारत ! वङ्ग और कलिङ्गके राजा ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दुकूल, कौशिक, पत्रोर्ण और प्रावर आदि राजाओंको वहांका द्वारपाल राजाकी आज्ञासे कहता था कि तुम कर और उपहार लेकर आओ तभी तुम्हें अन्दर जाने दिया जाएगा ॥ १७–१८ ॥

ईषादन्तान्हेमकक्षान्पद्मवर्णान्कुथावृतान् ।
शैलाभान्नित्यमत्तांश्च अभितः काम्यकं सरः ॥ १९ ॥

काम्यक सरोवरके किनारे उत्पन्न हलकी लकडीके समान दांतवाले, सोनेके जरीदार कपडेसे ढके हुए, कमलके समान नीले, झूलसे विभूषित, पहाडके सदृश, सदा उन्मत्त ॥ १९ ॥

दत्त्वैकैको दशशतान्कुञ्जरान्कवचावृतान् ।
क्षमावतः कुलीनांश्च द्वारेण प्राविशंस्ततः ॥ २० ॥

कवचसे युक्त सहनशील, उत्तम कुलमें उत्पन्न एक एक हजार हाथी देकर वे हरएक राजा द्वारसे जा सके थे ॥ २० ॥

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २१ ॥

नाना दिशा तथा देशोंसे आये हुए यह सब तथा दूसरे अगणित मनुष्य तथा महात्मा रत्नसे बनी हुई वस्तुयें लाये थे ॥ २१ ॥

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥ २२ ॥

इन्द्रके साथी चित्ररथ नामक गन्धर्वराजने पवनके समान वेगसे चलनेवाले चारसौ घोडे दिये थे ॥ २२ ॥

तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामददद्धेममालिनाम् ॥ २३ ॥

गन्धर्व तुम्बुरुने प्रसन्न चित्तसे आमके पत्तेके समान रंगवाले तथा सोनेके सदृश तेजस्वी सौ घोडे दिये ॥ २३ ॥

कृती तु राजा कौरव्य शूकराणां विशां पते ।
अददद्गजरत्नानां शतानि सुबहून्यपि ॥ २४ ॥

हे कुरुनन्दन महाराज ! शूकर नामक म्लेच्छोंके सुयोग्य राजाने अनेक सैंकडों श्रेष्ठ हाथी दिये ॥ २४ ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम् ।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥ २५ ॥

मत्स्यदेशके राजा बिराट्ने उपहारके लिये सोनेकी मालाओंसे विभूषित दो हजार मतवाले हाथी दिए ॥ २५ ॥

पांशुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् ।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन्काञ्चनमालिनाम् ॥ २६ ॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥ २७ ॥

हे नरनाथ ! राजा वसुदानने पांशु राज्यसे छब्बीस हाथी और सोनेके अलंकारोंसे सुभूषित, वेगवान् और बलवान् तथा अत्यन्त तरुण घोडे तथा दूसरे उपहार लाकर पाण्डवोंको दिये थे ॥ २६-२७ ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश ।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशां पते ॥ २८

हे महाराज ! राजा यज्ञसेनने चौदह हजार दासियां और स्त्री सहित दश हजार दास दिए ॥ २८ ॥

गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ॥ २९ ॥

तथा हाथियोंसे युक्त छब्बीस रथ, यहांतक, कि अपना सब राज्य पाण्डवोंके यज्ञके लिए समर्पित कर दिया था ॥ २९ ॥

समुद्रसारं वैडूर्यं मुक्ताः शङ्खास्तथैव च।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ॥ ३० ॥
सिंहलके राजा भी समुद्रका सारभाग वैदूर्यमणि और मोती, शंख तथा सैंकडों गलीचे ले करके आए थे ॥ ३० ॥

संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः।
तान्गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥
लाल लाल आंखोंवाली तथा श्याम वर्णवाली तथा मणियों और सुन्दर वस्त्रोंको पहने हुई तरुणियोंको लेकर मनुष्य रोके जानेके कारण द्वारपर ही खडे हुए थे ॥ ३१ ॥

प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः।
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवोऽपि च।
प्रीत्या च बहुमानाच्च अभ्यगच्छन्युधिष्ठिरम् ॥ ३२ ॥
युधिष्ठिरकी प्रीतिके लिये ब्राह्मण तथा जीते गए क्षत्रिय, वैश्यवर्ग और सेवा करनेकी इच्छा करनेवाले शूद्रोंने भी भेंट दी थी। प्रीती और बडे मानसे म्लेच्छ भी युधिष्ठिरके भवनमें गये थे ॥ ३२ ॥

सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा।
नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरागतैः।
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ३३ ॥
इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम सब कुलोंमें उत्पन्न सभी वर्ण तथा सभी म्लेच्छ वहां आए थे। नाना देशोंसे नाना जातिके लोगोंके वहां आनेके कारण जान पडता था, कि मानो युधिष्ठिरके भवनमें भूमण्डल भरके लोग एकत्र हो गए हों ॥ ३३ ॥

उच्चावचानुपग्राहान्राजभिः प्रहितान्बहून्।
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मेऽद्य जायते ॥ ३४ ॥
शत्रुओंको राजाओंके द्वारा भांति भांतिका अपरिमित धन दिए जाते हुए देखकर दुःखके मारे आज मुझमें मरनेकी इच्छा पैदा हो रही है ॥ ३४ ॥

भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि भारत।
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥
हे भारत! पाण्डवोंके जितने नौकर चाकर हैं और जिनको युधिष्ठिर कच्चा या पक्का खिलाते हैं उनकी बात आपसे कहता हूं ॥ ३५ ॥

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ।
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा ॥ ३६ ॥

तीन पद्म और दस हजार फीलवान और घुड-सवार थे, दस करोड रथ और अगणित पैदल थे ॥ ३६ ॥

प्रमीयमाणमारब्धं पच्यमानं तथैव च ।
विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च ॥ ३७ ॥

कहीं कच्ची भोजन सामग्री तौली जाती थी, कहीं अन्न पकाया जा रहा था और कहीं भोजन परोसा जा रहा था और कहीं सुन्दर धुन सुन पडती थी ॥ ३७ ॥

नाभुक्तवन्तं नादृष्टं नासुभिक्षं कथंचन ।
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ३८ ॥

वास्तवमें मैंने युधिष्ठिरके भवनमें सब वर्णोंमेंसे किसीको बिना खाया, बिना पीया अथवा अकाल नहीं देखा ॥ ३८ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ।
सुप्रीताः परितुष्टाश्च तेऽप्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥ ३९ ॥

अठासी हजार गृहमेधी स्नातक ऐसे हैं कि जिनमें हर एकके पीछे तीस तीस दासियां नियुक्त की गई हैं और इस प्रकार युधिष्ठिर उनका पालन पोषण करते हैं और वे भी सुप्रसन्न और सुतृप्त होकर उनके शत्रु-नाशकी कामना करते रहते हैं ! ॥ ३९ ॥

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४० ॥

इनके अतिरिक्त युधिष्ठिरके भवनमें दश हजार ऊर्ध्वरेता यतिलोग सुवर्णके पात्रमें भोजन करते हैं ॥ ४० ॥

भुक्ताभुक्तं कृताकृतं सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद्विशां पते ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! कुबडे और बौने लोगोंमें भी किसने भोजन कर लिया, किसने नहीं किया, किसका सत्कार हुआ, किसका नहीं इन सब बातोंका निरीक्षण स्वयं यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदी अपने भोजन करनेसे पहले किया करती है ॥ ४१ ॥

द्वौ करं न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत।
वैवाहिकेन पाञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ॥ ४२ ॥
॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ १६४८ ॥

हे भारत ! विवाहसम्बन्धके कारण पाञ्चाल लोग और मित्रताके कारण अन्धक तथा वृष्णि-गण केवल इन दोनोंने कुन्तिपुत्रको कर नहीं दिया, बाकी सबने उन्हें कर दिया ॥ ४२ ॥

महाभारतके सभापर्वमें अडतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ १६४८ ॥

: ४९ :

दुर्योधन उवाच—
आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसन्धा महाव्रताः।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदान्तावभृथाप्लुताः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला— जो सब आर्य राजा सत्यप्रेमी महाव्रतोंके पालक महाविद्यावान् अच्छे वक्ता और यज्ञोंमें निपुण ॥ १ ॥

धृतिमन्तो ह्रीनिषेधा धर्मात्मानो यशस्विनः।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥

धैर्यशाली, लज्जाशील, धार्मिक तथा यशस्वी हैं, वे मूर्द्धाभिषिक्त राजालोग भी सब प्रकारसे युधिष्ठिरकी उपासना करते हैं ॥ २ ॥

दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥

दक्षिणाके लिये राजाओंके द्वारा लाये गए कांसके बने एक एक दोहनेके पात्र सहित बहुतसी गायें मैंने वहां जगह जगह देखीं ॥ ३ ॥

आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥

हे भारत ! युधिष्ठिरके अभिषेकके लिए सदा सावधान रहनेवाले राजागण अनेक प्रकारके छोटे बडे बर्तन आदरपूर्वक स्वयं उठा लाए थे ॥ ४ ॥

बाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदपरिष्कृतम्।
सुदक्षिणस्तं युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥

राजा बाह्लीक काञ्चन जटित रथ लाये, राजा सुदक्षिणने उसमें काम्बोजमें उत्पन्न चार श्वेत घोडे जोड दिये ॥ ५ ॥

सुनीथोऽप्रतिमं तस्य अनुकर्षं महायशाः ।
ध्वजं चेदिपतिः क्षिप्रमहार्षीत्स्वयमुद्यतम् ॥ ६ ॥

महायशस्वी सुनीथ उस रथकी अत्युत्तम अनुकर्षण अर्थात् नीचे कि लकडी और चेदिराज स्वयं ध्वजा उठा लाये ॥ ६ ॥

दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः ।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥

राजा दाक्षिणात्य कवच और राजा मगध माला और पगडी उठा लाये, महाधनुर्धारी वसुदान साठ वर्षकी अवस्थाके एक उत्तम हाथीको ले आए ॥ ७ ॥

मत्स्यस्त्वक्षानवाबध्नादेकलव्य उपानहौ ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥

मत्स्यराजने रथमें अक्ष जोडे, एकलव्य दोनों जूते उठा लाया और अवन्तीके राजा अभिषेकके लिये बहुविध जल ले आए ॥ ८ ॥

चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं रुक्मत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥ ९ ॥

चेकितान तरकश, काशीराज धनुष, रुक्म तलवार और शल्य सोनेसे मढी हुई छींके उठा लाए ॥ ९ ॥

अभ्यषिंचत्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं वै पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम् ॥ १० ॥

तदनन्तर महातपस्वी धौम्य और व्यास ये दोनों नारद, देवल और असित मुनियोंको आगे रखकर अभिषेकका कार्य करने लगे ॥ १० ॥

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः ।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ॥ ११ ॥
अभिजग्मुर्महात्मानं मन्त्रवद्भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥

महर्षि लोग प्रसन्न मनसे अभिषेकके निकट जा बैठे। जामदग्न्य सहित दूसरे वेदपारग भी मन्त्र उच्चारते हुए बहुत दक्षिणा देनेवाले महात्मा युधिष्ठिरके निकट उसी प्रकार गये, कि जैसे देवलोकमें सप्तर्षि गण देवराज इन्द्रके पास जाते हैं ॥ ११-१२ ॥

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनञ्जयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥

उस समय सच्चे पराक्रमी सात्यकिने उनके सिरपर छत्र धारण किया और पाण्डुपुत्र धनञ्जय और भीमसेन पंखे डुलाने लगे ॥ १३ ॥

उपागृह्णाद्यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ।
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ॥ १४ ॥

जिस शङ्खको पूर्व कल्पमें प्रजापतिने इन्द्रको दिया था, उस वारुणशंखको समुद्रने युधिष्ठिरको प्रदान किया ॥ १४ ॥

सिक्तं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ।
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् ॥ १५ ॥

विश्वकर्माने हजार तोले सोनेसे उस शंखको अच्छी तरह विभूषित किया था। उस शंखसे कृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया, उसे देखकर मैं दुःखसे मूर्च्छित सा हो गया ॥ १५ ॥

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम् ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः ॥ १६ ॥

हे पिता ! लोग पूर्वसे पश्चिम समुद्रको जाते और दक्षिण समुद्रको भी जाते हैं पर उत्तरी समुद्रमें विना पक्षियोंके कोई भी नहीं जा सकता ॥ १६ ॥

तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान्मङ्गल्यकारणात् ।
प्राणदंस्ते समाध्मातास्तत्र रोमाणि मेऽहृषन् ॥ १७ ॥

(पाण्डवोंने उस स्थानमें भी अपना शासन फैलाया है और उत्तरी समुद्रसे लाये गए) सैंकडों शङ्ख मंगलके लिये वहां बजने लगे। उन सबके एक ही कालमें बजनेसे बडा शब्द फैला, उससे मेरी देहके रोवें खडे हो गये ॥ १७ ॥

प्रणताभूमिपाश्चापि पेतुर्हीनाः स्वतेजसा ।
धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ॥ १८ ॥
सत्त्वस्थाः शौर्यसंपन्ना अन्योन्यप्रियकारिणः ।
विसंज्ञान्भूमिपान्दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ॥ १९ ॥

तेजसे रहित राजा भी उस शब्दको सुनकर पृथ्वीपर गिर पडे। तब बलशाली, वीर्यवान् और एक दूसरेका प्रिय करनेवाले धृष्टद्युम्न, पांचों पाण्डव, सात्यकि और आठवें कृष्ण उन राजाओंको और मुझे मूर्च्छित हुए देखकर जोरसे हंसे ॥ १८-१९ ॥

×

ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम्
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ॥ २० ॥

हे भारत ! तदनन्तर अर्जुनने प्रसन्न मनसे श्रेष्ठ द्विजोंको सोनेसे मढे हुए सींगोंवाले पांच सौ बैल दिये ॥ २० ॥

नैवं शम्बरहन्ताभूद्यौवनाश्वो मनुर्न च।
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद्भगीरथः ॥ २१ ॥
यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २२ ॥

वास्तवमें प्रभावशाली कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर हरिश्चन्द्रकी भांति इस प्रकार राजसूय यज्ञ करके जैसे परम श्रीमान् बने, उस प्रकार न शम्बरासुरको मारनेवाला इन्द्र हो सका, न मनु, न वेनका पुत्र राजा पृथु और न भगीरथ ही वैसा हो सका था ॥ २१–२२ ॥

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो।
कथं नु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥ २३ ॥

हे विभो भारत ! हरिश्चंद्रके समान पृथाकुमारकी ऐसी श्री देखकर भी मेरा जीना आप मंगलदायी क्यों समझ रहे हैं ? ॥ २३ ॥

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्ति भारत ॥ २४ ॥

हे राजन् ! प्रतीत होता है कि विधाताने अन्धे होकर इस द्वापर युगको उलटा ही बना डाला है, तभी तो कनिष्ठकी दिन पर दिन वृद्धि होती जा रही है और ज्येष्ठ अवनत होते जाते हैं ॥ २४ ॥

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म परीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥ १६७३ ॥

हे कुरुवर ! यह देखकर सब प्रकारसे सोच विचार कर भी मुझको सुख नहीं मिलता है, इसी कारण मैं ऐसा दुबला, पीला और शोकसे युक्त हो गया हूं ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें उनन्चासवां अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥ १६७३ ॥

: ५० :

धृतराष्ट्र उवाच—

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान्द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे पुत्र ! तुम मेरे सब बेटोंमें सबसे बडे हो और बडी रानीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो, अतः पाण्डवोंसे द्वेष मत करो, क्योंकि द्वेष करनेवालेको इतना कष्ट होता है, कि जितना मरनेवालेको ॥ १ ॥

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात्त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! युधिष्ठिर कपट करना नहीं जानता, राज्यमेंसे जितना धन तुम्हें मिला है उतना ही उसे भी मिला है, जो तुम्हारे मित्र हैं वे ही उसके भी मित्र हैं, किसीसे द्वेष नहीं करता; अतः फिर तुम्हारे जैसा जन भी उससे द्वेष क्यों करे ? ॥ २ ॥

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य साधिवह ॥ ३ ॥

हे राजन् ! युधिष्ठिरके जितने अनुचर और वैभव हैं, तुम्हारे भी उतने हैं, फिर तुम भाईकी लक्ष्मी छीननेकी क्यों इच्छा कर रहे हो ? इतने लोभी मत बनो, मान जाओ, शोक न करो ॥ ३ ॥

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥

पर, हे भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम भी वैसी ही यज्ञकी सम्पत्ति पाना चाहते हो, तो, तुम्हारे पुरोहित भी सप्ततन्तु महायज्ञका अनुष्ठान करें ॥ ४ ॥

आहरिष्यन्ति राजनस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥

राजा लोग बडे मानसे तुम्हारे लिये भी बडी प्रीतिसे बहुतसा धन और रत्न और आभूषण ले आयेंगे ॥ ५ ॥

अनर्थाचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥

हे तात ! पराये धनकी ओर हाथ बढाना बडे भारी अनर्थका कारण बन जाता है । जो अपने धर्ममें बने रहकर अपने ही धनसे प्रसन्न रहते हैं वे ही सुख पाते हैं ॥ ६ ॥

अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
उद्यमो रक्षणे स्वेषामेतद्वैभवलक्षणम् ॥ ७ ॥

पराये धन पानेकी चेष्टा न करना, अपने कर्ममें सदा उद्यमशील रहना और प्राप्त धनको बचाना यही वैभवके लक्षण हैं ॥ ७ ॥

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥ ८ ॥

विपत्तिके कालमें न घबराकर, सदा काममें लगा रहनेवाला तथा सदा उद्यमी अप्रमत्त और नम्र होकर रहनेवाला मनुष्य हमेशा कल्याणको ही प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

अन्तर्वेद्यां ददद्वित्तं कामाननुभवान्प्रियान् ।
क्रीडन्स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अन्तर्वेदीमें धन खर्च करते हुए, अपनी प्रिय और अभिलषित वस्तुओंका उपभोग करते हुए और चिन्ता रहित होकर स्त्रियोंके साथ विहार करते हुए शान्त हो जाओ, दुःखको भुला दो ॥ ९ ॥

दुर्योधन उवाच—

जानन्वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥ १० ॥

दुर्योधन बोले— पर आप समझ बूझकर भी मुझको भ्रममें डाल रहे हैं, जिस प्रकार एक नावसे दूसरी नाव बांध दी जाए, उसी प्रकार आप हैं । अथवा स्वार्थ पर आपकी दृष्टि नहीं है, या मुझसे ही आप द्वेष कर रहे हैं ॥ १० ॥

न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सदा त्वं कृत्यमात्मनः ॥ ११ ॥

वास्तवमें आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे तो इन धृतराष्ट्रपुत्रोंका नाश हो जाएगा, क्योंकि आप (चौपडसे शत्रुका धन लेनेके समान उपस्थित उपायको छोडकर यज्ञ करने पर) भविष्य कालमें धन प्राप्त करनेकी बात करते हैं ॥ ११ ॥

परप्रणेयोऽग्रणीर्हि यश्च मार्गात्प्रमुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ १२॥

जो अग्रणी नेता दूसरेके कथनानुसार चलता है और जो मार्गसे भटक जाता है । ऐसे आदमीके कदमों पर चलनेवाले लोग ठीक रास्ते पर कैसे चल सकते हैं ? ॥ १२ ॥

राजन्परिगतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान्स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥ १३ ॥

महाराज ! आपकी बुद्धि पक्की हो गयी है, आपने वृद्धोंकी सेवा की है और इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, फिर भी अपने कार्यको सिद्ध करनेमें तत्पर हमको आप मोहमें क्यों डाल रहे हैं ! ॥ १३ ॥

लोकाद्वृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद्राज्ञा प्रयत्नेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ १४ ॥

बृहस्पतिने कहा है, कि लौकिकव्यवहारसे राज्यव्यवहार अलग है; अतः राजाको प्रयत्न-पूर्वक सदा स्वार्थकी ही चिन्ता करनी चाहिये ॥ १४ ॥

क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ भरतर्षभ ॥ १५ ॥

महाराज ! क्षत्रियकी वृत्ति शत्रुओंको जीतनेमें ही होनी चाहिए । इसलिए, हे भरतश्रेष्ठ ! चाहे वह धर्म हो वा अधर्म उसे अवश्य ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

प्रकालयेद्दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां बुभूषुर्भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! सारथि जैसे चाबुकसे घोडोंको क्षुब्ध करता है, उसी प्रकार शत्रुकी लक्ष्मीके समान स्वयं भी तेजस्वी होनेकी इच्छा करनेवाले क्षत्रिय भी सब दिशाओंको क्षुब्ध कर दे ॥ १६ ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा यो योगो रिपुबाधनः ।
तद्वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥ १७ ॥

चाहे गुप्त हो वा प्रकटित हो जिस किसी उपायसे शत्रु वशमें आजाये उसीको शस्त्रोंके जानकार शस्त्र कहते हैं, जिससे काटा जाता है वही शस्त्र नहीं है ॥ १७ ॥

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् ।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन्परमो नयी ॥ १८ ॥

हे महाराज ! असन्तोष ही सम्पत्तिकी जड है, अतः मैं असन्तोषकी ही इच्छा कर रहा हूं। जो अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न करता है वही श्रेष्ठ नीतिज्ञ माना जाता है ॥ १८ ॥

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा ।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १९ ॥

सम्पत्ति वा धनका मोह करना उचित नहीं; क्योंकि पहिलेका बटोरा हुआ धन दूसरे हर ले जाते हैं और यही राजाका धर्म कहा गया है ॥ १९ ॥

अद्रोहे समयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः सा हि मता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ २० ॥

देवराज इन्द्रने द्रोह न करनेका प्रण करके भी नमुचिका सिर काटा था। शत्रुसे ऐसा सनातन व्यवहार करनेमें उनकी संमति थी, इसीसे उन्होंने ऐसा किया था ॥ २० ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ २१ ॥

सर्प जैसे गड्ढेमें पडे हुए मेंढक आदि जन्तुओंको निगल जाता है, वैसे ही विरोध न करनेवाले राजा और गृह न छोडनेवाले संन्यासीको धरती निगल जाती है ॥ २१ ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशां पते ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ २२ ॥

हे राजन् ! जातिके कारण कोई किसीका शत्रु नहीं होता, पर जब दो मनुष्योंका साध्य एक ही होता है, तभी वे दोनों एक दूसरेके शत्रु होते हैं, तीसरा कोई उनका शत्रु नहीं होता ॥ २२ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात्समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ २३ ॥

बढते हुए शत्रुका जो मोहसे उपेक्षा करता है, क्रमसे बढती हुई व्याधिके समान वह शत्रु ही उसकी जडको काट देता है ॥ २३ ॥

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यन्तं वर्धमानपराक्रमः ।
वल्मीको मूलजः इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ २४ ॥

वृक्षकी जडमें उत्पन्न हुई दीमक जैसे विना विलम्ब पूरे वृक्षको खा जाती है, वैसे ही छोटा शत्रु भी पराक्रममें बढता जाये; तो दूसरे पक्षको शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥ २४ ॥

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत ।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि धिष्ठितः ॥ २५ ॥

हे आजमीढ भारत ! शत्रुकी लक्ष्मी आपको प्रीति न दे; बुद्धिमानोंको चाहिए कि वे इस नीतिको अवश्य ही शिरोधार्य करें ॥ २५ ॥

जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते ।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ २६ ॥

जो देहकी स्वाभाविक वृद्धिके समान अर्थकी उन्नति चाहता है, वह विना सन्देह ज्ञातियोंमें श्रेष्ठ होता है और वैभवकी तत्काल वृद्धि करना ही विक्रम है ॥ २६ ॥

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति।
आवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शेष्ये वा निहतो युधि ॥ २७॥

पाण्डवोंके ऐश्वर्यको प्राप्त किए बिना मेरा जीवन ही संशयमें पड जाएगा। या तो मैं उस श्रीको प्राप्त करूंगा, नहीं तो युद्धमें मारा जाकर सो जाऊंगा ॥ २७॥

अतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशां पते।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं तु स्थिरवृद्धयः ॥ २८॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५० ॥ १७०१ ॥

हे महाराज! हमारी उन्नति अब रुक गई है, पर पाण्डव बढते जा रहे हैं, अतः ऐसी असमान दशामें मेरे जीनेका क्या प्रयोजन है? ॥ २८॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें पचासवां अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ १७०१ ॥

: ५१ :

शकुनिरुवाच—

यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेनाहूयतां परः ॥ १॥

शकुनि बोला— हे दुर्योधन! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस लक्ष्मीको देखकर तुम दुःखी हो रहे हो, उसे मैं जुएके द्वारा हर लूंगा, तुम शत्रुओंको जुआ खेलनेके लिए बुलाओ ॥ १॥

आगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे।
अक्षान्क्षिपन्नक्षतः सन्विद्वानविदुषो जये ॥ २॥

मृत्युरूपी संकटमें पडे बिना ही और सेनाओंके अग्रभागमें रहकर लडे बिना ही, क्षतविक्षत न होकर पासे फेंकते हुए, द्यूतविद्याको जाननेवाला मैं इस विद्याको न जाननेवालोंको जीत लेता हूँ ॥ २॥

ग्लहान्धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत।
अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्तरम् ॥ ३॥

हे भारत! बाजीको ही मेरा धनुष समझो, अक्ष बाण हैं, अक्षोंका भीतरी भाग धनुषकी डोरी है, पांसे फेंकनेका स्थान ही मेरा रथ है ॥ ३॥

दुर्योधन उवाच—

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तत्तुभ्यं तात रोचताम् ॥ ४ ॥

दुर्योधन बोला— महाराज! यह चौपडको जाननेवाला मामा चौपड खेलकर पाण्डवोंकी राजश्री हरलेनेके लिए तैय्यार है, अतः, हे तात! यह जुआ खेलना आप भी पसन्द करें ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र बोला— मैं महात्मा भ्राता विदुरकी आज्ञासे सब काम करता हूं, अतः उससे मिलकर यह कार्य उचित है वा नहीं इसका निश्चय करूंगा ॥ ५ ॥

दुर्योधन उवाच—

विहनिष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ६ ॥

दुर्योधन बोला— हे कौरव! विदुर पाण्डवोंका जितना हित करते हैं, हमारा उतना हित नहीं करते, अतः वह विना सन्देह इस कार्यसे आपकी बुद्धि हटा देंगे ॥ ६ ॥

नारभेत्परसामर्थ्यात्पुरुषः कार्यमात्मनः।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ७ ॥

हे कुरुनन्दन! परायी बुद्धिबलके सहारे पुरुषको अपना कार्य प्रारंभ नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक विषयमें दोका मत कभी एक नहीं होता ॥ ७ ॥

भयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिपालयन्।
वर्षासु क्लिन्नकटवत्तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ८ ॥

जो मूर्ख मनुष्य भयदायक कार्योंको छोडकर अपनी रक्षा करता है, वह बरसातमें पडी हुई घासके समान अपनी जगह पर ही सडकर नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

न व्याधयो नापि यमः श्रेयःप्राप्तिं प्रतीक्षते।
यावदेव भवेत्कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ ९ ॥

मनुष्यका कल्याण होनेतक व्याधियां प्रतीक्षा नहीं करतीं और यमराज भी प्रतीक्षा नहीं करते, अतः जबतक मनुष्य व्याधिसे ग्रस्त न होकर समर्थ है तभीतक अपना कल्याण कर लेनेकी प्रतीक्षा करे ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहं ते न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद्वै शस्त्रमनायसम्　　　　　　　॥ १० ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे पुत्र ! बलशालियोंके साथ झगडा करना कदापि मुझे प्रिय नहीं है । विकार शत्रुता पैदा करता है, और वही विकार बिना लोहेका बना हुआ शस्त्र बन जाता है ॥ १० ॥

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र संग्रन्थनं कलहस्यातिघोरम् ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथंचिद्विमोक्षयेच्चाप्यसिसायकांश्च　　　　॥ ११ ॥

हे राजकुमार ! झगडा पैदा करनेवाले भयावने चौपड रूपी अनर्थको ही तुम अर्थ समझ रहे हो, एक बार जुआ प्रारम्भ हुआ कि वह तलवारों और बाणोंको ही छोडता है और जुएके परिणाम स्वरूप अन्तमें लोग तलवारों और बाणोंसे परस्पर लडने लगते हैं ११ ॥

दुर्योधन उवाच—

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो नास्ति न संप्रहारः ।
तद्रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व　　　　॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला— पूर्वकालके लोग चौपडकी रीति बना गये हैं, अतः उससे न तो नाश ही होता है और न युद्ध ही, अतः अब शकुनिका प्रस्ताव आप अवश्य पसन्द करें और आप शीघ्र ही सभा रचनेकी आज्ञा दें ॥ १२ ॥

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व　　　　॥ १३ ॥

जिस प्रकार जुआ खेलनेवाले हमारे लिए स्वर्गका द्वार खुल जाएगा, उसी प्रकार पाण्डवोंके लिए भी खुल जाएगा । इस प्रकार यह द्यूत हमारे और पाण्डवोंके लिए समान फलदायक है, इसलिए आप पाण्डवोंके साथ जुआ खेलनेकी आज्ञा दें ॥ १३ ॥

धृकराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं यत्ते प्रियं तत्क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात्तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं न हीदृशं भाषि वचो हि धर्म्यम्॥१४॥

धृतराष्ट्र बोले— तुमने जो कहा है, यद्यपि वह मुझे पसन्द नहीं है, तथापि, हे राजन् ! जो तुम चाहो, उसे करो, पर उस रीतिपर कार्य करके पीछे पछताओगे । यह तुम्हारा प्रस्ताव किसीका भी हित करनेवाला नहीं है और धर्मानुसार भी नहीं है ॥ १४ ॥

×

दृष्टं ह्येतद्विदुरेणैवमेव सर्वं पूर्वं बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति महद्भयं क्षत्रियबीजघाति ॥ १५ ॥

बुद्धि और विद्याके अनुसार चलनेवाले विदुरने यह सब पहलेसे ही जान लिया है, अब क्षत्रियोंके वंशको नष्ट करनेवाला वह बडा भय दैववश सामने आकर उपस्थित हो गया है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान्पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले— इस प्रकार कहकर और दैवको अत्यन्त दुस्तर मानकर ज्ञानी पर दैवके कारण मोहित हुए चित्तवाले राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी बातको मानकर जोरसे नौकरोंको आज्ञा दी ॥ १६ ॥

सहस्रस्तम्भां हेमवैडूर्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिशृङ्गाम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १७ ॥

तुम ध्यान देकर हजार खंभोंवाली, सुवर्ण वैडूर्य आदिसे सुहावनी सौ द्वारवाली, तोरणसे युक्त तथा स्फटिक पत्थरकी छतवाली, लम्बाईमें सौ सौ कोसतक लम्बी और चौडी सुन्दर सभा शीघ्र ही रचो ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चापि युक्ताः ॥ १८ ॥

उनकी वह आज्ञा सुनकर नियुक्त किए गए हजारों होशियार और चतुर शिल्पियोंने सन्देह रहित होकर शीघ्रतासे उस समय वह सभा तैयार की और उस सभामें सब प्रकारके उपयुक्त पदार्थ भी लाकर रख दिए ॥ १८ ॥

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ १९ ॥

बहुतसे रत्नोंसे सुशोभित, रम्य, सोनेके सुन्दर आसनोंसे युक्त उस सभाको थोडेसे समयमें ही पूर्ण करके आनन्दित हुए उन शिल्पियोंने उस राजाको सूचना दी ॥ १९ ॥

ततो विद्वान्विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २० ॥

तब विद्वान् राजा धृतराष्ट्र मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरसे यह बोले कि तुम मेरी आज्ञासे राजकुमार युधिष्ठिरके निकट जाकर उनको शीघ्र ही यहां लेते आओ ॥ २० ॥

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २१ ॥

वह भाइयोंके साथ मेरी इस बहुरत्नसे जटित, मूल्यवान् सेजआसनोंसे सम्पन्न, सुन्दरतासे सुशोभित सभाको देखे और मित्रताके भावसे जुआ खेलें ॥ २१ ॥

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद्राजा चकार ह ॥ २२ ॥

महाराज ! राजा धृतराष्ट्रने पुत्रका मत जान और दैवको दुस्तर मानकर ही ऐसा किया ॥ २२ ॥

अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाभ्यनन्दद्वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उस समय विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरने अनुचित रीतिसे इस प्रकार कहे जाने पर भाईकी बातका अभिनन्दन नहीं किया और यह वाक्य बोले ॥ २३ ॥

नाभिनन्दामि नृपते प्रैषमेतं मैवं कृथाः कुलनाशाद्बिभेमि ।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्यादेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ २४ ॥

महाराज ! आपकी यह आज्ञा मुझे अच्छी नहीं लगती । आप कदापि यह न कीजिये । मैं कुलके नाशसे डर रहा हूँ । हे नरनाथ ! मुझको यह शङ्का हो रही है, कि चौपडसे आपके पुत्रोंमें शत्रुता उत्पन्न होकर निःसन्देह युद्ध मचेगा ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां न चेद्दैवं प्रतिलोमं भविष्यत् ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले– विदुर ! यदि दैव विरोधी न बने, तो विगाडसे भी मुझको दुःख नहीं पहुंचेगा ! देखो, यह विश्व स्वाधीन नहीं है, दैववश स्थापित करनेवाले विधाताहीके नियमसे ही चेष्टित हो रहा है ॥ २५ ॥

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात् ।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ १७२७ ॥

अतः, मेरी आज्ञासे आज तुम कुन्तीकुमार अजेय राजा युधिष्ठिरके निकट जाकर उनको तुरन्त ले आओ ॥ २६ ॥

महाभारतके सभापर्वमें इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ १७२७ ॥

: ५२ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैर्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः ।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा मनीषिणां पाण्डवानां सकाशम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— राजा धृतराष्ट्रसे बलपूर्वक नियुक्त होकर विदुर सुशिक्षित बडे वेगवान्, श्रेष्ठ, बलिष्ठ घोडोंके द्वारा इन्द्रप्रस्थको महान्चित्त पाण्डवोंके निकट गये ॥ १ ॥

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम् ।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २ ॥

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम् ।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

वह बडे बुद्धिमान् धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरकी राजधानीका रास्ता पकडकर उनके सन्मुख जाकर स्तुति योग्य द्विजोंसे पूजे जाकर गये और कुबेरभवनके सदृश राजभवनमें प्रविष्ट कर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास जा पहूंचे ॥ २–३ ॥

तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्विदुरं यथावत् ।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढस्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥

अजमीढनन्दन सत्य–सदन महात्म्यवान् अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने उनकी यथावत् पूजा कर अन्तमें धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंका कुशल–क्षेम पूछा ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

विज्ञायते ते मनसो न प्रहर्षः कच्चित्क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि ।
कच्चित्पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा वशानुगाश्चापि विशोऽपि कच्चित् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे क्षत्त ! आपका चित्त उदास दीखता है, आप कुशलसे तो आये ? धृतराष्ट्रके बेटे उनके विरोधी तो नहीं बने ? प्रजा भी तो उनके वशमें है ॥ ५ ॥

विदुर उवाच—

राजा महात्मा कुशली सपुत्र आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पैः ।
प्रीतो राजन्पुत्रगुणैर्विनीतैर्विशोक एवात्मरतिर्दृढात्मा ॥ ६ ॥

विदुर बोले— हे महाराज ! ज्ञातियोंसे घिरे हुए इन्द्रके समान भाग्यवाले महात्मा राजा धृतराष्ट्र पुत्रों सहित कुशलसे हैं, वे अपने विनीत पुत्रोंसे युक्त होकर प्रसन्न हैं, तथा शोकसे रहित होकर तथा दृढ आत्मावाले होकर अपनी आत्मामें ही रहकर शोकसे रहित हैं ॥ ६ ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च ।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा भ्रातॄणां ते पश्य तामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥

पर कुरुराजने तुम्हारा कुशल क्षेम और धनादिके व्ययका प्रश्न पूछकर यह कहा है, कि हे पुत्र ! तुम्हारे भाइयोंकी यह सभा भी तुम्हारी सभाके समान ही है, अतः तुम आकर इसे देखो ॥ ७ ॥

समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च ।
प्रीयामहे भवतः संगमेन समागताः कुरवश्चैव सर्वे ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! भाइयोंसे मिलकर इस सभामें मित्र-भावसे चौपड खेलो और आनन्द लूटो; तुम्हारे आनेसे हम भी प्रसन्न होंगे और सब एकत्रित कौरव भी सुख पावेंगे ॥ ८ ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा ।
तान्द्रक्ष्यसे कितवान्सन्निविष्टानित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥

हे महाराज ! महात्मा राजा धृतराष्ट्रने वहां जिन चौपडबाजोंको नियुक्त किया है, उनको तुम वहां बैठे पाओगे, इसीको कहनेके लिये यहां आया हूं । अतः, इस राजाज्ञाका आप पालन करें ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचयद्बुध्यमानः ।
किं वा भवान्मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले– हे क्षत्त ! चौपड खेलनेमें यदि हम सबके बीचमें झगडा पैदा होनेकी संभावना हो तो कौन समझ बूझकर जुआ खेलना पसन्द करेगा ? आप ही क्या समझते हैं, कह दीजिये; हम तो आपहीकी बातमें स्थित हैं ॥ १० ॥

विदुर उवाच—

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा तु मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वञ्श्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥

विदुर बोले– मैं जानता हूं चौपड अनर्थकी जड है और इसे रोकनेके विषयमें बडा प्रयत्न भी किया था, उस पर भी राजाने मुझको तुम्हारे यहां भेज दिया है; अतः, हे विद्वान् ! यह सुनकर जो कुछ उचित हो करो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले— राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंके अतिरिक्त वहां कौन कौन दूसरे कपटी खेलनेको बैठे हुए हैं ? जिनसे बाजी लगाकर हमको अपरिमित धनसे खेलना होगा, उनकी बात पूछता हूं, कहिये ॥ १२ ॥

विदुर उवाच—

गान्धारराजः शकुनिर्विशां पते राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः ।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥

विदुर बोले— हे पृथ्वीनाथ ! चौपडके बडे जानकार, मर्यादा छोडके खेलनेवाले, फेंकनेमें तेज हाथवाले गान्धारनाथ शकुनि, राजा विविंशति, चित्रसेन, सत्यव्रत, पुरुमित्र और जयं यह सब वहां उपस्थित हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

महाभयाः कितवाः संनिविष्टा मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति ।
धाता तु दिष्टस्य वशे किलेदं नादेवनं कितवैरद्य तैर्मे ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले— तब तो वहां बडे बडे कपटी धूर्त चौपड बाज उपस्थित हैं; पर मैं क्या कर सकता हूं, विधाताकी आज्ञासे दैववश यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान् है, यह कदापि स्वाधीन नहीं है ॥ १४ ॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासनान्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् ।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥

हे कवे ! पिता सदा पुत्रके लिए इष्ट हैं, इसलिये मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे नहीं जाना चाहता, ऐसा नहीं, अर्थात् अवश्य जाना चाहता हूँ। पर आप मुझको जैसा कहेंगे, अवश्य वही करूंगा ॥ १५ ॥

न चाकामः शकुनिना देविताहं न चेन्मां धृष्णुराह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥

फिर यदि शकुनि मुझे सभामें आह्वान नहीं देगा तो खेलनेकी अभिलाषा न रखनेवाला मैं भी उसके साथ नहीं खेलूंगा, पर यदि वह बुलाएगा, तो अवश्य जाऊंगा, क्योंकि मेरा सदासे यह निश्चय है, कि बुलाने पर मैं कदापि मुंह नहीं मोडता ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम्।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ॥ १७॥

वैशम्पायन बोले— धर्मराज विदुरसे ऐसा कहकर यात्राके योग्य सजने धजनेकी आज्ञा देकर दूसरे दिन स्वजन, द्रौपदी आदि नारी और सहचरोंके सहित चल दिए ॥ १७ ॥

दैवं प्रज्ञां तु मुष्णाति तेजश्चक्षुरिवापतत्।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥

कोई तेजयुक्त पदार्थ गिरकर जैसे नेत्रोंकी शक्ति हर लेता है, वैसे दैव ही मनुष्यकी बुद्धि बिगाड देता है; और मनुष्य मानो जालमें फंसकर विधाताके वशमें हो जाता है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः।
अमृष्यमाणस्तत्पार्थः समाह्वानमरिन्दमः ॥ १९ ॥

यह कहकर पृथानन्दन शत्रुनाशी युधिष्ठिर उस बुलावेका कुछ विचार न करके अन्य क्षत्रियोंके साथ चल दिए ॥ १९ ॥

बाह्लिकेन रथं दत्तमास्थाय परवीरहा।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥ २० ॥
राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः।
धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥

कालके नियमानुसार धृतराष्ट्रसे बुलाये जाकर शत्रुनाशी राजा पाण्डुकुमार बाह्लीकके द्वारा दिए गए रथ पर चढके वेश पहिनके और राजलक्ष्मीसे प्रकाशित होके ब्राह्मणोंको आगे कर भाइयोंके सहित हस्तिनापुरको चले ॥ २०--२१ ॥

स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥

हस्तिनापुर पहुंचकर वह धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके भवनमें गए और वहां जाकर धृतराष्ट्रसे मिले ॥ २२ ॥

तथा द्रोणेन भीष्मेण कर्णेन च कृपेण च।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥

तदनन्तर वे विभु युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप और अश्वत्थामासे भी यथायोग्य मिले ॥ २३ ॥

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥

तदनन्तर वह वीर्यवान् और महाबाहु युधिष्ठिर सोमदत्त, दुर्योधन, शल्य, शकुनिसे मिलकर ॥ २४ ॥

ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः ॥ २५ ॥

वे जयद्रथ, सब कुरुओं, तथा जितने राजा वहां पहिलेसे आये हुए थे उन सबसे मिले ॥२५॥

ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ २६ ॥

उसके बाद वह महाभुज युधिष्ठिर सब भाइयोंसे घिरकर धीमान् महाराज धृतराष्ट्रके गृहमें गये ॥ २६ ॥

ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ।
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत्ताराभिरिव रोहिणीम् ॥ २७ ॥

वहां तारोंसे सदा घिरी हुई रोहिणीकी भांति पुत्रवधुओंसे घिरी हुई प्रतिव्रता सती गान्धारीको देखा ॥ २७ ॥

अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ।
ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २८ ॥

गांधारीको अभिवादन करके और गांधारीसे अभिनन्दित होकर अन्तमें युधिष्ठिरने वृद्ध पिता प्रभु अन्धे धृतराष्ट्रसे भेंट की ॥ २८ ॥

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन्भीमसेनपुरोगमाः ॥ २९ ॥

हे महाराज ! राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंको आनन्द देनेवाले उनके और भीमसेन आदि दूसरे चार पाण्डवोंके सिरको सूंघा ॥ २९ ॥

ततो हर्षः समभवत्कौरवाणां विशां पते ।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्पाण्डवान्प्रियदर्शनान् ॥ ३० ॥

तब, हे राजन् ! सुन्दर दर्शनीय पुरुषव्याघ्र पांडवोंको देखकर सब कौरव प्रसन्न हुए ॥३०॥

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाण्यथ ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान्द्रौपदीप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर पाण्डवगण सबकी आज्ञासे--मण्डित गृहमें गये, वहां पहुंचने पर द्रौपदी आदि नारियोंने उनको देखा ॥ ३१ ॥

याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३२ ॥

द्रौपदीकी प्रदीप्त होती हुई उस ऋद्धिको देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुएं मलिन चित्तवाली हो गई ॥ ३२ ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥ ३३ ॥

तदन्तर उन पुरुषव्याघ्र पाण्डवोंने स्त्रियोंसे वार्तालाप कर व्यायामपूर्वक नित्य कर्म करके ॥ ३३ ॥

ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनरूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ॥ ३४ ॥

दिव्य चंदन लगाकर आन्हिक कर कल्याणकी अभिलाषासे ब्राह्मणोंसे स्वस्ति कहवा-कर ॥ ३४ ॥

मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।
उपगीयमाना नारीभिरस्वपन्कुरुनन्दनाः ॥ ३५ ॥

सुन्दर अन्नोंका भोजन करके अपने अपने निवास गृहोंमें गए और वे कुरुनन्दन पाण्डव प्रीतिसहित नारियोंके गीत सुनते हुए सो गये ॥ ३५ ॥

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ॥ ३६ ॥

रतिसे विहार करनेवाले उन पाण्डवोंकी वह रात बडे आरामसे कटी, वे सुखसे सोकर, थकावट मिटाकर, वन्दियोंसे स्तुत होते हुए सबेरे उचित समयपर नींदसे जाग उठे ॥ ३६ ॥

सुखोषितास्तां रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिसंवृताम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ १७६४ ॥

उस रात सुखसे सोकर उठे हुए वे पाण्डव प्रातःकाल आह्निक कृत्य करके जुआरियोंसे घिरे हुए उस सुहावने सभा मण्डपमें गये ॥ ३७ ॥

महाभारतके सभापर्वमें बावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ १७६४ ॥

×

: ५३ :

शकुनिरुवाच—

उपस्तीर्णा सभा राजन्नन्तुं चैते कृतक्षणाः।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ १ ॥

शकुनि बोला— हे महाराज! चौपड खेलने और तुमको देखनेके लिए आये हुए राजाओंसे सभा भर गयी है; सब तुम्हारी प्रतिक्षा कर रहे हैं, अतः, हे युधिष्ठिर! अब पांसे फेंककर खेलके नियम बना लेने चाहिये ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन्किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे राजन्! कपटसे युक्त चौपट बडा पाप कर्म है, इसमें न तो क्षत्रियोंके योग्य कोई पराक्रम ही दीख पडता और न कोई निश्चित नीति ही है, फिर आप जूएकी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? ॥ २ ॥

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य ह।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ३ ॥

जुआरियोंके इस कपटपूर्ण खेलमें कोई मान है, यह बात बुद्धिमान् बिलकुल स्वीकार नहीं करते, अतः, हे शकुने! निष्ठुरके समान हमको अनुचित रीतिसे मत जीतो! ॥ ३ ॥

शकुनिरुवाच—

योऽन्वेति संख्यां निकृतौ विधिज्ञश्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ४ ॥

शकुनि बोला— जो कपटके रहस्यको जानता है, जो जुएके नियमको जानता है, जो पांसोंके दांवपर खिन्न नहीं होता, जो जुआ खेलना जानता है, वह जुएके खेलमें होनेवाले सबको सहन करता है ॥ ४ ॥

अक्षग्लहः सोऽभिभवेत्परं नस्तेनैव कालो भवतीदमात्थ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः ॥ ५ ॥

हे पार्थ! जूएमें हार जीतकी बाजी पांसोंके अधीन है, वही हमें या तुम्हें जिता या हरा सकता है, अतः ऐसा कहा जाता है कि पांसे ही निर्णायक हैं। इसलिये, हे महाराज! तुम मत डरो, आओ हम खेलें; अधिक बिलम्बका प्रयोजन नहीं है, अब ठहरा लो क्या बाजी बदोगे? ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै संचरते सदा ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले— जो स्वर्गादि लोकोंके द्वारोंपरसे सदा घूमा करते हैं, उस असित मुनिके पुत्र मुनिश्रेष्ठ देवलने यह कहा है ॥ ६ ॥

इदं वै देवनं पापं मायया कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं साधु देवनम् ॥ ७ ॥

कि जूआरियोंका कपट करके चौपड खेलना बडा पाप है, धर्मसे युद्ध जीतनाही अच्छा खेल है, इसके बाद ही जुआ खेलना ठीक है ॥ ७ ॥

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥ ८ ॥

आर्यपुरुष अप शब्दोंसे युक्त वाणी नहीं बोलते और छल नहीं करते; कुटिलता और छलकपटके बिना लडना ही अच्छे पुरुषका काम है ॥ ८ ॥

शक्तितो ब्राह्मणान्वन्द्याञ्शिक्षितुं प्रयतामहे ।
तद्वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परम् ॥ ९ ॥

हे शकुने ! हम जिस धनको शक्त्यनुसार वन्दनीय ब्राह्मणोंको दान देते हैं, तुम मर्यादा छोडकर खेलकर उसे मत हरो और इस प्रकार शत्रुओंका पराजय मत करो ॥ ९ ॥

नाहं निकृत्या कामये सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्याप्यनिकृतेर्वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १० ॥

छलकपटसे सुख वा धन मैं नहीं पाना चाहता; ठगनेकी इच्छा न रहनेकी भी जुआरियोंकी यह रीति सराही नहीं जाती ॥ १० ॥

शकुनिरुवाच—

श्रोत्रियोऽश्रोत्रियमुत निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ ११ ॥

शकुनि बोला— हे युधिष्ठिर ! एक तत्त्वज्ञानीको दूसरा तत्त्वज्ञानी, एक विद्वानको दूसरा विद्वान् कपटसे ही पराजय करता है, पर उसे कोई कपट नहीं कहता ॥ ११ ॥

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे ।
देवनाद्विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥ १२ ॥

अतः तुम भी इस प्रकारसे मेरे पास आकर यदि इसे कपट ही समझते हो और यदि जुएमें तुमको भय लगता हो, तो तुम खेलना अस्वीकार कर दो ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
विधिश्च बलवान्राजन्दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले— मेरा यह व्रत निश्चित है कि बुलाये जानेपर मैं कभी इन्कार नहीं करता। हे राजन् ! विधाता ही बलवान् है, मैं भी दैवके वशमें स्थित हूं ॥ १३ ॥

अस्मिन्समागमे केन देवनं मे भविष्यति ।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम् ॥ १४ ॥

अब यह बताओ कि इस जनसमाजमें किससे मेरा खेल होगा और मुझसे हरबार बाजी लगा सके ऐसा कौन विद्यमान है; इसके बाद खेल प्रारंभ हो ॥ १४ ॥

दुर्योधन उवाच—

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशां पते ।
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम ॥ १५ ॥

दुर्योधन बोला— हे पृथ्वीनाथ ! मैं रत्नों और धनोंको देनेवाला बनूंगा, मेरे मामा शकुनि मेरे लिये खेलेंगे ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अन्येनान्यस्य विषमं देवनं प्रतिभाति मे ।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले— एकके लिये दूसरेका खेलना मुझको अनुचित जंचता है, हे विद्वन् ! तुम भी यह बात मानते होगे । खैर, कोई बात नहीं, तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही खेल होने दो ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले— जुआ आरंभ करनेकी बात निश्चित होजानेपर, वे सब उपस्थित राजा धृतराष्ट्रको सामने बैठाकर सभा-मण्डपमें बैठे ॥ १७ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः ।
नातिप्रीतमनसस्तेऽन्ववर्तन्त भारत ॥ १८ ॥

हे भरतनन्दन ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, और महामति विदुर अति अप्रसन्न चित्तसे उनके पीछे बैठे ॥ १८ ॥

ते द्वंद्वशः पृथक्चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे ॥ १९ ॥
शुशुभे सा सभा राजन्राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥ २० ॥

महाभाग देवोंके एकत्र होनेपर स्वर्गकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार उन सब सिंहके समान गर्दनवाले, अति तेजस्वी नरेशोंके एकत्रित होकर अनेकानेक विचित्र आसनोंपर पृथक् पृथक् और एक एकपर दो दोके बैठनेपर उस सभाकी शोभा हुई ॥ १९-२० ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्‌द्यूतमनन्तरम् ॥ २१ ॥

वे सभी राजा सूर्यके समान तेजस्वी शरीरवाले शूरवीर और वेदज्ञ थे । हे महाराज ! इस प्रकार दर्शकोंके बैठ जानेपर मित्रके समान जुआ आरंभ हुआ ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयं बहुधनो राजन्सागरावर्तसंभवः ।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान्कनकोत्तमभूषणः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले— राजन् दुर्योधन ! मैं सागरके जलसे उत्पन्न, श्रेष्ठ सुवर्णसे सुशोभित इस सुन्दर बहुमूल्य मणिमय हारकी बाजी लगाता हूं ॥ २२ ॥

एतद्राजन्धनं मह्यं प्रतिपाणस्तु कस्तव ।
भवत्वेष क्रमस्तात जयाम्येनं दुरोदरम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! यह मेरा धन है, तुम किस चीजकी बाजी लगाओगे, यह हम दोनोंका क्रम हो, हे तात ! मैं इस दांवको जीतूंगा ॥ २३ ॥

दुर्योधन उवाच—

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि विविधानि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयाम्येनं दुरोदरम् ॥ २४ ॥

दुर्योधन बोले— मेरे पास भी सब मणि हैं, और अनेक प्रकारके धन हैं, पर मुझे धनका अहङ्कार नहीं है; चाहे जो कुछ हो, मैं भी यह बाजी जीतूंगा ॥ २४ ॥

वैशंपायन उवाच—

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ १७८९ ॥

वैशम्पायन बोले-- आगे चौपडको जाननेवाले शकुनिने पांसोंको लिया और उसी क्षण युधिष्ठिरसे कहा, कि यह मैं जीत गया ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें तिरेपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ १७८९ ॥

: ५४ :

युधिष्ठिर उवाच—

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरम् ।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः सहस्रशः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले-- शकुने ! केवल कपट चौपडहीसे मैं जीत लिया गया हूँ और मुझसे बाजी छिन गई है, बहुत अच्छा, आओ, हम सहस्रोंकी बाजी लगाकर खेलेंगे ॥ १ ॥

इमे निष्कसहस्रस्य कुण्डिनो भरिताः शतम् ।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः ।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २ ॥

मेरे सहस्रों सुवर्ण मुद्राओंसे भरे हुए अनेक सन्दुक, कोष, अक्षय धन और अनेक सुवर्ण चांदीकी धातु हैं । राजन् ! मैं इस धनकी बाजी लगाता हूं, मैं इससे तुम्हारे साथ खेलूंगा ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले-- युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर शकुनिने यह लो मैं फिर जीत गया ॥३॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रवर्तितः ।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान्किङ्किणीजालमण्डितः ॥ ४ ॥
संह्रादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत् ।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः ॥ ५ ॥

महाराज युधिष्ठिर बोले— बादल और समुद्रके समान आवाजवाला, सुन्दर चक्र और उपकरणसे युक्त, घुघुरुओंके जालसे शोभित और हृदयको आनन्द देनेवाला बाघके चमडेसे मढा हुआ, विजयशील, रथोंमें श्रेष्ठ जो रथ हमें यहां लाया है ॥ ४--५ ॥

अष्टौ यं कुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसंमताः।
वहन्ति नैषामुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन्।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ६ ॥

कुररपक्षीके समान वर्णवाले, राष्ट्रमें संमत आठ उत्तम, पांवोंसे भूमिको छूनेवाला कोई भी प्राणी जिनसे तेज नहीं दौड सकता ऐसे घोडे जिसे खींचते हैं, वह रथ मेरे दांवका धन है। राजन्! उसीसे मैं तुम्हारे साथ खेल रहा हूं॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसे फेंककर युधिष्ठिरसे बोला— लो, मैं फिर जीत गया॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सुबलकुमार शकुने! एक हजार मतवाले हाथी जरीका झूल पहने, अलंकार पहने हुए, गले और गण्डस्थल आदि जगहों पर कमलके चिन्हवाले, गलेमें सोनेकी माला पहने हुए॥ ८ ॥

सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ ९ ॥

अच्छी तरह सिखाये गए, राजाओंके बैठने योग्य, युद्धमें सब प्रकारके शब्द सहनेवाले, हलकी लकडीके समान लम्बे दंतवाले, बडे भारी शरीरधारी तथा आठ आठ हथिनियोंसे युक्त मेरे पास हाथी हैं॥ ९ ॥

सर्वे च पुरभेत्तारो नगमेघनिभा गजाः।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

वे सभी हाथी शत्रुओंके नगरोंको तोडनेवाले और पहाडों तथा बादलोंके समान बडे शरीर- वाले हैं। हे राजन्! अबकी मैं उसी धनकी बाजी लगाता हूं। उसीसे मैं तुमसे खेलता हूं॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—

तमेवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले— ऐसा कहनेवाले उन पार्थ युधिष्ठिरसे सुबलकुमार शकुनि हंसकर बोला, कि लो फिर मैं जीता ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो मे प्रभद्रिकाः।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठयः स्वलंकृताः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले— एक लाख दासियां, तरुणियां, सोनेके मंगल आभूषण पहननेवाली, बाजूबन्द पहनी हुई, सोनेकी मालाओंको गलेमें पहनी हुई, अच्छी तरह सजी हुई ॥ १२ ॥

महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यः सर्वा वै सूक्ष्मवाससः ॥ १३ ॥

बहुत मूल्यवान् मालाओं और जेवरोंसे युक्त, उत्तम वस्त्र पहनी हुई, चन्दनसे शरीरको सुगंधित किए हुई, मणियों और सोनेको धारण करनेवाली, सभी सूक्ष्म अर्थात् पतले कपडे पहने हुई हैं ॥ १३ ॥

अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात्।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १४ ॥

नृत्य और गायनमें कुशल ये दासियां मेरी आज्ञासे स्नातक और मंत्रियोंकी सेवा किया करती हैं। हे राजन्! यह मेरा धन है, मैं इसी धनसे तुम्हारे साथ खेलूंगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर निश्चय करके कपटका सहारा लिए हुए शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा कि लो, मैं फिर जीत गया ॥ १५ ॥

एतावन्त्येव दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले— इतने ही हजार दास मेरे पास हैं, वे सरल हृदयके, अनुकूल व्यवहार करनेवाले, हमेशा उत्तम वस्त्र पहननेवाले ॥ १६ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दक्षा युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयन्त्युत ॥
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥

चतुर, बुद्धिमान्, संयमी, तरुण, उत्तम कुण्डलोंको पहननेवाले वे दास हाथोंमें अन्नके बर्तन लेकर दिन रात अतिथियोंको भोजन खिलाया करते हैं । हे राजन् ! यह मेरा धन है, मैं इससे तुम्हारे साथ खेलूंगा ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर कपटका आश्रय करनेवाले शकुनिने (पांसे फेंकनेका) व्यवसाय करते हुए युधिष्ठिरसे कहा कि लो, मैं फिर जीत गया ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

रथास्तावन्त एवेमे हेमभाण्डाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः संपन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले— मेरे जितने हाथी हैं, रथ भी उतने ही हैं, वे सब सुवर्णके कलशसे युक्त झण्डोंसे सुहावने, सुशिक्षित घोडोंसे युक्त और अनेक तरहसे युद्ध करनेवाले रथियोंसे सुशोभित हैं ॥ १९ ॥

एकैको यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् ।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥

उन सब रथियोंमेंसे हरएकको चाहे युद्ध करना पडे या नहीं, हजार मुद्रायें मासिक वेतनके रूपमें मिलती हैं; हे राजन् ! यह मेरा धन है, उससे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येवमुक्ते पार्थेन कृतवैरो दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले— युधिष्ठिरके इतनी बात कहने पर शत्रुता करनेवाले उस दुरात्मा शकुनि-ने युधिष्ठिरसे कहा, कि यह मैं जीता ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान्गान्धर्वान्हेममालिनः।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान्गाण्डीवधन्वने।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले– चित्ररथने धनञ्जयको प्रसन्न होकर, जो गन्धर्वसम्बन्धी सुवर्णसे सुशोभित तित्तिरि, कल्माश घोडे दिये थे, अबकी बार मेरा धन वे घोडे ही हैं, हे राजन्! उनसे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २३ ॥

वैशम्पायन बोले-- यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसा फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, लो, यह मैं जीत गया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

रथानां शकटानां च हयानां चायुतानि मे।
युक्तानामेव तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैर्वृताः ॥ २४ ॥
एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः।
क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले-- मेरे दस हजार रथ और गाडी और घोडे हैं; वे हमेशा तैय्यार रहते हैं, उनमें सदा अनेक प्रकारके छोटे--बडे वाहन जुते रहते हैं और प्रत्येक वर्णसे इकट्ठे लिए गए हजारों वीर पुरुष मेरे पास हैं। वे सब दूध पीते हुए और चावलोंको खाते हुए एक जगह रहते हैं ॥ २४-२५ ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे पृथुलवक्षसः।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २६ ॥

ऐसे भरे हुए सीनेवाले साठ हजार वीर मेरे पास विद्यमान् हैं। हे राजन्! इसबार ये मेरे धन हैं, मैं उससे तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले-- यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसे गिराकर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मैं जीत गया ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले– एक एक बर्तनमें पांच पांच द्रोण वजनका सोना है और वे बर्तन लोहे और ताम्बेके तारोंसे कसे हुए हैं, ऐसे अनेकों बर्तनोंसे भरपूर चारसौ खजाने मेरे पास हैं। हे राजन्! इसबार मेरा वही धन है। मैं उससे तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ १८१८ ॥

वैशम्पायन बोले– यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसे फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि यह मैं जीत गया ॥ २९ ॥

महाभारतके सभापर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ १८१८ ॥

: ५५ :

विदुर उवाच—

महाराज विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुर बोले– महाराज! मृत्युके पास पहुंचे हुए मनुष्यको जैसे औषध पीनेकी इच्छा नहीं होती, वैसे ही आपको मेरी बात सुननेकी इच्छा नहीं हो सकती, उस पर भी मैं जो कुछ कहता हूं उसपर विशेष ध्यान दीजिये ॥ १ ॥

यद्वै पुरा जातमात्रो रुराव गोमायुवद्विस्वरं पापचेताः ।
दुर्योधनो भारतानां कुलघ्नः सोऽयं युक्तो भविता कालहेतुः ॥ २ ॥

भरतकुलका नाश करनेवाले दुर्योधनने जब जन्म लेते ही गीदडके समान विकट स्वरसे शब्द किया था, तब इसमें सन्देह नहीं है, कि वह भरतवंशियोंके नाशका कारण बनेगा ॥२॥

१ द्रोण – तोलेका ३२ सेर।

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मत्वा न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥ ३ ॥

दुर्योधनरूपी गीदड गृहमें वास कर रहा है, यह जानकर भी आप सचेत नहीं होते। शुक्राचार्यके नीतियुक्त वचन मुझसे सुनिये ॥ ३ ॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नावबुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं वाधिगच्छति ॥ ४ ॥

शहदको निकालनेवाला मनुष्य शहदके छत्तोंको देखकर उसके नीचेकी घाटी पर ध्यान नहीं देता, मधुके लोभसे पर्वतके उस ऊंचे भागपर चढकर या तो वह शहदमें ही डूब जाता है अर्थात् भरपूर शहद प्राप्त करता है, नहीं तो उस घाटीमें ही गिरकर मर जाता है ॥४॥

सोऽयं मत्तोऽक्षदेवेन मधुवन्न परीक्षते ।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥ ५ ॥

यह दुर्योधन भी शहदके समान चौपडमें उन्मत्त होकर भले बुरेका विचार नहीं करता; यह समझ नहीं सकता है, कि महारथियोंके साथ शत्रुता करके यह अपने आगे स्थित गड्ढेको नहीं देख पा रहा है ॥ ५ ॥

विदितं ते महाराज राजस्वेवासमञ्जसम् ।
अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ॥ ६ ॥

महाराज ! आप जानते ही होंगे, कि पहले राजाओंमें अत्यन्त दुष्ट कंसको अन्धक, यादव और भोजोंने मिलकर त्याग दिया था ॥ ६ ॥

नियोगाच्च हते तस्मिन्कृष्णेनामित्रघातिना ।
एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः ॥ ७ ॥

उनकी आज्ञासे जब शत्रु-विनाशी श्रीकृष्णने उसका नाश किया था, तब जाकर ये सब ज्ञातिगण आनन्दित होकर सैंकडों वर्षतक वृद्धिको प्राप्त कर रहे हैं ॥ ७ ॥

त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ।
निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ॥ ८ ॥

उसी प्रकार आपकी आज्ञासे अर्जुन सुयोधनको कैद करें; इस पापात्माके कैद हो जानेके बाद कौरवगण सुखसे आनन्दका अनुभव करें ॥ ८ ॥

काकेनेमांश्चित्रबर्हाञ्शार्दूलान्क्रोष्टुकेन च ।
क्रीणीष्व पाण्डवान्राजन्मा मज्जीः शोकसागरे ॥ ९ ॥

हे महाराज ! दुर्योधनरूपी एक कौएके बदले इन पाण्डवरूपी मयूरोंको प्राप्त कीजिये । सियारके बदले शार्दूलोंको मोल लीजिये और विना कारण शोक-समुद्रमें मत डूबिये ॥ ९ ॥

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १० ॥
सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ॥ ११ ॥

सब जीवोंके अभिप्रायोंके जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्व शत्रुओंको भय दिखानेवाले शुक्राचार्यने जंभासुरको त्यागनेके लिये महासुरोंसे यह वचन कहा था कि "वंशकी रक्षाके लिये एक पुरुषको त्याग देना चाहिये, ग्रामकी रक्षाके लिये वंशको त्याग देना चाहिये, जनपदके लिये ग्राम और अपने लिये पृथ्वी तकको त्याग देना चाहिये।" ॥ १०-११ ॥

हिरण्यष्ठीविनः कश्चित्पक्षिणो वनगोचरान्।
गृहे किल कृतावासाँल्लोभाद्राजन्नपीडयत् ॥ १२ ॥

हे शत्रुनाशी! किसी राजाने वनमें उडनेवाले, घरमें घोंसला बनाये हुए सुवर्ण उगलनेवाले कई एक पक्षियोंको लोभसे मारा था ॥ १२ ॥

सदोपभोज्याँल्लोभान्धो हिरण्यार्थे परन्तप।
आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत् ॥ १३ ॥

हे शत्रुनाशी राजन्! भोग और लोभवश अन्धा बनकर उसने सुवर्णकी आशासे वर्तमान और भविष्यत् दोनों कालोंके मंगलको एक ही दम नष्ट कर डाला था ॥ १३ ॥

तदात्वकामः पाण्डूंस्त्वं मा द्रुहो भरतर्षभ।
मोहात्मा तप्यसे पश्चात्पक्षिहा पुरुषो यथा ॥ १४ ॥

अत एव, हे कुरुश्रेष्ठ! आप मोहवश और धनकी कामनासे पाण्डवोंके साथ द्रोह न कीजिये। यदि करेंगे, तो उस पक्षीनाशी पुरुषके समान पीछे पश्चात्ताप करेंगे ॥ १४ ॥

जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत।
मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन्पुनः पुनः ॥ १५ ॥

हे भारत! माली जैसे फुलवाडीमें वृक्षोंपर स्नेह दिखाकर बार बार फूल तोडता है वैसे ही आप पाण्डवोंपर प्रेम दिखाकर उनसे धीरे धीरे धन प्राप्त कीजिए ॥ १५ ॥

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान्धाक्षीः समूलकान्।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च पराभवम् ॥ १६ ॥

कोयला तैय्यार करनेवाला मनुष्य जिस प्रकार वृक्षोंको जडसे जला देता है, उसी प्रकार आप इन पाण्डवोंको जडसे ही मत जलाइए और अपने पुत्र, अमात्य और सेनाओंके साथ पराभवको प्राप्त मत होइए ॥ १६ ॥

समवेतान्हि कः पार्थान्प्रतियुध्येत भारत ।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ १८३५ ॥

हे भरतवंशमें उत्पन्न राजन् ! एकत्रित पृथा-पुत्रोंके साथ ऐसा कौन है, जो लड सकता है ? मरुतोंकी सहायताको पाकर साक्षात् इन्द्र भी इन पाण्डवोंके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

महाभारतके सभापर्वमें पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ १८३५ ॥

॥ ५६ ॥

विदुर उवाच—
द्यूतं मूलं कलहस्यानुपाति मिथोभेदाय महते वा रणाय ।
यदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् । ॥ १ ॥

विदुर बोले– जूआ झगडेकी जड है, उससे आपसमें शत्रुता पैदा होती है, और यह बडे भारी युद्धका कारण है । धृतराष्ट्रका यह पुत्र दुर्योधन जुआ खेलनेमें प्रवृत्त होकर उग्र शत्रुता उत्पन्न कर रहा है ॥ १ ॥

प्रातिपीयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः ।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

बडी भारी सेना रखनेवाले प्रतीप वंशी शान्तनुके पुत्रगण तथा बाह्लिक आदि राजसमूह सब दुर्योधनके अपराधसे चारों ओरसे संकटकी दशामें पड जाएंगे ॥ २ ॥

दुर्योधनो मदेनैव क्षेमं राष्ट्रादपोहति ।
विषाणं गौरिव मदात्स्वयमारुजते बलात् ॥ ३ ॥

जैसे मदमाता हुआ बैल स्वयं अपना सिंग तोड डालता है वैसे ही इस दुर्योधनके पागलपनके कारण इस राज्यसे मङ्गल दूर होता जा रहा है ॥ ३ ॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्वीरः कविः स्वामतिपत्य दृष्टिम् ।
नावं समुद्र इव बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥

हे महाराज ! जैसे अनाडीमल्लाहके द्वारा चलाये जानेवाली नाव पर चढकर मनुष्य बीच समुद्रमें भारी विपत्तिमें पड जाता है उसी प्रकार जो पुरुष स्वयं वीर और ज्ञानी होकर भी अपनी बुद्धिका अपमान करके दूसरेकी इच्छाके अनुसार कार्य करता है, उसकी भी वैसी ही दशा हो जाती है अर्थात् वह भी घोर आपत्तिमें पड जाता है ॥ ४ ॥

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च ।
अतिनर्माज्जायते संप्रहारो यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥
दुर्योधन युधिष्ठिरसे बाजी लगाकर खेल रहा है और वह जयको प्राप्त कर रहा है, इससे आप बड़े प्रसन्न हो रहे हैं; पर बहुत विनोदसे भी आपसमें युद्ध छिड़ जाता है और उस युद्धसे मनुष्योंका विनाश हो जाता है ॥ ५ ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः कुप्रणीतो हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण सफलः संस्तवोऽस्तु साम्नः सुरिक्तोऽरिमतेः सुधन्वा ॥ ६ ॥
शकुनिके द्वारा बुरे रूपमें प्रारम्भ किया हुआ यह कार्य निकृष्ट फलको देनेवाला होगा। पर तुम अपने हृदयमें इसे ज्ञानसे युक्त विचार और समाधानका कार्य समझ रहे हो। पर मेरी इच्छा है कि युधिष्ठिरके साथ तुम्हारी मैत्री हो, सब शान्ति रहे और उत्तम धनुर्धारी युधिष्ठिर भी सुखसे रहें ॥ ६ ॥

प्रातिपीयाः शान्तनवाश्च राजन्काव्यां वाचं शृणुत मात्यगाद्वः ।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरमयुद्धेन प्रशमयतोत्पतन्तम् ॥ ७ ॥
हे राजन् और प्रतीप-वंशी शान्तनुकुमारो ! तुम कौरवोंकी सभामें पण्डितोंके योग्य इन वचनोंको श्रवण करो; तुम मेरे इन वचनोंका अनादर मत करो। तुम भयंकर रूपसे प्रज्वलित तथा ऊंची ऊंची लपटें लेनेवाली द्वेषरूपी अग्निको अयुद्ध अर्थात् मित्रतासे शान्त कर दो ॥ ७ ॥

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रुर्न संयच्छेदक्षमयाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च कोऽत्र द्वीपः स्यात्तुमुले वस्तदानीम् ॥ ८ ॥
अजातशत्रु युधिष्ठिर यदि चौपड़के नशेमें डूबके क्रोधको न रोक सकेंगे तथा जब वृकोदर भीम, अर्जुन और नकुल तथा सहदेव क्रोधित होंगे, तब उस घोर लड़ाई रूपी समुद्रमें तुममेंसे कौन द्वीप अर्थात् आश्रयका स्थान बनेगा ? ॥ ८ ॥

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः ।
बहु वित्तं पाण्डवांश्चेज्जयेस्त्वं किं तेन स्याद्वसु विन्देह पार्थान् ॥ ९ ॥
हे महाराज ! आप अपने हृदयमें जितने धनकी इच्छा करते हैं, उतने धनके स्वामी तो आप इस जुएको जीतनेके पहलेसे ही हैं, फिर पाण्डवोंसे यदि बहुत धन जीत भी लेगें तो उससे आपको क्या लाभ होगा ? आप तुच्छ धनके अभिलाषी न होकर पाण्डवोंको ही अनमोल धनके समान प्राप्त कीजिये ॥ ९ ॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु मायायोधी भारत पार्वतीयः। ॥ १० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ १८४५ ॥

सुबल पुत्र शकुनिकी खेलनेमें चतुरता हम जानते हैं; यह पर्वतका राजा भी चौपडमें ठगना जानता है, हे भारत ! शकुनि जहांसे आया है, वहीं चला जावे और यह पर्वतका राजा भी अपने घर लौट जाए, आप पाण्डवोंसे लढाई न कीजिये ॥ १० ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ १८४५ ॥

: ५७ :

दुर्योधन उवाच—

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा छन्नः कुत्सयन्धार्तराष्ट्रान्।
जानीमस्त्वां विदुर यत्प्रियस्त्वं बालानिवास्मानवमन्यसे त्वम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोले— हे विदुर ! तुम गुप्तरूपमें रहकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निंदा करते हुए सदा शत्रुओंके यशका गुणगान करते रहते रहते हो। हे विदुर ! हम जानते हैं किसको तुम प्रिय समझते हो, तुम सदा हमको मूर्ख समझ कर हमारा अपमान किया करते हो ॥ १ ॥

सुविज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति।
जिह्वा मनस्ते हृदयं निर्व्यनक्ति ज्यायो निराह मनसः प्रातिकूल्यम् ॥ २ ॥

मनुष्य निन्दा और स्तुतिकी जो योजना करता है, उससे स्पष्ट पता लग जाता है कि उसके मनका झुकाव दूसरेकी तरफ है। जिह्वा और चित्तहीसे तुम्हारे हृदयका आशय प्रगट हो रहा है, तुम हमें कभी बडा नहीं समझते, उस तुम्हारे मनकी हमारी तरफसे प्रतिकूलता स्पष्ट ही हो रही है ॥ २ ॥

उत्सङ्गेन व्याल इवाहृतोऽसि मार्जारवत्पोषकं चोपहंसि।
भर्तृघ्नत्वान्न हि पापीय आहुस्तस्मात्क्षत्तः किं न बिभेषि पापात् ॥ ३ ॥

हे विदुर ! गोदमें लिए हुए सांपके समान ही तुम हमारे शत्रु हो, तुम बिल्लीकी तरह पालनेवालेकी हिंसा करते हो। पण्डित लोग कहते हैं, कि पालनेवालेको मारनेके पापकी अपेक्षा अधिक और कोई पाप नहीं है; उस घोर पापसे तुम क्यों नहीं डरते ? ॥ ३ ॥

जित्वा शत्रून्फलमाप्तं महन्नो मास्मान्क्षत्तः परुषाणीह वोचः ।
द्विषद्भिस्त्वं संप्रयोगाभिनन्दी मुहुर्द्वेषं यासि नः संप्रमोहात् ॥ ४ ॥

हे क्षत्त ! हम शत्रुओंको जीतकर बड़ा भारी फल पाचुके हैं, यहां बैठकर तुम हमसे कठोर वचन मत कहो; शत्रुओंसे मित्रता करते हुए तुम बहुत आनन्दित होते हो, उस मोहके कारण ही तुम हमारे द्वेषके पात्र बनते जा रहे हो ॥ ४ ॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे ।
तदाश्रितापत्रपा किं न बाधते यदिच्छसि त्वं तदिहाद्य भाषसे ॥ ५ ॥

मनुस्य अनुचित वचन कहके लोगोंका शत्रु बन जाता है और शत्रुकी प्रशंसा करते हुए गुप्त विषयको गुप्त रखता है । निर्लज्ज मनुष्य अपने स्वामीके आश्रयमें रहते हुए भी उसके किस काममें बाधा नहीं डालता, अर्थात् सभी काममें बाधा डालता है, तुम्हारा मन जो चाहता है, तुम यहां वही कहते हो ॥ ५ ॥

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात् ।
यशो रक्षस्व विदुर संप्रणीतं मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥ ६ ॥

हे विदुर ! तुम हमारा अनादर मत करो, तुम्हारा मन हम जान चुके हैं, तुम वृद्धोंसे ज्ञान सीखो, लोकोंमें जो यश प्राप्त कर चुके हो उसकी रक्षा करो और दूसरोंके कार्यमें टांग अडाना छोड दो ॥ ६ ॥

अहं कर्तेति विदुर मावमंस्था मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः ।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून्क्षिणु त्वम् ॥७॥

हे विदुर ! यह समझकर कि मैं कर्ता हूं, तुम हमारा अपमान मत करो और हमसे रोज कठोर वचन भी मत कहो । मेरा हित किसमें है, इस बातकी सलाह तुमसे लेने मैं नहीं जाता, अतः, हे क्षत्त ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम हम जैसे सहनशील पुरुषोंको अब क्षीण मत करो ॥ ७ ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥

एक ही पुरुष उस सब जगत्का शासन करता है, दूसरा शासन करनेवाला नहीं है; वह शासन करनेवाला गर्भमें लेटे हुए बच्चेका भी शासन करता है, मैं उसीका शासन मानता हूं । जल जैसे नीचेकी ओर जाता है, वैसे ही वह मुझे जैसे नियुक्त करता है, मैं वैसे ही कार्य मैं करता हूं ॥ ८ ॥

+

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः ।
स एव तस्य कुरुते कार्याणामनुशासनम् ॥ ९ ॥

जो पुरुष सिरसे पहाड फोडता है और सर्पको भोजन देता है, इन कार्योंमें भी वही एक शासन करनेवाला तत्त्व मनुष्यको प्रेरित करता है (उसी प्रकार जुआ हानिकारी होने पर भी उसी एक तत्त्वने मुझे उसमें प्रवृत्त किया है) ॥ ९ ॥

यो बलादनुशास्ती सोऽमित्रं तेन विन्दति ।
मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥ १० ॥

पर जो पुरुष जबर्दस्ती दूसरोंको उपदेश देना चाहता है, वह शत्रुओंको ही प्राप्त करता है और जो मित्रताका व्यवहार करते हैं, उससे भी पण्डित उपेक्षाका ही व्यवहार करे अर्थात् उन्हें भी पंडित उपदेश न दे ॥ १० ॥

प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक्त्वरन्नाभिधावति ।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत ॥ ११ ॥

हे भरतवंशी विदुर ! जो मनुष्य तेजीसे जलनेवाले पदार्थ कपूरको जलाकर शीघ्र ही उसे बुझाने नहीं दौडता, वह कहीं उसका भस्म भी बचा हुआ नहीं देख सकता ॥ ११ ॥

न वासयेत्पारवर्ग्यं द्विषन्तं विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम् ।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ सुसान्त्विताऽपि ह्यसती स्त्री जहाति ॥१२॥

हे क्षत्त ! शत्रुओंके समूहमें उत्पन्न हुए, डाह करनेवाले और विशेष कर अहित चाहनेवाले मनुष्यको कदापि अपने गृहमें स्थान नहीं देना चाहिये । इसलिये, हे विदुर ! जहां तुम्हारा मन चाहे, तुम वहीं चले जाओ; असती नारी भली रीतिसे समझाई जानेपर भी पतिको छोड ही देती है ॥ १२ ॥

विदुर उवाच—

एतावता ये पुरुषं त्यजन्ति तेषां सख्यमन्तवद्‌ब्रूहि राजन् ।
राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ॥ १३ ॥

विदुर बोले— हे महाराज ! तात्पर्य यह है कि जो अपने निकटतम मनुष्यका भी त्याग कर देते हैं, उनकी मित्रता नाशवान् होती है, (यह सही है या गलत) हे राजन् ! आप ही बतायें । वास्तवमें राजाओंका चित्त बहुत चञ्चल होता है, वह पहिले एक पुरुषसे मित्रता दिखाकर फिर उसे मूसलोंसे मार डालते हैं ॥ १३ ॥

अबालस्त्वं मन्यसे राजपुत्र बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १४ ॥
अरे मन्दबुद्धि राजपुत्र ! तुम अपनेको पण्डित और मुझको मूर्ख समझते हो, पर जो किसी मनुष्यसे पहिले मित्रके समान व्यवहार करके बादमें उसपर दोष लगाता है उसीको लोग मूर्ख कहते हैं ॥ १४ ॥

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥
वास्तवमें श्रोत्रिय ज्ञानीके गृहमें रहती हुई बुरे चरित्रवाली स्त्री कल्याण करनेवाली नहीं होती, उसी प्रकार दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य दूसरे मनुष्यको कभी भी हितके मार्गसे नहीं ले जाता । हे भरतश्रेष्ठ ! साठ वर्षके पतिमें जैसे कुमारीका मन नहीं रमता, वैसे ही कल्याणकारक उपदेश इस भरतश्रेष्ठ दुर्योधनको अच्छे नहीं लगते ॥ १५ ॥

अनुप्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव मूढान् ॥ १६ ॥
हे राजन् ! अबसे यदि आप हितकारक तथा अहितकारक सब कार्योंमें मीठी बोली ही सुनना चाहते हैं, तो स्त्री, मूर्ख और लूले लंगडे आदि उसी तरहके मूर्ख मनुष्योंसे ही आप सलाह लिया कीजिए ॥ १६ ॥

लभ्यः खलु प्रातिपीय नरोऽनुप्रियवागिह ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७ ॥
हे प्रतीप वंशमें उत्पन्न हुए राजन् ! इस संसारमें प्रिय बोलनेवाले मनुष्य सहजहीमें मिल जाते हैं, पर कठोर परन्तु हितकारी वाणीको कहनेवाले तथा सुननेवाले दोनों ही बहुत कम मिलते हैं ॥ १७ ॥

यस्तु धर्मे पराश्वस्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १८ ॥
जो मनुष्य स्वामीके प्रिय तथा अप्रिय पर ध्यान न देकर धर्मानुसार कार्य करता है और अप्रिय होने पर भी हितकारी वाणी बोलता है, उसी मनुष्यसे राजाकी सहायता होती है ॥१८॥

अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ १९ ॥
महाराज ! व्याधिसे उत्पन्न न होनेवाले, कडवे वचनसे उत्पन्न होनेवाले, तीक्ष्ण, उष्ण, यशके नाशक, कठोर और दुर्गंध उत्पन्न करनेवाले, सज्जनोंके द्वारा ही पिये जाने योग्य तथा दुर्जनोंके द्वारा न पिए जाने योग्य इस क्रोधको पी जाओ और शान्त हो जाओ ॥ १९ ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा वोऽस्तु नमश्च वोऽस्तु ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ॥ २० ॥

मैं पुत्रोंसहित सदा धृतराष्ट्रके यश और धनके वृद्धिकी ही कामना करता हूं, अब तुम्हारा जो होना है, वही होवे; तुम सबको मैं यह प्रणाम करता हूं; ज्ञानी लोग भी मुझे कल्याणका मार्ग दिखायें ॥ २० ॥

आशीविषान्नेत्रविषान्कोपयेन्न तु पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ १८६६ ॥

हे कुरुनन्दन ! ज्ञानी पुरुष दांतोंमें विष भरे हुए तथा आंखोंमें विष भरे हुए सांपको कभी क्रोधित न करे । मैं यत्नपूर्वक तुमसे केवल इसी उपदेश-वचनको कहता हूँ ॥ २१ ॥

महाभारतके सभापर्वमें सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ १८६६ ॥

: ५८ :

शकुनिरुवाच—

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ १ ॥

शकुनि बोले– हे कुन्तिपुत्र युधिष्ठिर ! तुम पाण्डवोंका बहुत धन हार चुके हो, अब यदि कोई धन हारनेसे बाकी हो, तो उसे बताओ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथ त्वं शकुने कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सुबलकुमार शकुने ! मैं जानता हूं मेरे पास अपरिमित धन है, फिर तुम क्यों धनकी बात पूछ रहे हो ?

अयुतं प्रयुतं चैव खर्वं पद्मं तथार्बुदम् ।
शंखं चैव निखर्वं च समुद्रं चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३ ॥

तुम दस हजार, लाख, करोड, अर्बुद, निखर्व, शंख और धनका समुद्र है, उसे बाजीपर लगाकर खेलो । हे महाराज ! यह मेरा धन है, उससे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसा फेंककर युधिष्ठिरसे बोले, कि लो, यह मैं जीत गया ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत्किंचिदनुवर्णानां प्राक्सिन्धोरपि सौबल ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सुबलकुमार शकुने ! वर्णासे लेकर सिन्धुनदीके पूर्वतक मेरे अनेक गौ, घोडे, बैल और अगणित बकरे, मेड आदि जो कुछ धन हैं, वही मेरा धन है, उसीसे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ ५ ॥

वैशंपायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसा फेंककर युधिष्ठिरसे बोले, कि लो यह मैं फिर जीत गया ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्शिष्टं धनं मम ।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाराज ! पुर, जनपद, भूमि, ब्राह्मणोंके सिवाय औरोंका धन और ब्राह्मणोंको छोडकर अन्य सब पुरुष मेरे शेष धन हैं, यह मेरा धन है; उसीसे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसा फेंककर युधिष्ठिरसे बोले, कि लो यह मैं फिर जीत गया ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

राजपुत्रा इमे राजञ्शोभन्ते येन भूषिताः ।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं चाङ्गविभूषणम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले-- हे महाराज ! यह सब राजकुमार जिनसे अलंकृत होकर शोभा पाते हैं, वे कुण्डल, निष्क आदि आभूषण मेरे हैं । अबकी बार मेरा यह धन है, इस धनसे मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले-- यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसा फेंककर युधिष्ठिरसे बोले, कि लो यह मैं जीत गया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच—

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
नकुलो ग्लह एको मे यच्चैतत्स्वगतं धनम् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले-- श्याम देहयुक्त, लाल नेत्र, सिंहके समान गर्दनवाले महाभुज युवापुरुष अकेले नकुल पर और उसका जो अपना धन है, उसपर मैं इस बार बाजी लगाता हूं ॥ ११ ॥

शकुनि उवाच—

प्रियस्ते नकुलो राजन्राजपुत्रो युधिष्ठिर ।
अस्माकं धनतां प्राप्तो भूयस्त्वं केन दीव्यसि ॥ १२ ॥

शकुनि बोले-- महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रिय राजकुमार नकुल हमारे धन हो गये, अब फिर तुम किस वस्तुकी बाजी लगाकर खेलोगे ? ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा तु शकुनिस्तानक्षान्प्रत्यपद्यत ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १३ ॥

वैशम्पायन बोले-- यह सुनकर शकुनिने उन पांसोंको हाथमें ले लिया और वह युधिष्ठिरसे बोले, कि लो, यह मैं फिर जीत गया ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयं धर्मान्सहदेवोऽनुशास्ति लोके ह्यस्मिन्पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन त्वया दीव्याम्यप्रियवत्प्रियेण ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले— यह सहदेव धर्मपूर्वक शासन करते हैं, और इस लोकमें पण्डित नामसे प्रसिद्ध भी हैं, मेरे बडे प्रियपात्र होनेपर भी अप्रियके समान, बाजी रखनेके अयोग्य, उसी राजपुत्रकी बाजी लगाकर मैं खेलता हूं ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसे फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि लो यह मैं जीत गया ॥ १५ ॥

शकुनि उवाच—

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनञ्जयौ ॥ १६ ॥

शकुनि बोले— महाराज! तुम्हारे प्रिय इन माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको मैंने जीत लिया; जान पडता है, कि भीमसेन और अर्जुन इनसे भी अधिक प्रिय हैं ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर बोले— रे मूर्ख! नीतिकी ओर दृष्टि न देकर, प्रेमसे बंधे हुए हम भाइयोंमें शत्रुता पैदा करनेकी चेष्टा कर रहा है, यह तू बडे अधर्मकी बात कर रहा है ॥ १७ ॥

शकुनि उवाच—

गर्ते मत्तः प्रपतति प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन्वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ १८ ॥

शकुनि बोला— हे महाराज! उन्मत्त होनेसे मनुष्य गड्ढेमें गिर जाता है और ज्यादा उन्मत्त मनुष्य खम्भेसे जा टकराता है। हे भरतश्रेष्ठ! तुम मुझसे बडे और गुणवान् हो, अतः मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं ॥ १८ ॥

स्वप्ने न तानि पश्यन्ति जाग्रतो वा युधिष्ठिर ।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! जुआरी लोग खेलते समय उन्मत्तके समान जो सब पागलपनकी बातोंको कह देते हैं, उन्हें जाग्रतावस्थामें तो देखते ही नहीं और स्वप्नावस्थामें भी नहीं देखते ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी ।
अनर्हता लोकवीरेण तेन दीव्याम्यहं शकुने फल्गुनेन ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले— हे शकुने ! शत्रुओंको जीतनेवाला बलशाली जो राजपुत्र नौकाके समान बनकर हमको युद्ध–सागरके पार पहुंचानेवाला है, बाजीपर लगानेके अयोग्य होने पर भी लोकोंमें उन महावीर अर्जुनको बाजीपर रखकर मैं खेलता हूं ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसे फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि लो यह मैं जीत गया ॥ २१ ॥

शकुनि उवाच—

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः पराजितः पाण्डवः सव्यसाची ।
भीमेन राजन्दयितेन दीव्य यत्कैतव्यं पाण्डव तेऽवशिष्टम् ॥ २२ ॥

शकुनि बोला— महाराज युधिष्ठिर ! पाण्डवोंमें प्रधान धनुर्धारी इस पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुनको तो मैं जीत चुका । अब तुम्हारी बाजीके योग्य जो शेष बचा है, तुम्हारे प्यारे उस भीमसेनको बाजीपर लगाकर खेलो ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यो नो नेता यो युधां नः प्रणेता यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूर्महात्मा सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर बोला— हे महाराज ! दानवोंके शत्रु इन्द्रके समान जो अकेले हमारे पथ दिखानेवाला तथा युद्धमें सबसे आगे चलनेवाला है, जो वक्रदर्शी, घनी भौंहवाला, महात्मा, सिंहके समान कंधोंवाला और जो सदा अमर्षसे युक्त है ॥ २३ ॥

बलेन तुल्यो यस्य पुमान्न विद्यते गदाभृतामग्र्य इहारिमर्दनः ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥ २४ ॥

बाहुबलमें जिसके समान कोई दूसरा पुरुष विद्यमान नहीं है, जो शत्रुनाशी इस भूमण्डलके गदाधारियोंमेंसे सबसे श्रेष्ठ है, बाजीपर लगानेके अयोग्य होनेपर भी उस राजकुमार भीमसेनको बाजीपर लगाकर मैं खेलता हूं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर शकुनि छलपूर्वक पांसे फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि लो यह मैं फिर जीत गया ॥ २५ ॥

शकुनिरुवाच—

बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातृंश्च सहयद्विपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ २६ ॥

शकुनि बोले— हे कुन्तीपुत्र ! तुम बहुत धन, घोडे, हाथी यहांतक कि भाइयोंतकको भी हार चुके; अब यदि तुम्हारा कोई धन जीतनेके लिए शेष हो, तो बताओ ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातृणां दयितस्तथा ।
कुर्यामस्ते जिताः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लवे ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले— मैं सब भाइयोंसे बडा और उनका प्रिय हूं, अब स्वयं पराजित होनेपर जो कार्य करना होता है, हम उसी कार्यके करनेको प्रस्तुत हैं अर्थात् हम सब तुम्हारी सेवा करेंगे ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥

वैशम्पायन बोले— यह सुनकर छलपूर्वक शकुनि पांसे फेंककर युधिष्ठिरसे बोला, कि लो यह मैं जीत गया ॥ २८ ॥

×

शकुनिरुवाच—

एतत्पापिष्ठमकरोर्यदात्मानं पराजितः।
शिष्टे सति धने राजन्पाप आत्मपराजयः ॥ २९ ॥

शकुनि बोले— महाराज ! तुम स्वयंको हरा बैठे, यह बडा भारी पाप तुमने किया, इसमें सन्देह नहीं है, कि धनके शेष रहते हुए अपनेको हरा देना पापका कारण है ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान्ग्लहे सर्वानवस्थितान्।
पराजयल्लोकवीरानाक्षेपेण पृथक्पृथक् ॥ ३० ॥

वैशम्पायन बोला— बडा भारी जुआरी शकुनि बाजीके विषयमें युधिष्ठिरसे इतनी बातें कहके वहां बैठे हुए, प्रसिद्ध वीरोंके साथ पाण्डवोंमेंसे प्रत्येककी हारका वृत्तान्त कहकर फिर युधिष्ठिरसे बोला ॥ ३० ॥

शकुनिरुवाच—

अस्ति वै ते प्रिया देवी ग्लह एकोऽपराजितः।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयात्मानं पुनर्जय ॥ ३१ ॥

शकुनि बोला— अब भी तुम्हारी प्यारी स्त्री हारे जानेसे शेष है, अतः तुम पाञ्चालकी कन्या कृष्णाको बाजी पर लगाओ, उस बाजीसे खेलकर अपनेको फिर जीत लो ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

नैव ह्रस्वा न महती नातिकृष्णा न रोहिणी।
सरागरक्तनेत्रा च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३२ ॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोला— जो न छोटी, न लम्बी, न बहुत काली, न गोरी है, सुन्दर लाल आंखोंवाली, शरत्कालके पद्मके समान नेत्रवाली, शारदीय पद्मके सदृश गन्धवती, तथा रूपमें शारदी पद्मपर बैठी हुए लक्ष्मीके समान रूपवती और लावण्य तथा सौभाग्य आदिमें लक्ष्मीरूपिणी है, उसी पाञ्चालकुमारीको बाजीपर लगाकर तुमसे खेलता हूं ॥ ३२--३३ ॥

तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद्रूपसंपदा।
तथा स्याच्छीलसंपत्त्या यामिच्छेत्पुरुषः स्त्रियम् ॥ ३४ ॥

हे सुबल-पुत्र ! दया, रूपसम्पत्तिसे युक्त और शीलसम्पत्तिसे जैसी स्त्रीकी पुरुष कामना करता है, बिल्कुल वैसी ही वह द्रौपदी है ॥ ३४ ॥

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आ गोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३५ ॥

जो सबके सो जानेके बाद सोती है और सबके उठनेसे पहिले ही जाग जाती है और गो तथा भेड चरानेवालेतक सब लोगोंका समाचार लेती है ॥ ३५ ॥

आभाति पद्मवद्वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।
वेदीमध्या दीर्घकेशी ताम्राक्षी नातिरोमशा ॥ ३६ ॥

मोगरेके फूलोंकी सुगंधीवाले पसीनेकी बूंदोंके कारण जिसका मुख कमलके समान सुन्दर लगता है, जो वेदीके सदृश सुन्दर मध्यभागवाली, लम्बे बालोंवाली, ताम्बेके समान लाल आंखोंवाली, अल्प रोमोंवाली है ॥ ३६ ॥

तथैवंविधया राजन्पाञ्चाल्याहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥ ३७ ॥

इस प्रकारकी सुन्दरतासे युक्त उस पांचालराजकी पुत्री द्रौपदीको बाजीपर लगाकर, हे राजन् सुबलके पुत्र शकुने ! मैं खेलता हूँ ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन भारत ।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! बुद्धिमान् धर्मराजके इतनी बात कहनेपर सभामें बैठे हुए बूढोंके मुखसे " धिक्कार धिक्कार " के शब्द निकलने लगे ॥ ३८ ॥

चुक्षुभे सा सभा राजन्राज्ञां संजज्ञिरे कथाः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ३९ ॥

हे महाराज ! सम्पूर्ण सभा क्षुब्ध हो उठी; राजाओंको शोकने घेर लिया; भीष्म, द्रोण, कृप, आदिके पसीना छूटने लगा ॥ ३९ ॥

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्पन्नगो यथा ॥ ४० ॥

विदुर सिर थामकर मानों मूर्च्छितके समान हो गए और नीचे मुंह किये सर्पकी भांति सांस छोडते हुए चिन्तामें मग्न हो गए ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रस्तु संहृष्टः पर्यपृच्छत्पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥ ४१ ॥

परन्तु धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न होकर बार बार यह पूछने लगे, कि क्या जीता, क्या जीता ? वे अपने हृदयगत भावोंको छिपाकर न रख सके ॥ ४१ ॥

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४२ ॥

कर्ण दुःशासन आदिके साथ बहुत हर्षयुक्त हुआ; पर दूसरे सभ्योंके नेत्रोंसे आंसू निकलने लगे ॥ ४२ ॥

सौबलस्त्वविचार्यैव जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान्पुनरेवान्वपद्यत ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ १९०९ ॥

जीतनेके अहङ्कारसे उछलते हुए सुबलकुमार शकुनिने यह कहकर, कि यह जीता, उन पांसोंको फिर ले लिया ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ १९०९ ॥

ः ५९ ः

दुर्योधन उवाच—

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व प्रियां भार्यां संमतां पाण्डवानाम् ।
संमार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रमानन्दो नः सह दासीभिरस्तु ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला— हे क्षत्त ! आओ ! ! पाण्डवोंकी मनमोहनेवाली प्यारी स्त्री द्रौपदीको लेते आओ; वह स्त्री शीघ्र आके घर झाडे और वहां हमारी दासियोंके साथ रहकर आनन्द प्राप्त करे ॥ १ ॥

विदुर उवाच—

दुर्विभाव्यं भवति त्वादृशेन न मन्द संबुध्यसि पाशबद्धः ।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि व्याघ्रान्मृगः कोपयसेऽतिबाल्यात् ॥ २ ॥

विदुर बोले— हे मन्द-बुद्धे ! तुम बडे मूर्ख हो; इसीसे तुमने ऐसी कठोर बात कही । तुम जिस बन्धनमें अपनेको फंसा रहे हो, तुम उसको नहीं जानते; तुम जिस झरनेपर लटक रहे हो, उसका बोध तुम्हें नहीं होता है; तुम मृग होकर व्याघ्रोंको क्रोधित कर रहे हो ॥ २ ॥

आशीविषाः शिरसि ते पूर्णकोशा महाविषाः ।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन्मा गमस्त्वं यमक्षयम् ॥ ३ ॥

रे दुरात्मा ! अपनी विषकी थैलीको पूरी तरह भरे हुए महाविषयुक्त सर्पसमूह तुम्हारे सिरपर बैठे हुए हैं; उनको तुम अब अधिक क्रोधित मत करो और यमराजके घर मत जाओ ॥ ३ ॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवति भारत।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥

हे भारत! मेरी समझमें कृष्णा किसी भी प्रकार दासीपन प्राप्त नहीं कर सकती है, क्योंकि (धर्मराज पहले स्वयं ही को हार गए हैं, इसलिये) उसके स्वामी न होते हुए भी युधिष्ठिर ने यह बाजी लगाई है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ४ ॥

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय पक्वो न बुध्यत्ययमन्तकाले ॥ ५ ॥

बांस जैसे अपने नाशके लिए फल धारण करता है, वैसे ही यह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन चौपड खेल रहा है; इस विनाश कालमें वह नहीं समझ पा रहा कि चौपड बडे भयावने वैरका कारण हो जाता है ॥ ५ ॥

नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥

कोई भी मर्मच्छेदी बोली न बोले कठोरवाणी न बोले। चौपड आदि नीच कार्योंसे शत्रुको वशमें लानेकी कोशिश न करे, और मनुष्योंके जिन वाक्योंसे दूसरोंके चित्तमें उद्वेग पैदा होता है, ऐसी अकल्याण करनेवाली, नरक देनेवाली वाणी कदापि न कहे ॥ ६ ॥

समुच्चरन्त्यतिवादा हि वक्त्राद्यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नवसृजेत्परेषु ॥ ७ ॥

एक मनुष्यके मुखसे निन्दाके वचन निकलते हैं, पर उससे घायल होकर दूसरा मनुष्य निशदिन शोकमें डूबा रहता है; क्योंकि वे वचन दूसरेके मर्मस्थानको छेदते नहीं, ऐसी बात नहीं अर्थात् अवश्य छेदते हैं। इसलिये पण्डित पुरुष ऐसे वाग्बाण दूसरों पर कदापि न छोडे ॥ ७ ॥

अजो हि शस्त्रमखनत्किलैकः शस्त्रे विपन्ने पद्भिरपास्य भूमिम्।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं तद्वद्वैरं मा खनीः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥

एक बार एक बकरेने पैरोंसे मिट्टीको हटाकर एक शस्त्रको खोदकर निकाला और शस्त्रको निकालकर उससे अपना ही गला काट डाला, अतएव तुम भी पाण्डवोंसे वैसी भयंकर शत्रुता मत करो ॥ ८ ॥

न किंचिदीड्यं प्रवदन्ति पापं वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं संपरिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥

कुत्तेके समान जो होते हैं, वे मनुष्य जो वचन बोलते हैं, उन्हीं पापयुक्त वचनोंको वानप्रस्थी, गृहस्थी, तपस्वी और विद्यासे भरपूर मनुष्यके लिए बोलना कभी भी प्रसंशाके योग्य नहीं कहा जाता ॥ ९ ॥

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं न बुध्यसे धृतराष्ट्रस्य पुत्र।
त्वामन्वेतारो बहवः कुरूणां द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥

हे धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन! कुटिलता नरकके भयावने द्वारोंके समान है इतना भी तुम नहीं जानते, दुःशासनके साथ कुरुकुलके दूसरे भी लोग जुएमें प्राप्त विजय पर अभिमान करते हुए दुर्योधनके पीछे पीछे चल रहे हैं ॥ १० ॥

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शाश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥ ११ ॥

लौकियां जलमें डूबी जा रही हैं, पत्थर जल पर बह रहे हैं और नाव जलमें हमेशा डूबी जा रही है, (इस प्रकार यह उलटा व्यवहार चल रहा है)। धृतराष्ट्रका मूर्ख पुत्र दुर्योधन मेरे पथ्यरूपी वचनोंपर ध्यान नहीं देता है ॥ ११ ॥

अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां सुदारुणः सर्वहरो विनाशः।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ १९२१ ॥

इससे निश्चय जान पडता है, कि कुरुओंका अवश्य ही नाश होगा, जब मित्रोंके युक्तिपूर्ण हितकारी पथ्यके समान वचन सुने नहीं जाते, केवल लोभकी वृद्धि होती है, तब अवश्य ही कठोर सर्वनाशी विनाश उपस्थित होता है ॥ १२ ॥

महाभारतके सभापर्वमें उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥ १९२१ ॥

: ६० :

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभायामुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधनने अहंकारसे उन्मत्त होकर "विदुर! तुम्हें धिक्कार है" यह कटुवचन कहके सभामें स्थित प्रतिकामी × की ओर देखा और प्रधान आर्योंके समाजमें उससे यह वचन बोला ॥ १ ॥

× प्रतिकामी दुर्योधनके सारथिका नाम था।

त्वं प्रातिकामिन्द्रौपदीमानयस्व न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीरुर्न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥

हे प्रातिकामिन् ! तुम जाकर द्रौपदीको ले आओ, पाण्डवोंसे तुम्हें कोई भय नहीं है, यह डरपोक क्षत्ता केवल विपरीत बातें कहा करता है, यह सदा हमारी अवनतिकी ही कामना करता है ॥ २ ॥

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य ।
प्रविश्य च श्वेव स सिंहगोष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर वह सारथि प्रातिकामी, कुत्ता जैसे सिंहके भवनमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर शीघ्र ही पाण्डवोंके वासगृहमें जाकर उनकी रानी द्रौपदीके निकट गया ॥ ३ ॥

प्रातिकाम्युवाच—

युधिष्ठिरे द्यूतमदेन मत्ते दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत् ।
सा प्रपद्य त्वं धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयामि त्वं कर्मणे याज्ञसेनि ॥ ४ ॥

प्रातिकामी बोला— द्रौपदि ! युधिष्ठिरके चौपडसे उन्मत्त होनेपर दुर्योधनने तुम्हें जीत लिया है, अतः तुम धृतराष्ट्रके भवनमें चलो । हे याज्ञसेनि ! दासीका कार्य करानेके निमित मैं तुम्हें ले जाऊंगा ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच—

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्को हि दीव्येद्भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्त आहो नान्यत्कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

द्रौपदी बोले— हे प्रातिकामी ! तुम ऐसी बातें क्यों कहते हो ? कौन राजकुमार स्त्रीको दांवपर रखकर खेलेगा ! चौपडके नशेमें उन्मत्त होनेके कारण राजा युधिष्ठिर निःसन्देह मत्त हो गए थे, नहीं तो क्या उनके पास कोई दूसरी दांवकी वस्तु नहीं थी ? ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच—

यदा नाभूत्कैतवमन्यदस्य तदादेवीत्पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥

प्रातिकामी बोला— जब उनके पास कोई दूसरी वस्तु शेष नहीं रह गई, तभी अजातशत्रु युधिष्ठिरने तुम्हें दांवपर लगाकर खेला था । हे राजपुत्री ! उस राजाने पहिले भाइयोंको, बादमें अपनेको और अन्तमें तुमको दांवपर लगाया था ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच—

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानं मां नु भारत।
एतज्ज्ञात्वा त्वमागच्छ ततो मां नय सूतज ॥ ७ ॥

द्रौपदी बोली-- हे सूतपुत्र! तुम एकवार जाओ, सभामें उस जुआरीसे पूछो, कि उन्होंने पहिले स्वयंको हारा, वा मुझे। हे सूतपुत्र! तुम जाकर यह पूछ आओ, उसके बाद तुम मुझे ले जाना ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा।
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथ वापि माम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले-- तब प्रातिकामीने सभामें जाकर द्रौपदीका वह वचन युधिष्ठिरसे कहा, कि "द्रौपदीने आपसे पूछा है, कि किसके स्वामी बनकर तुम हमें चौपडमें हारे हो? तुम पहले स्वयंको हारे हो, अथवा पहले मुझे हारे हो?" ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरस्तु निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाभवत्।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥ ९ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिर मानों चेतन तथा प्राणसे रहित हुएके समान बैठ रहे; उन्होंने सारथिको भला, या बुरा कोई भी उत्तर नहीं दिया ॥ ९ ॥

दुर्योधन उवाच—

इहैत्य कृष्णा पाञ्चाली प्रश्नमेतं प्रभाषताम्।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्या अस्य च यद्वचः ॥ १० ॥

तब दुर्योधन बोला-- पाञ्चाली यहीं आकर इस प्रश्नको पूछे, उसके और इनके बीच जो कुछ बातें हों उसे सब लोग सुनें ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथन्निव ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले-- सूत प्रातिकामी दुर्योधनकी आज्ञाके वशमें होकर राजभवनमें जाकर मानों दुःखी हृदयसे द्रौपदीसे बोला ॥ ११ ॥

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम्।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्यत्त्वं सभामेष्यसि राजपुत्रि ॥ १२ ॥

राजपुत्री ! वहां सभ्यगण तुम्हें बुला रहे हैं; मालूम पडता है, कि कौरवोंके नाशकी दशा आ पहुंची है। हे राजकुमारी ! लघुचित्त दुर्योधन जब तुमको सभामें लेजानेका सङ्कल्प करते हैं, तब वह फिर अपने सम्पत्तिकी रक्षा नहीं कर सकेंगे ॥ १२ ॥

द्रौपद्युवाच—

एवं नूनं व्यदधात्संविधाता स्पर्शावुभौ स्पृशतो धीरबालौ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १३ ॥

द्रौपदी बोले– विधिने ऐसी ही विधि रची है। पण्डित तथा मूर्खको सुख वा दुःख प्राप्त होता ही है; पर लोग धर्महीको एक मात्र परम पदार्थ कहते हैं। यदि उसकी रक्षा की जाए, तो वही हमें शान्ति देगा ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम्।
द्रौपद्याः संमतं दूतं प्राहिणोद्भरतर्षभ ॥ १४ ॥

एकवस्त्रा अधोनीवी रोदमाना रजस्वला।
सभामागम्य पाञ्चाली श्वशुरस्याग्रतोऽभवत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले- हे भारतश्रेष्ठ ! इस बीचमें युधिष्ठिरने दुर्योधनके हृदयगत उस अभिप्रायको सुनकर द्रौपदीके पास एक विश्वासी दूतको भेजा, (युधिष्ठिरके वचन सुनकर) रजस्वला होनेके कारण जिसके नाडेकी गांठ खुल गई है, ऐसी वह द्रौपदी एक वस्त्र पहिनकर रोते रोते सभामें आकर ससुरके सामने खडी हो गई ॥ १४–१५ ॥

ततस्तेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ १६ ॥

तब राजा दुर्योधनने उन पाण्डवोंके मुखको देखकर प्रसन्न होकर सूतको आज्ञा की, हे प्रातिकामी ! उसे यहीं ले आओ, कौरवगण उसके सामने ही उसके प्रश्नोंका उत्तर देवें ॥ १६

×

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च कोपाद्द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्यानुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ १७ ॥

दुर्योधनके यह बचन कहनेपर उसके वशीभूत प्रातिकामी द्रुपदकुमारीके क्रोधसे भयभीत होकर अपना अभिमान छोडकर फिर उन सभामें बैठ हुए लोगोंसे बोला, कि मैं कृष्णासे क्या कहूं ? ॥ १७ ॥

दुर्योधना उवच—

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥ १८ ॥

तब दुर्योधनने कहा, दुःशासन ! मेरा यह बुद्धिहीन सूतपुत्र प्रतिकामी भीमसे डर रहा है, अतः, तुम स्वयं द्रौपदीको पकड कर ले आओ; स्वाधीनतासे हाथ धोये हुए शत्रु तुम्हारा क्या कर सकते हैं ? ॥ १८ ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः कोपविरक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद्वेश्म महारथानामित्यब्रवीद्द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ १९ ॥

तब वह राजपुत्र दुःशासन भाईकी आज्ञा सुनकर, नेत्रोंको लाल किये उठा और महारथी पाण्डवोंके वासगृहमें प्रवेश करके राजपुत्री द्रौपदीसे यह बोला ॥ १९ ॥

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून्भजस्वायतपद्मनेत्रे धर्मेण लब्धासि सभां परेहि ॥ २० ॥

हे पाञ्चाली ! आओ, आओ तुम हारी गयी हो, हे कृष्णा ! अब लज्जा छोडकर दुर्योधनको देखो, हे विशाल कमलोंके समान आंखोंवाली द्रौपदी ! अब कुरुओंकी सेवा करो, हमने धर्मानुसार तुम्हें प्राप्त किया है; आओ सभामें चलो ॥ २० ॥

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २१ ॥

दुःशासनके इस प्रकार कहनेपर द्रौपदी दुःखी चित्तसे अति कातर होकर उठी और अश्रु-द्वारा मैले हुए मुखको हाथोंसे पोंछकर जिधर कुरुश्रेष्ठ वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी स्त्रियां थीं, उसी ओर चली ॥ २१ ॥

ततो जवेनाभिससार रोषाद्दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २२ ॥

तब दुःशासन क्रोधमें भरकर गर्जता हुआ वेगसे द्रौपदीके पीछे चला और काले लम्बे घुंघराले बालोंसे उस राजा युधिष्ठिरकी पत्नीको पकड लिया ॥ २२ ॥

ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात्प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ २३ ॥

जो केश राजसूय महायज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र किए जल द्वारा गीले किए गए थे; उन्हें धृतराष्ट्रके पुत्रने पाण्डवोंके बलका निरादर करके जबर्दस्ती पकड लिया ॥ २३ ॥

स तां परामृश्य सभासमीपमानीय कृष्णामतिकृष्णकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथवच्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ॥ २४ ॥

दुःशासन अत्यन्त काले बालोंवाली, दुःखिनी पतिवाली द्रौपदीको अनाथके समान सभाके पास लाकर जैसे वायु केलेको खींचता है, वैसे ही खींचने लगा ॥ २४ ॥

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः शनैरुवाचाद्य रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥ २५ ॥

वह खींची जाती हुई झुके हुए शरीरवाली द्रौपदी धीरेसे बोली, कि " मैं रजस्वला हूं और एकवस्त्र पहिने हुई हूं । इसलिये, हे दुष्टबुद्धे ! अनार्य ! मुझे सभामें खींचकर लेजाना तुझे योग्य नहीं है " ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत्तां प्रसभं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोश नयामि हि त्वाम् ॥२६॥

तब वह दुःशासन उस द्रौपदीको काले बालोंसे बलपूर्वक पकडकर उससे बोला– " द्रौपदी ! अब तुम्हें मैं ले जा रहा हूँ, इसलिए अब तुम कृष्ण, अर्जुन, नारायण और नर जिसे चाहे उसे अपनी रक्षाके लिए बुला लो ॥ २६ ॥

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि एकाम्बरा वाप्यथ वा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी दासीषु कामश्च यथोपजोषम् ॥ २७ ॥

हे याज्ञसेनी ! चाहे तुम रजस्वला हो, वा एकवस्त्रा हो अथवा वस्त्र रहित ही क्यों न हो, तुम जुएमें जीती गयी हो, अतएव दासी बन गई हो और दासियोंके साथ अपनी इच्छानुसार व्यवहार किया जा सकता है " ॥ २७ ॥

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ २८ ॥

बिखरे बालोंवाली, अधगिरे वस्त्र–वाली, दुःशासनसे खींची जाती हुई, लज्जा और क्रोधसे जलती हुई द्रौपदी धीरेसे यह बोली ॥ २८ ॥

इमे सभायामुपदिष्टशास्त्राः क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ २९ ॥

" सभामें ये सब शास्त्रोंको जाननेवाले, कृपावान्, इन्द्रके समान बडे तथा मेरे लिए गुरुके समान आदरणीय बडे बडे लोग बैठ हुए हैं, इनके आगे मैं ऐसे खडी नहीं रह सकती हूं " ॥ २९ ॥

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त मा मां विवस्त्रां कुरु मा विकार्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः सेन्द्रापि देवा यदि ते सहायाः ॥ ३० ॥

हे दुष्टकर्मकारिन् ! अनार्य कर्म मत कर, मुझे सभामें वस्त्रहीन मत कर; तू मुझे मत खींच; हे दुष्ट ! यदि इन्द्रादि देव भी तेरी सहायता करेंगे, तो भी पाण्डव तुझे क्षमा न करेंगे॥३०॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतश्च राजा धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलभ्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्रं नेच्छामि दोषं स्वगुणान्विसृज्य ॥ ३१ ॥

धर्मके पुत्र राजा युधिष्ठिर धर्ममें स्थित हैं और धर्म सूक्ष्म है, उसे महात्मा ही जान सकते हैं, मैं गुणोंके अतिरिक्त अपने पतिके परमाणुके समान सूक्ष्म दोषोंको वचनसे भी सुनना नहीं चाहती ॥ ३१ ॥

इदं त्वनार्यं कुरुवीरमध्ये रजस्वलां यत्परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित्कुरुतेऽत्र पूजां ध्रुवं तवेदं मतमन्वपद्यन् ॥ ३२ ॥

कुरुवीरोंके मध्यमें जो तू मुझ रजस्वलाको खींचता है, वह अनार्योंका काम है, मेरी यहां कोई पूजा भी नहीं कर रहा है, इसलिए निश्चयसे ये सब तेरे मतमें हैं ॥ ३२ ॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्राभ्यतीतां कुरुधर्मवेलां प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ३३ ॥

धिक्कार है, भरतवंशी क्षत्रियोंको, निश्चयसे इनका धर्म नष्ट हो गया है और क्षत्रियोंका चरित्र भी नष्ट हो गया है, जो आज सभामें वैठे हुए सब कुरुवंशी कुरुओंके धर्मकी सीमाको नष्ट होता हुआ देख रहे हैं ॥ ३३ ॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं ध्रुवं तथैवास्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ३४ ॥

द्रोण और भीष्ममें अब शक्ति नहीं रही, उसी प्रकार महात्मा विदुर और राजा धृतराष्ट्रमें भी वीर्यबल नहीं है, जो कि कुरुओंमें वृद्ध और प्रधानलोग भी दुर्योधनके द्वारा किए जानेवाले अधर्मको देखते भी नहीं हैं " ॥ ३४ ॥

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा काक्षेण भर्तॄन्कुपितानपश्यत्।
सा पाण्डवान्कोपपरीतदेहान्संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ३५ ॥
इस प्रकार करुणापूर्ण स्वरसे रोती हुई वह सुमध्यमा कुपित पतियोंको अप्रसन्न नजरोंसे देखने लगी और उसने अपने कटाक्षसे क्रोधसे जले भुने हुए शरीरवाले पाण्डवोंका क्रोध और प्रदीप्त कर दिया ॥ ३५ ॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव।
यथार्तया कोपसमीरितेन कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ३६ ॥
पाण्डवोंको राज्य, धन, रत्न और मुख्य वस्तुओंके नाश होनेसे भी ऐसा दुःख नहीं हुआ था, जितना कि दुःख और क्रोधसे भरे द्रौपदीके कटाक्षोंसे हुआ ॥ ३६ ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णामवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान्।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पामुवाच दासीति हसन्निवोग्रः ॥ ३७ ॥
दुःशासन भी अपने उन दयाके योग्य पति पाण्डवोंको देखती हुई द्रौपदीको देखकर तब संज्ञाशून्य द्रौपदीको बलसे खींचकर जोरसे हंसकर बोला, तू तो दासी है ॥ ३७ ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः संपूजयामास हसन्सशब्दम्।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्रस्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ३८ ॥
कर्ण यह वचन सुनकर शब्दसहित हंसता हुआ प्रसन्न होकर दुःशासनकी प्रशंसा करने लगा और उसी प्रकार गान्धार देशके सुबल राजाका पुत्र शकुनि भी दुःशासनकी प्रशंसा करने लगा ॥ ३८ ॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेणचैव।
तेषामभूद्दुःखमतीव कृष्णां दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ३९ ॥
कर्ण, शकुनि और धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोडकर वहां और जितने दूसरे सभासद् थे सबको सभामें खींची जाती हुई द्रौपदीको देखकर महा दुःख हुआ ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच—

न धर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वो ह्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४० ॥
भीष्म बोले— हे सुभगे ! स्त्रीको पतिकी आज्ञाका पालन करना चाहिए, पर साथ ही जो जिस धनका मालिक नहीं है, उस धनकी बाजी उसे नहीं लगानी चाहिए, यह देखकर और धर्म अत्यंत सूक्ष्म होनेके कारण तुम्हारे प्रश्नका ठीक विवेक हम नहीं कर सकते ॥ ४० ॥

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरः सत्यमथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४१ ॥
युधिष्ठिर ऋद्धिसे भरी हुई सब पृथ्वीको छोड सकते हैं, परन्तु सत्यको नहीं छोडेंगे; इन्होंने पहिले ही कह दिया है कि मैं जीत लिया गया हूं। इसलिये हम तुम्हारे प्रश्नका उत्तर ठीक ठीक नहीं दे सकते ॥ ४१ ॥

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं महात्मा तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४२ ॥
मनुष्योंमें शकुनि अद्वितीय जुएबाज है, उसके द्वारा युधिष्ठिर असफल कामनाओंवाले कर दिये गये हैं, अर्थात् युधिष्ठिर जीत लिए गए हैं, तथापि महात्मा युधिष्ठिर उस कृत्यको छल नहीं मानते; अतएव मैं तुम्हारे प्रश्नका ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सकता ॥ ४२ ॥

द्रौपद्युवाच —
आहूय राजा कुशलैः सभायां दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैरनार्यैः ।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ४३ ॥
द्रौपदी बोली– जुएमें निपुण अनार्य द्यूतप्रिय दुष्टात्मा छलियोंके द्वारा जुएमें कुशलताको न पाये हुए राजा युधिष्ठिर बुलाये गए थे और अल्प प्रयत्नोंसे ही हरा दिए गए, फिर वे असफल कामनाओंवाले कैसे हराये गए ? ॥ ४३ ॥

स शुद्धभावो निकृतिप्रवृत्तिमबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः ।
संभूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्पश्चाच्च यत्कैतवमभ्युपेतः ॥ ४४
दुष्ट स्वभाववाले और कपटमें प्रवृत्त हुए हुए इन लोगोंने संघटित होकर कपट न जाननेवाले कौरवों और पाण्डवोंमें मुख्य तथा पवित्र भावनाओंवाले युधिष्ठिरको जीत लिया। उसके बाद हारे हुए युधिष्ठिरने मेरी बाजी लगाकर जुआ खेला ॥ ४४ ॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभायामीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम् ।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ४५ ॥
इस सभामें जितने कुरुवंशी बैठे हुए हैं, यह पुत्र और वधुओंके पालक हैं, अतः सब लोग मेरी बातोंपर अच्छी तरह विचार करके मेरे प्रश्नका योग्य उत्तर दें ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच—
तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्तीमवेक्षमाणामसकृत्पतींस्तान् ।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ॥ ४६ ॥
वैशम्पायन बोले– इस प्रकारसे कहती हुई और दयासे रोती हुई और अपने दुःखी पतियोंको देखती हुई द्रौपदीसे दुःशासन कठिन, कडवे और अप्रिय वचन बोला ॥ ४६ ॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम् ।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ १९६८ ॥

उस खींची जाती हुई, रजस्वला, पतितवस्त्रा, उस कार्यके अयोग्य, द्रौपदीको देखकर बहुत दुःखी हुए हुए भीमको युधिष्ठिर पर बहुत गुस्सा आया ॥ ४७ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें साठवां अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ १९६८ ॥

ः ६१ ः

भीम उवाच—

भवन्ति देशे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर ।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥

भीमसेन बोले– हे युधिष्ठिर ! जुआरियोंके देशोंमें भी दासियां रहती हैं, तो भी वे जुएमें उनकी बाजी नहीं लगाते, उनपर भी कृपा ही करते हैं ॥ १ ॥

काश्यो यद्बलिमाहार्षीद्द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम् ।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥

जो धन काशीराजने दिया था और जो द्रव्य उत्तम था इसी प्रकारसे और राजाओंने भी जो जो धन भेंटमें दिया था ॥ २ ॥

वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च ।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥

वाहन, धन, कवच, शस्त्र, राज्य, अपना शरीर और हम सब जुएके द्वारा हर लिए गए ॥ ३ ॥

न च मे तत्र कोपोऽभूत्सर्वस्येशो हि नो भवान् ।
इदं त्वतिकृतं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥

तब भी मुझे गुस्सा नहीं आया, क्योंकि हमारे सर्वस्वके आप स्वामी हैं; पर जो आपने द्रौपदीको भी बाजीपर लगा दिया, इसे मैं मर्यादाका उल्लंघन ही समझता हूँ ॥ ४ ॥

एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान्प्राप्य कौरवैः ।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैर्निकृतिप्रियैः ॥ ५ ॥

यह बाला इस कर्मके लिए अयोग्य थी, यह पाण्डवोंको पति प्राप्त करके भी आपके कारण क्षुद्र दुरात्मा पापी कौरवोंसे क्लेश पा रही है ॥ ५ ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन्निपात्यते।
बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥

हे राजन्! इसी द्रौपदीके कारण ही मैं अपना क्रोध आप पर प्रकट कर रहा हूँ, हे सहदेव! अग्नि ले आओ, हम आज आपका हाथ जलायेंगे ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच—

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले– हे भीमसेन! तुमने पहिले ऐसी वाणी कभी नहीं कही थी, निश्चयसे ज्ञात होता है, कि तुम्हारे धर्मका अभिमान इन अत्याचारी शत्रुओंने नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम्।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं नातिक्रमितुमर्हति ॥ ८ ॥

शत्रुओंका मनोरथ सफल करना योग्य नहीं है, तुम उत्तम धर्महीका आचरण करो; धर्मात्मा तथा अपने ज्येष्ठ भाईका अनादर करना तुम्हारे लिए योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

आहूतो हि परै राजा क्षात्रधर्ममनुस्मरन्।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

राजा क्षत्रियोंके धर्मको स्मरण करके शत्रुओंके द्वारा बुलाये जानेपर शत्रुओंकी (उन्हींकी) इच्छानुसार जुआ खेलते हैं; अतः, यह कर्म हमारी कीर्तिको बढानेवाला है ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच—

एवमस्मिकृतं विद्यां यदस्याह धनञ्जय।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

भीमसेन बोले– हे अर्जुन! यदि मैं ऐसा न समझता, तो जलती हुई अग्निमें जबर्दस्ती इनके हाथोंको जला देता ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—

तथा तान्दुःखितान्दृष्ट्वा पाण्डवान्धृतराष्ट्रजः।
क्लिश्यमानां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले– इस प्रकारसे पाण्डवोंको दुःखित और द्रौपदीको खींची जाती हुई देखकर धृतराष्ट्रका पुत्र विकर्ण यह बोला ॥ ११ ॥

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२

हे राजालोगो! द्रौपदीने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर दो, क्योंकि प्रश्नका विवेकपूर्वक उत्तर न देनेसे शीघ्र हमें ही नरक प्राप्त होगा ॥ १२ ॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।
समेत्य नाहतुः किंचिद्विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥

ये भीष्म और धृतराष्ट्र दोनों ही कुरुकुलके वृद्ध हैं और ये महाबुद्धिमान् विदुर और ये लोग भी कुछ नहीं कहते हैं ॥ १३ ॥

भारद्वाजोऽपि सर्वेषामाचार्यः कृप एव च ।
अत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

सबके गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, फिर भी ये प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं दे रहे ? ॥ १४ ॥

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः ।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥

और दूसरे भी जो राजालोग नाना दिशाओंसे यहां आए हुए हैं, वे काम और क्रोधको छोडकर अपनी बुद्धिके अनुसार उत्तर दें ॥ १५ ॥

यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा ।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥

कल्याणी द्रौपदीने सभामें यह वाक्य बार बार कहा है, उसका विचार कर, हे राजाओ ! जो जिसका मत हो, स्पष्ट कह दें ॥ १६ ॥

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान्सभासदः ।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥

इस प्रकारसे विकर्णने बहुत बार सभासदोंसे कहा परन्तु राजाओंने अच्छा वा बुरा कुछ भी उत्तर न दिया ॥ १७ ॥

उक्त्वा तथासकृत्सर्वान्विकर्णः पृथिवीपतीन् ।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

विकर्ण सब राजाओंसे बारबार यह कहकर हाथसे हाथको मसलते हुए लम्बी सांस लेकर यह बोला ॥ १८ ॥

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥

हे राजाओ ! आपलोग इस प्रश्नका उत्तर दें या न दें, पर हे कौरवो ! यहां मैं जो न्याय समझता हूं, वह कहता हूं ॥ १९ ॥

×

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगया पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिसक्तताम् ॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठो ! राजाओंके निमित्त चार व्यसन कहे गए हैं, मृगया (शिकार), मद्यपान, जुआ और स्त्रियोंपर अधिक आसक्ति ॥ २० ॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।
तथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥

जब पुरुष इन कामोंमें आसक्त हो जाता है, तो वह धर्मको छोडकर व्यवहार करता है, इस प्रकार उस अयोग्य पुरुषके द्वारा किए गए कामको लोग प्रामाणिक नहीं मानते ॥ २१ ॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥

इसी प्रकार व्यसनमें बुरी तरह मग्न इस पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने जुआरियोंके द्वारा बुलाये जानेपर द्रौपदीको दांवपर लगाया था ॥ २२ ॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥

ये अनिन्दिता द्रौपदी साधारण रूपसे सब पाण्डवोंकी स्त्री है और राजा युधिष्ठिर पहले अपने शरीरको हार चुके, तब उन्होंने इसको दांवपर लगाया था ॥ २३ ॥

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥

पर जीतनेकी इच्छासे शकुनिने इस द्रौपदीका नाम लिया था । ये सब विचारकर मैं मानता हूं, कि द्रौपदी जीती नहीं गयी है ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा महानादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं च विनिन्दताम् ॥ २५ ॥

विकर्णके ये वचन सुनकर विकर्णकी प्रशंसा करनेवाले और सुबल पुत्र शकुनिकी निन्दा करनेवाले सभासदोंका बडा भारी शब्द उत्पन्न हुआ ॥ २५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

इस कोलाहलके शान्त हो जाने पर राधापुत्र कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित होते हुए विकर्णके सुन्दर बाहुको पकड कर यह वचन बोला ॥ २६ ॥

दृश्यन्ते वै विकर्णे हि वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जस्तस्य विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥

हे विकर्ण ! इस विषयमें अनेक प्रकारके विपरीत लक्षण दीखते हैं; जो उसीके विनाशके कारण बनते हैं, जिस प्रकार अरणीसे उत्पन्न होनेवाली अग्नि, वह जिससे उत्पन्न होती है, उसीको वह जला डालती है । (उसी प्रकार तू भी कौरवोंके कुलमें उत्पन्न होकर उसीके नाश करने पर तुला हुआ है) ॥ २७ ॥

एते न किंचिदप्याहुश्चोद्यमानापि कृष्णया ।
धर्मेण विजितां मन्ये मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥

ये सब राजा लोग द्रौपदीसे पूछे जाने पर भी कुछ न बोले क्योंकि मैं समझता हूँ कि वे मानते हैं, कि द्रौपदी धर्मसे ही जीती गयी है ॥ २८ ॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद्ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥

हे धृतराष्ट्रके पुत्र ! तुम अपनी मूर्खताके कारण ही दुःखी हो रहे हो, क्योंकि तुम बालक होकर भी सभाके बीचमें बूढोंकीसी बात करते हो ॥ २९ ॥

न च धर्मं यथातत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद्ब्रवीषि जितां कृष्णामजितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥

हे दुर्योधनानुज ! तुम धर्मको यथावत् नहीं जानते, इसीलिए मन्दबुद्धिवाले तुम द्रौपदीको जीत लेने पर भी कहते हो कि " वह नहीं जीती गई " ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान्पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

हे धृतराष्ट्रपुत्र ! जब पाण्डवोंमें सबसे बडे युधिष्ठिरने जुवेमें अपना सर्वस्व दांवपर लगा दिया तब तुम द्रौपदीको बिना जीती कैसे मानते हो ? ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥

हे भरतर्षभ ! द्रौपदी तो युधिष्ठिरके सर्वस्वमें शामिल ही है, इस प्रकार द्रौपदीको धर्मपूर्वक जीत लेनेके बावजूद भी तुम यह क्यों कहते हो कि " वह नहीं जीती गई " ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने अपनी जीभसे द्रौपदीका नाम लिया और दूसरे पाण्डवोंने उसकी बातका अनुमोदन किया; फिर भी उसको अविजित ही तुम किस आधार पर मानते हो ? ॥ ३३ ॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगया पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिसक्तताम् ॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठो ! राजाओंके निमित्त चार व्यसन कहे गए हैं, मृगया (शिकार), मद्यपान, जुआ और स्त्रियोंपर अधिक आसक्ति ॥ २० ॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।
तथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥

जब पुरुष इन कामोंमें आसक्त हो जाता है, तो वह धर्मको छोडकर व्यवहार करता है, इस प्रकार उस अयोग्य पुरुषके द्वारा किए गए कामको लोग प्रामाणिक नहीं मानते ॥ २१ ॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥

इसी प्रकार व्यसनमें बुरी तरह मग्न इस पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने जुआरियोंके द्वारा बुलाये जानेपर द्रौपदीको दांवपर लगाया था ॥ २२ ॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥

ये अनिन्दिता द्रौपदी साधारण रूपसे सब पाण्डवोंकी स्त्री है और राजा युधिष्ठिर पहले अपने शरीरको हार चुके, तब उन्होंने इसको दांवपर लगाया था ॥ २३ ॥

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥

पर जीतनेकी इच्छासे शकुनिने इस द्रौपदीका नाम लिया था । ये सब विचारकर मैं मानता हूं, कि द्रौपदी जीती नहीं गयी है ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा महानादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं च विनिन्दताम् ॥ २५ ॥

विकर्णके ये वचन सुनकर विकर्णकी प्रशंसा करनेवाले और सुबल पुत्र शकुनिकी निन्दा करनेवाले सभासदोंका बडा भारी शब्द उत्पन्न हुआ ॥ २५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

इस कोलाहलके शान्त हो जाने पर राधापुत्र कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित होते हुए विकर्णके सुन्दर बाहुको पकड कर यह वचन बोला ॥ २६ ॥

दृश्यन्ते वै विकर्णे हि वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जस्तस्य विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥

हे विकर्ण ! इस विषयमें अनेक प्रकारके विपरीत लक्षण दीखते हैं; जो उसीके विनाशके कारण बनते हैं, जिस प्रकार अरणीसे उत्पन्न होनेवाली अग्नि, वह जिससे उत्पन्न होती है, उसीको वह जला डालती है । (उसी प्रकार तू भी कौरवोंके कुलमें उत्पन्न होकर उसीके नाश करने पर तुला हुआ है) ॥ २७ ॥

एते न किंचिदप्याहुश्चोद्यमानापि कृष्णया ।
धर्मेण विजितां मन्ये मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥

ये सब राजा लोग द्रौपदीसे पूछे जाने पर भी कुछ न बोले क्योंकि मैं समझता हूँ कि वे मानते हैं, कि द्रौपदी धर्मसे ही जीती गयी है ॥ २८ ॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद्ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥

हे धृतराष्ट्रके पुत्र ! तुम अपनी मूर्खताके कारण ही दुःखी हो रहे हो, क्योंकि तुम बालक होकर भी सभाके बीचमें बूढोंकीसी बात करते हो ॥ २९ ॥

न च धर्मं यथातत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद्ब्रवीषि जितां कृष्णामजितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥

हे दुर्योधनानुज ! तुम धर्मको यथावत् नहीं जानते, इसीलिए मन्दबुद्धिवाले तुम द्रौपदीको जीत लेने पर भी कहते हो कि " वह नहीं जीती गई " ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान्पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

हे धृतराष्ट्रपुत्र ! जब पाण्डवोंमें सबसे बडे युधिष्ठिरने जुवेमें अपना सर्वस्व दांवपर लगा दिया तब तुम द्रौपदीको बिना जीती कैसे मानते हो ? ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥

हे भरतर्षभ ! द्रौपदी तो युधिष्ठिरके सर्वस्वमें शामिल ही है, इस प्रकार द्रौपदीको धर्मपूर्वक जीत लेनेके बावजूद भी तुम यह क्यों कहते हो कि " वह नहीं जीती गई " ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने अपनी जीभसे द्रौपदीका नाम लिया और दूसरे पाण्डवोंने उसकी बातका अनुमोदन किया, फिर भी उसको अविजित ही तुम किस आधार पर मानते हो ? ॥ ३३ ॥

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम्।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तरम् ॥ ३४ ॥

यदि तुम समझते हो कि एक वस्त्र धारण किये हुए इसको सभामें लाना अधर्म हुआ तो उस विषयमें भी मैं उत्तर देता हूं, तुम सुनो ॥ ३४ ॥

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥

हे कुरुनन्दन! देवताओंने स्त्रियोंके निमित्त एक ही पतिका विधान किया है, पर यह अनेक पतियोंके वशमें है अतएव यह निश्चयसे वेश्या है ॥ ३५ ॥

अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥

अतः, इसको एक वस्त्रमें अथवा नंगी होने पर भी सभामें लाया जाना कोई बहुत आश्चर्य-की बात नहीं है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ३६ ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद्या चैषा ये च पाण्डवाः।
सौबलेनेह तत्सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥

जो कुछ इन पाण्डवोंका धन था और यह द्रौपदी थी और ये पाण्डव थे, उस सब धनको सुबल पुत्र शकुनिने इस सभामें धर्मसे ही जीता है ॥ ३७ ॥

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥

हे दुःशासन! पण्डितोंके समान बात करनेवाला यह विकर्ण मूर्ख है, अतएव तुम पाण्डवों और द्रौपदीके वस्त्र उतार लो ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥

हे जनमेजय! पाण्डव लोग यह बचन सुन कर अपना वस्त्र उतार उतार कर सभामें बैठ गये ॥ ३९ ॥

ततो दुःशासनो राजन्द्रौपद्या वसनं बलात्।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥

हे राजन्! तब दुःशासन सभाके बीचमें जबर्दस्ती द्रौपदीका वस्त्र झटका देकर खींचने लगा ॥ ४० ॥

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशां पते।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥ ४१ ॥

हे राजन्! जब द्रौपदीका वस्त्र खींचा गया, तो उस वस्त्रके भीतरसे अन्यवस्त्र और उसमेंसे अन्य इस प्रकारसे रंग बिरंगे अनेक वस्त्र निकलने लगे ॥ ४१ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद्घोरनिस्वनः।
तदद्भुततमं लोके वीक्ष्य सर्वे महीक्षिताम् ॥ ४२ ॥

तब लोकमें इस विचित्र घटनाको देखकर सभामें सभी राजाओंका हाहाकारका महाशब्द उठा ॥ ४२ ॥

शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये महास्वनः।
क्रोधाद्विस्फुरमाणोष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥ ४३ ॥

तब राजाओंके मध्यमें क्रोधसे ओष्ठ फडकाते हुए, हाथसे हाथको मलकर, घोर शब्दसे भीमने यह प्रतिज्ञा की ॥ ४३ ॥

इदं मे वाक्यमादद्ध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद्वदिष्यति ॥ ४४ ॥

हे लोकके वासी क्षत्रियो! तुम सब मेरे यह वचन सुनो, जो पहिले किसी मनुष्यने नहीं कहे और न कोई भविष्यमें कहेगा ही ॥ ४४ ॥

यद्येतदेवमुक्त्वा तु न कुर्यां पृथिवीश्वराः।
पितामहानां सर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥ ४५ ॥

हे राजाओ! यदि इस प्रकार मैं कहकर उसे करके न दिखाऊं, तो मेरे सभी पितामहोंने जो गती पाई है, उसे मैं कभी प्राप्त न करूं ॥ ४५ ॥

अस्य पापस्य दुर्जातेर्भारतापसदस्य च।
न पिबेयं बलाद्वक्षो भित्त्वा चेद्रुधिरं युधि ॥ ४६ ॥

मैं इस पापी, दुष्ट जातिमें उत्पन्न हुए भरतकुलके लिए कलंकरूप दुःशासनका हृदय क्रोधसे चीरकर युद्धमें रुधिर न पीयूं (तो हे राजालोगो! मैं अपने पूर्व पुरुषोंकी गतिको प्राप्त न होऊं) ॥ ४६ ॥

तस्य ते वचनं श्रुत्वा सर्वलोकप्रहर्षणम्।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ४७ ॥

सभी मनुष्योंको हर्षित करनेवाले भीमके इस वचनको सुनकर सब लोग उनकी प्रशंसा और धृतराष्ट्रपुत्रकी निन्दा करने लगे ॥ ४७ ॥

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥ ४८ ॥
जब सभाके बीचमें द्रौपदीके वस्त्रोंका ढेर हो गया तब दुःशासन थक कर और लज्जित होकर बैठ गया ॥ ४८ ॥

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः ।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥ ४९ ॥
इस प्रकारसे पाण्डवोंको देखकर सब सभासदों और राजाओंके मुखसे " धृतराष्ट्रपुत्रको धिक्कार है " ऐसा रोंगटे खडे कर देनेवाला महाशब्द निकला ॥ ४९ ॥

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह ।
स जनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥ ५० ॥
धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए सब सभासद् कहने लगे, कि द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर कौरव लोग क्यों नहीं देते ? ॥ ५० ॥

ततो बाहू समुच्छ्रित्य निवार्य च सभासदः ।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५१ ॥
तब हाथ उठाकर सब सभासदोंको रोकते हुए सब धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुर यह वचन बोले ॥ ५१ ॥

विदुर उवाच—

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत् ।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥ ५२ ॥
हे सभासदो ! द्रौपदी इस प्रकार प्रश्न करके अनाथके समान रोती है, तुम लोग उत्तर नहीं देते, इससे धर्म नष्ट हो रहा है ॥ ५२ ॥

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ५३ ॥
राजसभामें दुःखी मनुष्य जलती हुई अग्निके समान प्रवेश करता है, परन्तु सभासद् सत्य और धर्मसे उसे शांत करते हैं ॥ ५३ ॥

धर्मप्रश्नमथो ब्रूयादार्तः सभ्येषु मानवः ।
विब्रूयुस्तत्र ते प्रश्नं कामक्रोधवशातिगाः ॥ ५४ ॥
इसलिए दुःखी मनुष्य सभामें बैठे हुओंसे अपना धर्मयुक्त प्रश्न पूछे और सभासद् भी काम क्रोध त्याग कर उसका उत्तर दें ॥ ५४ ॥

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः ।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥ ५५ ॥

हे राजालोगो ! जिस प्रकारसे विकर्णने प्रश्नका बुद्धिपूर्वक उत्तर दिया था, वैसे ही आप लोग भी बुद्धिके अनुसार उस प्रश्नका उत्तर दीजिए ॥ ५५ ॥

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥ ५६ ॥

धर्मको जाननेवाला जो सभासद् सभामें प्रश्नका उत्तर न दे, उस समय झूठ बोलनेसे जो फल मिलता है उस फलके आधेका हिस्सेदार वह सभासद् भी होता है ॥ ५६ ॥

यः पुनर्वितथं ब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं संप्राप्नोतीति निश्चयः ॥ ५७ ॥

और जो धर्मदर्शी सभासद् प्रश्नका झूठा या विपरीत उत्तर दे, तो वह झूठके पूरे फलको प्राप्त करता है यह एक निश्चित बात है ॥ ५७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥ ५८ ॥
प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः ।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥

पण्डित लोग इसी स्थानमें प्रह्लाद और आंगिरस मुनिके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण देते हैं। प्रह्लाद नामक दैत्यराज थे और उनके पुत्रका नाम विरोचन था, एक कन्याके निमित्त अङ्गिरसके पुत्र सुधन्वासे उसका विवाद हुआ ॥ ५८–५९ ॥

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा ।
तयोर्देवनमत्रासीत्प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥ ६० ॥

हमने ऐसा सुना है कि कन्याको पानेकी इच्छासे उस समय दोनों ही कहने लगे कि "मैं श्रेष्ठ हूँ", "मैं श्रेष्ठ हूँ", और अपने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर वे स्पर्धा करने लगे ॥ ६० ॥

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत्प्रह्लादं तावपृच्छताम् ।
ज्यायान्क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥ ६१ ॥

उन दोनोंके बीच इस प्रश्नके बारेमें वादविवाद हो गया, तब उन दोनोंने जाकर प्रह्लादसे पूछा, कि तुम सत्य कहो हम दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ? ॥ ६१ ॥

स वै विवदनाद्भीतः सुधन्वानं व्यलोकयत्।
तं सुधन्वाब्रवीत्क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥ ६२ ॥

प्रह्लाद सुधन्वाको देखकर असत्य बोलनेसे डरे; तब सुधन्वा क्रोधसे ब्रह्मदण्डके समान जलता हुआ बोला ॥ ६२ ॥

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥ ६३ ॥

हे प्रह्लाद! यदि तुम झूठ कहोगे, वा कुछ न कहोगे, तो इन्द्र तुम्हारे शिरके वज्रसे सौ टुकडे कर देगा ॥ ६३ ॥

सुधन्वना तथोक्तः सन्व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत्।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥ ६४ ॥

प्रह्लाद सुधन्वाका यह वचन सुनकर पीपलके पत्तेके समान कांपने लगे, तब प्रह्लाद महा-तेजस्वी कश्यप मुनिके पास पूछने गये ॥ ६४ ॥

पह्लाद उवाच—

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च।
ब्राह्मणस्य महाप्राज्ञ धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥ ६५ ॥

प्रह्लाद बोले- हे महाप्राज्ञ! आप देव, असुर और ब्राह्मणोंके सब धर्मोंको जाननेवाले हैं; यह धर्मकष्ट उपस्थित है, आप सुनें ॥ ६५ ॥

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद्वितथं वापि निर्दिशेत्।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ६६ ॥

और प्रश्न पूछनेवाले मुझे आप बताइए कि जो किसी प्रश्नका उत्तर ही न दे और यदि दे भी तो झूठा उत्तर दे तो उसे किन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ६६ ॥

जानन्न विब्रुवन्प्रश्नं कामात्क्रोधात्तथा भयात्।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ६७ ॥

काश्यप बोले- हे प्रह्लाद! जो प्रश्नके उत्तरको जानता हो पर काम, क्रोध वा भयसे न कहे तो उसके गलेमें वरुणकी फांसी सहस्रबार पडती है ॥ ६६ ॥

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात्सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥ ६८ ॥

उसके एक वर्ष पूर्ण होजानेपर एकपाश छूटता है; अतएव जाननेवाले पुरुषको सत्य ही कहना चाहिये ॥ ६८ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ६९ ॥
जिस सभामें अधर्मसे दूषित धर्मकी समस्या उत्पन्न होती है पर सभासद् उस धर्मके कांटेको निकालते नहीं, तब वे सभासद् भी अधर्मसे प्रभावित हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

अर्धं हरंति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ ७० ॥
उस पापका आधा भाग सभापतिको प्राप्त होता है, एक चरण कर्ताको और एक चरण उन सभासदोंको प्राप्त होता है, जो निन्दितकी निन्दा नहीं करते ॥ ७० ॥

अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ ७१ ॥
जहां निन्दाके योग्य मनुष्यकी निन्दा की जाती है, वहां सभापती और सभासद् पापसे मुक्त हो जाते हैं, और वह पाप केवल कर्ताहीको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त चैव परावरान् ॥ ७२ ॥
हे प्रह्लाद ! जो पूछनेवालेसे मिथ्या धर्मको कहते हैं, वे इष्टापूर्तसे मिलनेवाले पुण्य तथा सात पहले और सात आगेकी पीढियोंको नष्ट करते हैं ॥ ७२ ॥

हृतस्वस्य हि यद्दुःखं हतपुत्रस्य चापि यत् ।
ऋणिनं प्रति यच्चैव राज्ञा ग्रस्तस्य चापि यत् ॥ ७३ ॥
जो दुःख छीने हुए धनवालेको होता है, मनुष्यको पुत्रके मर जानेपर जो दुःख होता है, ऋणीको तथा राजाके द्वारा धनके जब्त कर लिए जानेपर मनुष्यको जो दुःख होता है ॥ ७३ ॥

स्त्रियाः पत्या विहीनायाः सार्थाद्भ्रष्टस्य चैव यत् ।
अध्यूढायाश्च यद्दुःखं साक्षिभिर्विहितस्य च ॥ ७४ ॥
पतिसे हीन स्त्रीको, अपने समूहसे बिछुडे हुएको जो दुःख होता है, साक्षीदारोंके द्वारा विपरीत साक्षी देनेके कारण नष्ट हुए मनुष्यको जो दुःख और जो दुःख सौतली स्त्रीको होता है ॥ ७४ ॥

एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदशेश्वराः ।
तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ॥ ७५ ॥
यह सब दुःख समान हैं ऐसा देवोंका कहना है। जो झूठ कहता है, उसको यह सब दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ७५ ॥

×

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चेति धारणात्।
तस्मात्सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७६ ॥

सुननेसे, धारण करनेसे और प्रत्यक्ष देखनेसे मनुष्य साक्षीदार कहाता है, अतएव साक्षीदार सत्य कहता हुआ धर्म और अर्थसे हीन नहीं होता है ॥ ७६ ॥

विदुर उवाच—

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत्।
श्रेयान्सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः ॥ ७७ ॥

विदुर बोले— कश्यपका ऐसा वचन सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा, तुझसे सुधन्वा श्रेष्ठ हैं, मुझसे अंगिरा श्रेष्ठ हैं ॥ ७७ ॥

माता सुधन्वनश्चापि श्रेयसी मातृतस्तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥ ७८ ॥

और सुधन्वाकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ हैं; हे विरोचन ! यह सुधन्वा अब तेरे प्राणोंका स्वामी है ॥ ७८ ॥

सुधन्वोवाच—

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे प्रतिष्ठितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ७९ ॥

सुधन्वा बोले— तुमने पुत्रस्नेह छोडकर धर्मको ग्रहण किया, अतएव मैं तुम्हारे पुत्रको तुम्हें देता हूं; अब ये सौ वर्षतक जीवे ॥ ७९ ॥

विदुर उवाच—

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८० ॥

विदुर बोले— हे सभासदो ! आप इस प्रकारसे धर्मको जानकर द्रौपदीके प्रश्नपर यथायोग्य विचार कीजिए और उस बारेमें जो योग्य हो कहिए ॥ ८० ॥

वैशम्पायन उवाच—

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान्नय ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन बोले— विदुरके वचनको सुनकर भी राजा कुछ न बोले, तब कर्णने दुःशासनसे कहा तुम इस दासीको घरमें पहुंचा दो ॥ ८१ ॥

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान् ।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ८२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ २०५० ॥

तब कांपती हुई, लज्जावती, पाण्डवोंको पुकारती हुई तपस्विनी द्रौपदीको सभाके बीचमें दुःशासन खींचने लगा ॥ ८२ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें एकसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ २०५० ॥

: ६२ :

द्रौपद्युवाच—

पुरस्तात्करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम् ।
विह्वलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली— गुरुजनोंमें करने योग्य एक उत्तम कार्य मैंने नहीं किया, अब मुझे यह बलवान् बलसे खींच रहा है, अतएव मैं अत्यन्त व्याकुल हुई हूं ॥ १ ॥

अभिवादं करोम्येषां गुरूणां कुरुसंसदि ।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥

इस कुरु-सभामें सब श्रेष्ठोंको प्रणाम करती हूं । मैंने पहले प्रणाम नहीं किया, यह मेरा अपराध नहीं है ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

सा तेन च समुद्धूता दुःखेन च तपस्विनी ।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले— इस प्रकार उस दुःखके अयोग्य होनेपर भी वह बेचारी द्रौपदी दुःशासनसे खींची जाती हुई दुःखसे सभामें गिरकर इस प्रकार विलाप करने लगी ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच—

स्वयंवरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः ।
न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ॥ ४ ॥

द्रौपदी बोली— जिस मुझे स्वयंवरके समय रंगस्थानमें आये हुए राजाओंके अतिरिक्त किसीने भी कहीं नहीं देखा था, वह मैं आज सभामें लाई गई हूं ॥ ४ ॥

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे ।
साहमद्य सभामध्ये दृश्यामि कुरुसंसदि ॥ ५ ॥

जिसके घरमें कभी सूर्य और वायुने भी नहीं देखा था, उस मुझे आज कुरुओंकी सभामें सब देख रहे हैं ॥ ५ ॥

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां पुरा गृहे ।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥

जो पाण्डव कभी मुझे छूनेपर वायुको भी क्षमा नहीं करते थे, वे ही पाण्डव आज मुझे छूनेवाले इस दुरात्माको क्षमा कर रहे हैं ॥ ६ ॥

मृष्यन्ते कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् ।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ॥ ७ ॥

जान पडता है, कि कुछ समय ही विपरीत हो गया, जो सब कौरव लोग इस दुःखके अयोग्य वधूका ऐसा क्लेश देख रहे हैं ॥ ७ ॥

किं त्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा ।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥

इससे अधिक नीचकर्म क्या होगा ? कि जो सती स्त्री होते हुए भी मुझे सभाके मध्यमें आना पडा । अब राजाओंका धर्म कहां गया ? ॥ ८ ॥

धर्म्याः स्त्रियः सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

मैंने पहले सुना था, कि धर्मका आचरण करनेवाली स्त्रियां सभामें नहीं बुलायी जातीं, पर आज वह सनातन धर्म कुरुवंशमें नष्ट हो गया है ॥ ९ ॥

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती ।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम् ॥ १० ॥

पाण्डवोंकी स्त्री, धृष्टद्युम्नकी बहिन, श्रीकृष्णकी सखी होकर मैं राजाओंके सभामें कैसे जाऊं॥ १०॥

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् ।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ ११ ॥

हे कौरव लोगों ! मैं धर्मराजकी सदृशवर्णमें उत्पन्न धर्मपत्नी हूं, अतः बताओ कि "मैं दासी हूं, या नहीं," तुम जो कहोगे वैसे ही मैं करूंगी ॥ ११ ॥

अयं हि मां दृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः ।
क्लिश्नाति नाहं तत्सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥

यह कौरवोंका यशनाशक क्षुद्र दुःशासन मुझे अत्यन्त क्लेश दे रहा है, हे कौरवो ! यह दुःख मैं बहुतकाल तक नहीं सह सकती ॥ १२ ॥

जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं वा यथा नृपाः।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १३ ॥

हे राजा लोगो! हे कुरुवंशियो! मुझे तुम जीती वा अजित जो मानते हो, वह मैं सुनना चाहती हूं, सुनकर वैसा ही करूंगी ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच—

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य तु परां गतिम्।
लोके न शक्यते गन्तुमपि विप्रैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥

भीष्म बोले— हे कल्याणि! हम पहले ही धर्मकी परम गति कह चुके हैं, कि उसे महात्मा विज्ञ लोग भी नहीं जान सकते ॥ १४ ॥

बलवांस्तु तथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहितः परैः ॥ १५ ॥

लोकमें बलवान् पुरुष जिसे धर्म कहे, वह ही धर्म है, चाहे वह मर्यादाके बाहर भी हो तो भी वह उत्तम ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमेतं शक्नोमि निश्चयात्।
सूक्ष्मत्वाद्गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात् ॥ १६ ॥

धर्मका कार्य भारी कठिन और सूक्ष्म है, इससे हम तुम्हारे प्रश्नका निश्चयपूर्वक उत्तर नहीं दे सकते ॥ १६ ॥

नूनमन्तः कुलस्यास्य भविता नचिरादिव।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥ १७ ॥

अब निश्चयसे बहुत ही शीघ्र इस कुरुका नाश होनेवाला है, इस समय ये सब कौरवलोग लोभ मोहमें फंस गए हैं ॥ १७ ॥

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनाभ्याहता भृशम्।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते यथा नस्त्वं वधूः स्थिता ॥ १८ ॥

हे कल्याणी! जिन पांडवोंकी तुम बधू हो वे सब बडे कुलमें उत्पन्न हुए हैं और संकटोंसे ग्रस्त होने पर भी धर्मके मार्गसे पतित नहीं होते ॥ १८ ॥

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम्।
यत्कृच्छ्रमपि संप्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे ॥ १९ ॥

हे पाञ्चाली! उसी प्रकार तुम भी संकटमें ग्रस्त होने पर भी धर्मका आदर कर रही हो यह तुम्हारा व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है ॥ १९ ॥

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः ॥ २० ॥
ये द्रोणादि सभी वृद्ध और धर्मज्ञ हैं, पर वे भी इस समय नीचे मुंह किए प्राणोंसे रहित शरीरोंको धारण किए हुएसे शान्त बैठे हुए हैं ॥ २० ॥

युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन्प्रमाणमिति मे मतिः।
अजितां वा जितां वापि स्वयं व्याहर्तुमर्हति ॥ २१ ॥
मेरे विचारसे तो इस प्रश्नके उत्तरमें युधिष्ठिर जो कहें वही प्रमाण है, वे ही तुम्हें जीती हुई वा अजित कह सकते हैं ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—
तथा तु दृष्ट्वा बहु तत्तदेवं रोरूयमाणां कुररीमिवार्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ २२ ॥
वैशम्पायन बोले— इस प्रकारसे कुररीके समान बहुत रोती हुई उस देवी द्रौपदीको देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनके भयसे अच्छा या बुरा कुछ भी न बोले ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थिवपुत्रपौत्रांस्तूष्णींभूतान्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निदं वचनं बभाषे पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन, सब राजपुत्र और राजपौत्रोंको चुपचाप देखकर तब हंसता हुआ पांचालराजकी पुत्री द्रौपदीसे यह वचन बोला ॥ २३ ॥

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥ २४ ॥
हे याज्ञसेनि! यह तेरा प्रश्न उदार बलवाले भीमसेन, अर्जुन, सहदेव और तेरे पति नकुलके अधीन रहे, ये लोग ही तेरे द्वारा पूछे गए प्रश्नका उत्तर दें ॥ २४ ॥

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ॥२५॥
हे पाञ्चालि! तेरे कारण ये लोग इस आर्य सभामें कहें कि "युधिष्ठिर तेरा पति नहीं था" और सभी मनुष्य युधिष्ठिरको झूठा ठहरा दें, तो तुम दासीपनसे मुक्त हो जाओगी ॥ २५ ॥

धर्मे स्थितो धर्मराजो महात्मा स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथ वैष वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ २६ ॥
अथवा धर्ममें स्थित इन्द्रके समान महात्मा धर्मराज स्वयं ही यह कह दें कि ये तुम्हारे स्वामी हैं वा नहीं? इनके कहनेके पश्चात् तुम शीघ्र ही एकको पति बनालो ॥ २६ ॥

सर्वे ह्यमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यवृत्ता यथावत्पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ॥ २७ ॥
इस सभामें ये सब कुरुवंशी लोग तुम्हारे ही दुःखसे दुःखित हो रहे हैं, तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर ही ये श्रेष्ठ व्यवहार करनेवाले कौरव कुछ भी नहीं बोलते ॥ २७ ॥

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तत्र वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तदोच्चैः।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो हा हेत्यासीदपि चैवात्र नादः।
सर्वे चासन्पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ २८ ॥
तब उस सभामें कुरुराज दुर्योधनके ये वचन सुनकर सब सभासद् ऊंचे स्वरसे उनकी प्रशंसा करने लगे, चिल्लाते हुए उन्होंने वस्त्र भी फडकाये, पर साथ ही उस सभामें हाहाकार करता हुआ एक आर्तनाद भी उठा, सब राजा लोग प्रसन्न होकर धार्मिक कुरुराज दुर्योधनकी प्रशंसा करने लगे, ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ २९ ॥
उन सब राजा लोगोंने " अब धर्मज्ञ युधिष्ठिर क्या कहेंगे " इस अपेक्षासे मुखको युधिष्ठिर की ओर घुमाया ॥ २९ ॥

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः।
भीमसेनो यमौ चेति भृशं कौतूहलान्विताः ॥ ३० ॥
अथवा 'संग्राममें कभी न हारनेवाला पाण्डुपुत्र अर्जुन क्या कहेगा, भीम, नकुल और सहदेव क्या कहेंगे , इस प्रकार कौतूहलसे युक्त होकर वे उनकी तरफ देखने लगे ॥ ३० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
प्रगृह्य विपुलं वृत्तं भुजं चन्दनरूषितम् ॥ ३१ ॥
जब यह शब्द समाप्त हो गया, तो चन्दनचर्चित बहुत गोलगोल सुन्दर बाहुको पकड करके भीमसेन बोले ॥ ३१ ॥

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
च प्रभुः स्यात्कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥ ३२ ॥
यदि ये धर्मराज युधिष्ठिर हमारे गुरु और कुलके प्रभु न होते तो हम इन्हें कदापि क्षमा न करते ॥ ३२ ॥

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
मन्यते जितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ ३३ ॥

हमारे पुण्य, तप और प्राणोंके भी ये स्वामी हैं, यदि ये अपनेको जीता हुआ समझते हैं, तो हम भी अपनेको जीता हुआ ही समझते हैं ॥ ३३ ॥

न हि मुच्येत जीवन्मे पदा भूमिमुपस्पृशन् ।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ ३४ ॥

भूमिको अपने पैरोंसे छूता हुआ कोई भी मरणशील मनुष्य द्रौपदीके सिरके इन बालोंको स्पर्श करके मुझसे जीता नहीं छूट सकता ॥ ३४ ॥

पश्यध्वमायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव ।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ ३५ ॥

तुम लोग परिघके समान इन मोटी और लम्बी मेरी भुजाओंको देखो, इनके बीचमें आकर इन्द्र भी छूट नहीं सकता ॥ ३५ ॥

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि सङ्कटम् ।
गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ ३६ ॥

मैं धर्मपाशमें बंधा हुआ हूं, धर्मराजके गौरव और अर्जुनके निरोधसे ये सङ्कट भोग रहा हूं ॥ ३६ ॥

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।
धार्तराष्ट्रानिमान्पापान्निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ ३७ ॥

यदि धर्मराज मुझको आज्ञा दें तो जैसे सिंह क्षुद्र हरिणोंका नाश करता है, वैसे ही इन पापी धृतराष्ट्र पुत्रोंको चरणसे पीस डालूं ॥ ३७ ॥

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च ।
क्षम्यतामेवमित्येवं सर्वं संभवति त्वयि ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ २०८८ ॥

तब भीमसे भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुर कहने लगे, कि जो तुम कहते हो, वह सब यथार्थ है, तुम सब कुछ कर सकते हो; पर इस समय क्षमा करो ॥ ३८ ॥

महाभारतके सभापर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ २०८८ ॥

: ६३ :

कर्ण उवाच—

त्रयः किलेमे अधना भवन्ति दासः शिष्यश्चास्वतन्त्रा च नारी ।
दासस्य पत्नी त्वं धनमस्य भद्रे हीनेश्वरा दासधनं च दासी ॥ १ ॥

कर्ण बोले— हे भद्रे ! ये तीन पुरुष निर्धन होते हैं; दास, शिष्य और पराधीन स्त्री । हे द्रौपदी ! तुम अब एक दासकी पत्नी हो, इसका धन भी हमारा है, क्योंकि दासकी पत्नी और उसके धनपर मालिकका अधिकार होता है ॥ १ ॥

प्रविश्य सा नः परिचारैर्भजस्व तत्ते कार्यं शिष्टमावेश्म वेश्म ।
ईशाः स्म सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति ते धार्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ २ ॥

हे राजपुत्रि ! राजा दुर्योधनके घरमें आकर जो काम मिले वह करो और अपनी सेवाओंसे हमें सन्तुष्ट करो अब तुम्हारे पति हम सब धृतराष्ट्रके पुत्र हैं, पाण्डव नहीं ॥ २ ॥

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भामिनि यस्माद्दास्यं न लभसे देवनेन ।
अनवद्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये विदितं वै तवास्तु ॥ ३ ॥

हे भामिनि ! तुम अब शीघ्र ही दूसरा पति चुन लो जिससे जुएके कारण तुम्हें दुःख प्राप्त न हो, अपना पति चाहे जैसा व्यवहार करें तो भी दास उसकी निन्दा नहीं कर सकते । दास्यत्वका यह नियम है, यह तुम्हें ज्ञात होगा ही ॥ ३ ॥

पराजितो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिरः सहदेवोऽर्जुनश्च ।
दासीभूता प्रविश याज्ञसेनि पराजितास्ते पतयो न सन्ति ॥ ४ ॥

नकुल, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव और युधिष्ठिर ये सब हार गये हैं । अतः, हे याज्ञसेनि ! तुम दासी होकर हमारे घरमें प्रविष्ट होओ, ये पराजित पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं रहे ॥ ४ ॥

प्रयोजनं चात्मनि किं नु मन्यते पराक्रमं पौरुषं चेह पार्थः ।
पाञ्चालस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां सभामध्ये योऽतिदेवीद्ग्लहेषु ॥ ५ ॥

जिस इस पृथापुत्र युधिष्ठिरने पांचालराज द्रुपदकी इस पुत्रीको दांवपर लगाया, उसे क्या यह नहीं प्रतीत होता कि तुझे दांवपर लगाकर उसका उद्योग और पराक्रम सफल हो गया है ? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी भृशं निशश्वास तदार्तरूपः।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो दहन्निवैनं कोपविरक्तदृष्टिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले— परम क्रोधी भीमसेन कर्णके ये वचन सुनकर, दुःखी होकर राजा युधिष्ठिरके वशवर्ती और धर्मपाशसे बद्ध होनेके कारण लालनेत्र करके कर्णको जलाते हुएके समान सांस लेकर ऐसा कहने लगे ॥ ६ ॥

भीम उवाच—

नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मः प्रविष्टः।
किं विद्विषो वाद्य मां धारयेयुर्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ७ ॥

भीम बोले— हे राजन् युधिष्ठिर ! हम कर्णके ऊपर कुछ भी क्रोध नहीं करते; क्योंकि इसने ठीक वैसा ही कहा, जैसा दासके धर्मको कहना चाहिये। हे नरेंद्र ! यदि आप द्रौपदीको दांव पर न लगाते, तो क्यों शत्रु लोग मेरे आगे ऐसा बोलते ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

राधेयस्य वचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णींभूतमचेतसम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले— तब राधापुत्र कर्णके ऐसे वचन सुनकर राजा दुर्योधनने चुप बैठे अचेतन युधिष्ठिरसे ऐसा कहा ॥ ८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने।
प्रश्नं प्रब्रूहि कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

हे महाराज ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञामें स्थित हैं, अतः, आप यदि द्रौपदीको अजित मानते हैं, तो इसके प्रश्नका उत्तर दें ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा स कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्।
स्मयन्निवैक्षयत्पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर, ऐश्वर्यके मदसे मोहित दुर्योधन अपने वस्त्रको उठाकर हंसते हुए द्रौपदीकी ओर देखकर ॥ १० ॥

कदलीदण्डसदृशं सर्वलक्षणपूजितम्।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥

केलेके खम्भेके समान गोल और गोरी, सब लक्षणोंसे युक्त, हाथीके सूंडके समान लम्बी और वज्रके समान बलवान् ॥ ११ ॥

अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥

अपनी बाईं जांघ मुस्कराते हुए कर्णकी तरफ देखकर भीमको धर्षित करनेके लिए द्रौपदीके सामने दिखलाने लगा ॥ १२ ॥

वृकोदरस्तदालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते ।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥

भीमसेन उसको देखकर लाल लाल नेत्रोंको फैलाकर सब सभाको सुनाते हुए राजाओंके मध्यमें दुर्योधनसे ऐसा बोला ॥ १३ ॥

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद्वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥

यदि मैं महायुद्धमें तेरी जांघको गदासे न तोडूं, तो जिन लोकोंमें मेरे पितामह गये हैं उनमें यह भीम न जाए ॥ १४ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः सर्वेभ्यः पावकार्चिषः ।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥ १५ ॥

जैसे जलते हुए वृक्षकी जलते हुए कोटरोंमें अग्नि निकलती है, वैसे ही क्रोधसे युक्त भीमसेनके रोम-छिद्रोंसे अग्नि निकलने लगी ॥ १५ ॥

विदुर उवाच—

परं भयं पश्यत भीमसेनाद्बुध्यध्वं राज्ञो वरुणस्येव पाशात् ।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥

विदुर बोले— हे राजाओ ! अब जो भीमसेनसे महाभय उत्पन्न हुआ, उसे जानो और वरुणके पासके समान डरो कि वास्तवमें दैवने भरतकुलपर (भविष्यमें आनेवाले संकटोंकी सूचना देनेके लिए) यह पहलेसे ही अन्यायका प्रसंग उत्पन्न कर दिया है ॥ १६ ॥

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा येऽस्यां स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमा दृश्यते वो महाभयः पापान्मन्त्रान्कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १७ ॥

हे धृतराष्ट्रके पुत्रो ! हमने यह महा अन्याय किया, जो सभामें स्त्रीसे ऐसा प्रलाप करते हो क्योंकि यह लोग पापयुक्त मन्त्रोंका विचार करते हैं, इसलिए इस अन्यायमें ही अपना योग और कुशल देखनेवाले तुम्हारे लिए भविष्यमें बडा भारी संकट उत्पन्न हो जायेगा ॥ १७ ॥

इमं धर्मं कुरवो जानताशु दुर्दृष्टेऽस्मिन्परिषत्संप्रदुष्येत् ।
इमां चेत्पूर्वं कितवोऽग्लहीष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८ ॥

हो कौरवो ! तुम यह धर्म जानो, कि जहां धर्म नष्ट होता है वहां सभा भी दूषित हो जाती है, यदि राजा अपने हारनेके पहिले द्रौपदीको दांवपर लगाते, तो वे इसके ईश होते॥ १८॥

स्वप्ने यथैतद्धि धनं जितं स्यात्तदेवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारिपुत्रस्य वचो निशम्य धर्मादस्मात्कुरवो मापयात ॥ १९ ॥

एक मनुष्य स्वामी न होते हुए भी शकुनिके वचनोंको सुनकर जिस धनको जुएमें दांवपर लगाता है, वह यदि उस धनको जीत भी ले तो भी वह स्वप्नके धनके समान ही होता है । अतः हे कौरवो ! तुम धर्मसे दूर मत जाओ ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच—

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव ।
युधिष्ठिरं चेत्प्रवदन्त्यनीशमथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥ २० ॥

दुर्योधन बोले-- हे याज्ञसेनि ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवके वचनों पर मेरा विश्वास है, ये लोग यदि यह कह दें, कि "युधिष्ठिर तुम्हारा पति नहीं था" तो तुम दासी भावसे छूट जाओगी ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच—

ईशो राजा पूर्वमासीद्ग्लहे नः कुन्तीपुत्रो धर्मराजो महात्मा ।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले-- हे कौरव ! ये महात्मा कुन्तीपुत्र धर्मराज जुएसे पहिले हमारे स्वामी थे, परन्तु जब अपनेको हार गये तब ये किसके ईश हो सकते हैं ? आप ही लोग जान लीजिये ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले-- हे राजन् ! उसी समय महाराज धृतराष्ट्रके घरमें और यज्ञशालामें एक सियार (गीदड) आकर उच्चस्वरसे चिल्लाने लगा; तभी गधे और भयानक पक्षी भी चारों ओर शब्द करने लगे ॥ २२ ॥

तं च शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।
भीष्मद्रोणौ गौतमश्चापि विद्वान्स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

उस शब्दको तत्त्वज्ञ विदुर और सुबलकी पुत्री गान्धारीने सुना, भीष्म, द्रोणाचार्य और विद्वान् कृपाचार्य (उस घोर शब्दको सुनकर) उच्च स्वरसे स्वस्ति स्वस्ति ऐसा कहने लगे ॥ २३ ॥

ततो गान्धारी विदुरश्चैव विद्वांस्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे ।
निवेदयामासतुरार्तवत्तदा ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४ ॥

तब विद्वान् विदुर और गन्धारीने इसे घोर उत्पात जानकर दुःखी होकर राजा धृतराष्ट्रसे कहा; यह सुनकर राजा धृतराष्ट्र यह वचन बोले ॥ २४ ॥

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे यस्त्वं सभायां कुरुपुंगवानाम् ।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५ ॥

हे मन्दबुद्धे दुर्विनीत दुर्योधन ! तू कुरुश्रेष्ठोंकी सभाके बीचमें स्त्रीसे ऐसे वचन कहता है विशेष कर धर्मपत्नी द्रौपदीसे ऐसे अनुचित वाक्य बोल रहा है, इसलिए तू निश्चयसे नष्ट हो जाएगा ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी हितान्वेषी बान्धवानामपायात् ।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत्सान्त्वपूर्वं विमृश्यैतत्प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर दुःखसे बान्धवोंके हित चाहनेवाले तत्त्वबुद्धि धृतराष्ट्र बुद्धिसे विचार करके सान्त्वनापूर्वक पाञ्चाली द्रौपदीसे ऐसा बोले ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिकाङ्क्षसि ।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे पाञ्चालि ! तुम मेरी सब वधूओंमें उत्तम हो, तुम धर्मपरायण और पतिव्रता हो इसलिए जो तुम्हारी इच्छा हो, हमसे वर मांगो ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच—

ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

द्रौपदी बोली— हे भरतर्षभ ! यदि आप मुझको वर देना चाहते हो, तो मैं मांगती हूं, दीजिये । सब धर्मोंका पालन करनेवाले श्रीमान् युधिष्ठिर दासभावसे छूट जाए ॥ २८ ॥

मनस्विनमजानन्तो मा वै ब्रूयुः कुमारकाः ।
एष वै दासपुत्रेति प्रतिविन्ध्यं तमागतम् ॥ २९ ॥

और मनस्वी मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्यको कोई राजकुमार अनजाने यह न कहे, कि ये दास-पुत्र हैं ॥ २९ ॥

राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान्कचित् ।
लालितो दासपुत्रस्त्वं पश्यन्नश्येद्धि भारत ॥ ३० ॥

हे भारत ! जिसके समान दूसरा कोई कहीं भी नहीं है, जो पहलेसे ही राजाका पुत्र है, जो राजाओंसे पालित पोषित है, वह दासके पुत्रके रूपमें न बढे ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व माम् ।
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे कल्याणि ! हे भद्रे ! मेरा विचार यह है, कि तुम एक ही वरदानके योग्य नहीं हो, अतएव तुम एक दूसरा वर मांगो, मैं वह तुम्हें दूंगा ॥ ३१ ॥

द्रौपद्युवाच—

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ ।
नकुलं सहदेवं च द्वितीयं वरये वरम् ॥ ३२ ॥

द्रौपदी बोली— हे राजन् भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन चारोंको धनुष और रथके समेत मांगती हूं, यह दूसरा वर मैं मांगती हूँ ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता ।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्र बोले— तुम मेरी सब बहुओंमें उत्तम और धर्मचारिणी हो इसलिए दो वर देकर भी तुम्हारा सत्कार नहीं हो सका, अतः अब कोई तीसरा वर मांगो ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच—

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाहमुत्सहे ।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली— हे भगवन् ! लोभ धर्मके नाशका मूल है, मैं अब तीसरा वर मांगना नहीं चाहती । हे राजसत्तम ! मैं तृतीय वर मांगनेके अयोग्य हूं ॥ ३४ ॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३५ ॥

वैश्यको एक वर, क्षत्रिय और स्त्रीको दो, राजाको तीन और ब्राह्मणको सौ वर मांगनेका अधिकार है ॥ ३५ ॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम ।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन्पुण्येन कर्मणा ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ २१२४ ॥

हे राजन् ! (दास हो जानेके कारण) मेरे पति अत्यन्त पापी हो गए थे, पर अब वे मुक्त हो गए हैं, अब वे अपने पुण्य कर्मोंसे अनेक कल्याणोंको प्राप्त कर लेंगे ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें तिरेसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ २१२४ ॥

: ६४ :

कर्ण उवाच—

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण संमताः ।
तासामेतादृशं कर्म न कस्यांचन शुश्रुमः ॥ १ ॥

कर्ण बोले– हमने मनुष्योंमें जितनी रूपवती स्त्रियोंके बारेमें सुना था, उनमेंसे ऐसा हमने किसीका भी नहीं सुना ॥ १ ॥

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति ।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ॥ २ ॥

पाण्डवों और कौरवोंके क्रोध युक्त हो जानेपर कृष्णा द्रौपदी ही पाण्डवों के लिए शांति देनेवाली हुई ॥ २ ॥

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥ ३ ॥

बिना नावके जलमें डूबते हुए पाण्डवोंके लिए यह पाञ्चाली पार लेजानेवाली नौका हो गयी ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः ।
स्त्री गतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– कौरवोंकी सभामें कर्णकी बातें सुनकर क्रुद्ध भीम " एक स्त्रीके कारण पाण्डवोंकी रक्षा हुई " इस प्रकार सोचकर बहुत दुःखी होकर बोला ॥ ४ ॥

भीम उवाच—

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥

भीम बोले— देवल मुनिने पुरुषमें पुत्र, कर्म और विद्याके रूपमें तीन ज्योतियां बताई हैं, इन तीनों ज्योतियोंसे प्रजायें उत्पन्न हुई हैं ॥ ५ ॥

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते।
देहे त्रितयमेवैतत्पुरुषस्योपजायते ॥ ६ ॥

अपवित्र और निर्जन स्थानपर जब बन्धुबांधव एक मरे हुए पुरुषको फेंक जाते हैं, तब उस समय ये तीन तेज ही उस मरे हुएके लिए उपयोगी हैं ॥ ६ ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्।
धनञ्जय कथं स्वित्स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

हमारे पत्नी द्रौपदीका (शत्रुओं) के अपमान करनेके कारण हमारा अपत्यरूपी तेज तो नष्ट हो गया। पर, हे अर्जुन अयोग्य सम्बन्ध या व्यभिचारसे उत्पन्न सन्तान और किस प्रकारकी होगी * ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच—

न चैवोक्ता न चानुक्ता हीनतः परुषा गिरः।
भारताः प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥

नीच पुरुष कुछ कहें या न कहें, तो भी उत्तम पुरुष कठोर वाक्योंसे उत्तर नहीं देते॥८॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतानि च।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ ९ ॥

बदला लेनेका उपाय जानते हुए तथा अपने ऊपर विश्वास रखते हुए भी महात्मा केवल सुकृतहीका स्मरण करते हैं, शत्रुताको स्मरण भी नहीं करते ॥ ९ ॥

भीम उवाच—

इहैवैतांस्तुरा सर्वान्हन्मि शत्रून्समागतान्।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान्कृन्धि भारत ॥ १० ॥

भीम बोले— हे राजेन्द्र ! हे भारत युधिष्ठिर ! मैं यहां इन आये हुए शत्रुओंको जल्दी ही मार देता हूँ और यहांसे निकल कर इन पुत्रपौत्रोंको भी मार दूंगा ॥ १० ॥

---

* भीमको यह पता नहीं था कि कर्ण कुन्तीका ही पुत्र है, वह तो उसे सारथिका ही पुत्र समझता था। इसलिए वह कर्णपर व्यंग्य करते हुए अर्जुनसे यह बात कहता है कि व्यभिचारसे उत्पन्न पुत्र और कैसा होगा !

किं नो विवदितेनेह किं नः क्लेशेन भारत ।
अद्यैवैतान्निहन्मीह प्रशाधि वसुधा वसुधामिमाम् ॥ ११ ॥

हे भारत ! इससे वादविवाद करनेसे क्या लाभ अथवा इस प्रकार चुपचाप बैठकर हमारे दुःख भोगनेसे ही क्या लाभ ? अभी मैं इनको मारे देता हूँ, फिर आप सब पृथिवीका राज्य कीजिये ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिर्वृतः ।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुः परिघमैक्षत ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले— भीमसेन ऐसा कहकर छोटे भाईयोंसे घिरकर जैसे सिंह क्षुद्र हरिणोंको देखते हैं, वैसे ही सबको बार बार देखने लगे ॥ १२ ॥

सान्त्व्यमानो वीज्यमानः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
स्विद्यते च महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

उस समय कठोर कर्म करनेवाले अर्जुनके द्वारा समझाए जाने और पंखा डुलाये जानेपर भी वीर्यवान् भीम अन्दर जलनेवाली क्रोधाग्निके कारण पसीनेसे भीग गए ॥ १३ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप ।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥

हे राजन् ! तब क्रोधित हुए उस भीमके सब कान आदि मार्गोंसे धुंआ, चिन्गारी और ज्वालाओंसे युक्त आग निकलने लगी ॥ १४ ॥

भ्रुकुटीपुटदुष्प्रेक्ष्यमभवत्तस्य तन्मुखम् ।
युगान्तकाले संप्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥

उस समय उनका मुख टेढी भौंहोंके कारण बडा डरावना हो गया और वैसा युगके अन्तमें दीखनेवाले यमराजके रूपके समान उनका रूप हो गया ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥

हे भारत ! तब युधिष्ठिरने उस बाहुशालीको अपने हाथसे रोककर और कहा, कि ऐसा मत करो, शान्त होकर बैठो ॥ १६ ॥

निवार्य तं महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठद्धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि चतुःषष्टिमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ २१४१ ॥

इस प्रकार युधिष्ठिर क्रोधसे लाल नेत्रवाले महाबाहु भीमको रोक करके हाथ जोडकर पिता धृतराष्ट्रके पास गये ॥ १७ ॥

महाभारतके सभापर्वमें चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ २१४१ ॥

: ६५ :

युधिष्ठिर उवाच—

राजन्किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे महाराज ! हे भारत ! हमको आज्ञा दीजिये, हम आपका कौनसा प्रियकार्य करें, आप हमारे स्वामी हैं, हम सदा आपकी आज्ञामें रहना चाहते हैं ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत ।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम मेरी आज्ञासे निर्विघ्न होकर धनके समेत जाओ और अपने राज्यका शासन करो ॥ २ ॥

इदं त्वेवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम् ।
धिया निगदितं कृत्स्नं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥

पर मुझ इस बुढेकी बात हमेशा ध्यानमें रखना । मैं जो कुछ कहता हूँ वह सब अत्यन्त हितकर और कल्याणकारक है ॥ ३ ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो, हे महाप्राज्ञ ! तुम विनीत और वृद्धोंकी सेवा करनेवाले हो ॥ ४ ॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
नादारौ क्रमते शस्त्रं दारौ शस्त्रं निपात्यते ॥ ५ ॥

हे भारत ! जहां बुद्धि है वहीं शांति है, अतः, तुम शान्त हो जाओ, क्योंकि शस्त्र लकडीको काटनेहीमें उपयोगी होता है, पत्थर आदिमें नहीं ॥ ५ ॥

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान्पश्यन्ति नागुणान् ।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥

जो वैरको ध्यानमें नहीं रखते; गुणहीको देखते हैं, दोषोंको नहीं; विरोध भी नहीं करते, वे ही उत्तम पुरुष कहलाते हैं ॥ ६ ॥

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतानुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ७ ॥

हे युधिष्ठिर ! विवादमें जो कठोर बात कहे, वह पुरुष अधम है, जो उसका उत्तर देते हैं वे मध्यम हैं, जो उसे सुनकर भी कुछ न कहे वह उत्तम पुरुष हैं ॥ ७ ॥

नैवोक्ता नैव चानुक्ता अहिताः परुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा उत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥

पर कोई अयोग्य और कठोर वचन कहे या न कहे, पर जो उत्तर ही नहीं देते, वे ही उत्तम पुरुष कहे जाते हैं ॥ ८ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ ९ ॥

महात्मा लोग बदला लेनेका उपाय जाननेपर भी आत्मज्ञान पाकर सुकृतहीको स्मरण करते हैं और किये हुए वैरको याद नहीं रखते ॥ ९ ॥

तथाचरितमार्येण त्वयास्मिन्सत्समागमे ।
दुर्योधनस्य पारुष्यं तत्तात हृदि मा कृथाः ॥ १० ॥

ऐसा ही श्रेष्ठ तुमने इस समागममें आचरण किया है, हे तात ! दुर्योधनके द्वारा कहे गए कठोर वचनोंको अपने हृदयमें धारण मत करो ॥ १० ॥

मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वद्गुणकाङ्क्षिणम् ।
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! तुम्हारे गुणकी प्रशंसा करनेवाले, यहां बैठे हुए अपने अन्धे और बूढे पिता मेरी और अपनी माता गांधारीकी तरफ देखो ॥ ११ ॥

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ।
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ॥ १२ ॥

अपने मित्रोंको देखने और अपने पुत्रोंके बल और अबलको देखनेकी इच्छासे केवल आनन्दके लिए ही मैंने इस जुएकी उपेक्षा की थी ॥ १२ ॥

अशोच्याः कुरवो राजन्येषां त्वमनुशासिता ।
मन्त्री च विदुरो धीमान्सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १३ ॥

जिनपर तुम शासन करनेवाले हो उन कौरवोंके बारेमें भी तुम शोक मत करो, क्योंकि सब शास्त्र जाननेवाले बुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं ॥ १३ ॥

त्वयि धर्मोऽर्जुने वीर्यं भीमसेने पराक्रमः ।
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः ॥ १४ ॥

तुममें धर्म, अर्जुनमें धैर्य; भीमसेनमें पराक्रम, पुरुषाग्रगण्य नकुल और सहदेवमें श्रद्धा और वृद्धोंकी सेवा है ॥ १४ ॥

अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥ १५ ॥

हे अजातशत्रो ! आपका कल्याण हो, खाण्डवप्रस्थको जाओ, तुम्हारा भाईयोंसे स्नेह हो, तुम्हारा मन धर्मको धारण करे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वार्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले— उस प्रकारसे धृतराष्ट्रकी बात सुनकर भारतोंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर "जो आपने कहा, सब वैसा ही होगा" यही प्रतिज्ञा करके भाइयोंके सङ्ग चले ॥ १६ ॥

ते रथान्मेघसङ्काशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥ समाप्तं द्यूतपर्वम् ॥ २१५८ ॥

वे लोग द्रौपदीके साथ मेघके समान रथोंमें बैठकर इन्द्रप्रस्थको प्रसन्न मनसे चले ॥ १७ ॥

महाभारतके सभापर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ द्यूतपर्व समाप्त ॥ २१५८ ॥

: ६६ :

जनमेजय उवाच—

अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान्धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— सब रत्नों और धन और बांधवोंके समेत, सब पाण्डवोंको जानेकी धृतराष्ट्रने आज्ञा दे दी है, यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका मन कैसा हुआ ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन्दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! जब बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दी, तब सुनते ही दुःशासन शीघ्रतासे अपने भाई दुर्योधनके पास गया ॥ २ ॥

दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

हे भरतर्षभ ! वहां जाकर मंत्रियोंके समेत बैठे हुए राजा दुर्योधनसे दुःखित होकर, हे भरत श्रेष्ठ ! यह वचन बोला ॥ ३ ॥

दुःखेनैतत्समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ।
शत्रुसाद्गमयद्द्रव्यं तद्बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥

हे महारथलोगो ! जो यह सब धन दुःखसे उपार्जित किया था, वह सब इस बुड्ढेने नष्ट कर दिया, (जुएमें हमारे द्वारा जीता गया वह सब धन) अब फिर शत्रुओंके वशमें हो गया है, आप सब यह जान लें ॥ ४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान्प्रति मानिनः ॥ ५ ॥

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनी यह सब मानी पुरुष पाण्डवोंके प्रतिकारके बारेमें परस्पर मन्त्रणा करके ॥ ५ ॥

वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥

विचित्रवीर्यके पुत्र मनीषी धृतराष्ट्रके पास शीघ्र जाकर मीठी वाणीसे ऐसा कहने लगे ॥६॥

दुर्योधन उवाच—

न त्वयेदं श्रुतं राजन्यज्जगाद बृहस्पतिः।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन्विद्वान्देवपुरोहितः ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोले— हे राजन् ! देवोंके विद्वान् पुरोहित बृहस्पतिने इन्द्रसे नीतिका वर्णन करते हुए जो बात कही है, क्या वह आपने नहीं सुनी ? ॥ ७ ॥

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुकर्षण।
पुरा युद्धाद्बलाद्वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम् ॥ ८ ॥

हे शत्रुनाशी ! शत्रुओंको सभी उपायोंसे नष्ट करना चाहिए, क्योंकि आगे चलकर ये बलसे और युद्धसे तुम्हारा अहित ही करेंगे ॥ ८ ॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान्संपूज्य पार्थिवान्।
यदि तान्योधयिष्यामः किं वा नः परिहास्यति ॥ ९ ॥

इसलिए, हम लोग यदि पाण्डवोंके ही धनसे राजालोगोंकी पूजा करके अर्थात् पाण्डवोंका धन और राजाओंको देकर उन्हें ही पाण्डवोंसे भिडा दें, तो उसमें हमारी क्या हानि है ? ॥ ९ ॥

अहीनाशीविषान्क्रुद्धान्दंशाय समुपस्थितान्।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥ १० ॥

विषसे भरे क्रोधसे युक्त तथा काटनेके लिए उपस्थित सर्पोंको कंठ और पीठमें धारण करके फिर कौन त्याग सकता है ? ॥ १० ॥

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः।
निःशेषं नः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा यथा ॥ ११ ॥

हे तात ! शस्त्र और रथ प्राप्त करके, सर्पके समान क्रुद्ध पाण्डव हमारा नाश कर देंगे॥ ११॥

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विवृत्य परमेषुधी।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥ १२ ॥

अर्जुन दो महातूणीर धारण करके जा रहा है और गाण्डीव धनुषको बार बार हाथमें लेता हुआ, लम्बी लम्बी सासें लेता हुआ हमें देखता है ॥ १२ ॥

गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः।
स्वरथं योजयित्वाशु निर्यात इति नः श्रुतम् ॥ १३ ॥

भीम भारी गदाको उठा करके शीघ्रता सहित अपने रथमें बैठकर चला गया है, ऐसा हमने सुना है ॥ १३ ॥

नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यष्टचन्द्रकम्।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥ १४ ॥

नकुल खड्ग और आठ चन्द्रमासे युक्त ढाल लेकर सहदेव और राजा युधिष्ठिर भी इशारोंसे अपने मनोगत भावोंको समझा गए हैं ॥ १४ ॥

ते त्वास्थाय रथान्सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान्।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान्सेनायोगाय निर्ययुः ॥ १५ ॥

वे लोग अनेक शस्त्रोंसे युक्त, रथों पर बैठकर और उन रथके समूहोंको भगाते हुए सेनाको एकत्रित करनेके लिए गए हैं ॥ १५ ॥

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

वे हमसे बहुत ही अपमानित हुए हैं, अतः वे हमें क्षमा नहीं करेंगे; भला द्रौपदीका क्लेश उनमेंसे कौन सह सकता है ? ॥ १६ ॥

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः।
एवमेतान्वशे कर्तुं शक्ष्यामो भरतर्षभ ॥ १७ ॥

हे भरतर्षभ ! तुम्हारा कल्याण हो, हम वनवासके अर्थ पाण्डवोंसे फिर जुआ खेलें, इसी प्रकार हम उनको वशमें कर सकेंगे ॥ १७ ॥

ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १८ ॥

जुएमें हार कर या तो वे या हम ही बारह वर्ष पर्यन्त मृगछाल धारण करके वनमें रहेंगे ॥ १८ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १९ ॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम्।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं दीव्यन्तु पाण्डवाः ॥ २० ॥

और तेरहवें वर्ष अपने भाइयोंके साथ अज्ञातावस्थामें रहें। उस बीचमें यदि हमें वा उन्हें कोई जान ले तो फिर बारह बरस हम या वे वनमें रहें। अबकी बार यही बाजी लगाकर जुआ खेला जाए, पाण्डव पांसोंको हाथोंमें लेकर फिर यह जुआ खेलें ॥ १९-२० ॥

एतत्कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसंपदम् ॥ २१ ॥

हे राजन् ! हे भरतर्षभ ! हमारा यह परम कर्तव्य है क्योंकि शकुनि अक्षविद्याके साथ पांसों-की संपत्तिको अच्छी प्रकारसे जानता है ॥ २१ ॥

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च।
सारवद्विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥ २२ ॥
ते च त्रयोदशे वर्षे पारयिष्यन्ति चेद्व्रतम्।
जेष्यामस्तान्वयं राजन्रोचतां ते परन्तप ॥ २३ ॥

हे राजन् ! हे परन्तप ! यदि वे लोग तेरह वर्षतक वनवास रूप व्रतको धारण करेंगे, तब तक राज्यमें हमारी जड जम जायेगी, तबअपने मित्रोंको लेकर बलवान् महासेना इकट्ठी करके उनको जीत लेंगे, यह मन्त्र आपको प्रिय लगे ॥ २२-२३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान्कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले– यदि वे दूर भी निकल गये हों तो भी उन्हें शीघ्र लौटाके ले आओ, पाण्डव आवें और पुनः जुआ खेलें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्च महारथः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले– तब द्रोण, कृप, सोमदत्त, बाल्हीक, विदुर, अश्वत्थामा, बलवान् युयुत्सु ॥ २५ ॥

भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥ २६ ॥

भूरिश्रवा, शन्तनुपुत्र भीष्म और महारथ विकर्ण, ये सब कहने लगे, अब जुआ न हो, सर्वत्र शान्ति हो ॥ २६ ॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम् ।
अकरोत्पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥ २७ ॥

परन्तु पुत्रको प्यार करनेवाले धृतराष्ट्रने व्यवहारको उत्तम रीतिसे जाननेवाले सब मित्रोंकी जुएकी इच्छा न होते हुए भी पाण्डवोंको बुलाने भेज दिया ॥ २७ ॥

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद्धर्मयुक्तं गान्धारी शोककर्शिता ॥ २८ ॥

हे महाराज ! तदनन्तर शोकसे पीडित पुत्रस्नेहसे युक्त गान्धारी धर्मात्मा राजा धृतराष्ट्रसे कहने लगी ॥ २८ ॥

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २९ ॥

जब यह दुर्योधन उत्पन्न हुआ था, तभी बुद्धिमान् विदुरने कहा था कि अच्छा हो, इस कुलकलङ्कको मार डालो ॥ २९ ॥

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३० ॥

हे भारत ! जो उत्पन्न होते ही सियारके समान शब्द करने लगा था, निश्चय करके यह कुलका नाशक है, हे कौरवो ! इस बातका ध्यान करो ॥ ३० ॥

मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ।
मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ॥ ३१ ॥

हे प्रभो ! इस अशिष्ट और मूर्ख लडकोंकी बातका अनुमोदन मत कीजिए। और इस प्रकार कुरुकुलके भयंकर नाशका कारण न बनिए ॥ ३१ ॥

बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद्धमेच्छान्तं च पावकम् ।
शमे धृतान्पुनः पार्थान्कोपयेत्को नु भारत ॥ ३२ ॥

पानीपर बंधे हुए बांधको कौन तोडना चाहेगा और बुझी हुई आगको कौन फिर फूंककर जलाना चाहेगा ? उसी प्रकार, हे भारत ! शान्तिसे बैठे हुए पाण्डवोंको कौन क्रोधित करना चाहेगा ?॥ ३२ ॥

स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ।
शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे वेतराय वा ॥ ३३ ॥

अजमीढवंशमें उत्पन्न धृतराष्ट्र ! यह आपको स्मरण तो है ही, फिर भी आपको स्मरण करा देना चाहती हूँ । हे राजन् ! दुर्बुद्धिको कल्याण वा हानिका मार्ग शास्त्र भी नहीं बता सकता ॥ ३३ ॥

न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद्राजन्कथंचन ।
त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! वृद्ध मनुष्य कभी लडकोंके अनुसार न चले । तुम्हारे पुत्र तुम्हारी आंखोंसे ही देखनेवाले बनें अर्थात् तुम्हारी आज्ञामें रहें, अपनी मर्यादाका उल्लंघन करके वे तुम्हारा त्याग न करें ॥ ३४ ॥

शमेन धर्मेण परस्य बुद्धया जाता बुद्धिः सास्तु ते मा प्रतीपा ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ३५ ॥

शमसे, धर्मसे और नीतिसे युक्त जो तुम्हारी बुद्धि है, वह वैसी ही बनी रहे, वह कभी उल्टी न हो, जो लक्ष्मी दुष्ट कर्मसे प्राप्त होती है, वह विनाशकारिणी होती है और जो उत्तमतासे प्राप्त होती है, वह प्रौढ है, पुत्र और पौत्रतक स्थिर रहती है ॥ ३५ ॥

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्ष्यामि निवारितुम् ॥ ३६ ॥

यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र धर्मदर्शिनी गान्धारीसे बोले, कि भले ही इस कुलका नाश हो जाय, पर मैं पुत्रोंको रोक नहीं सकता ॥ ३६ ॥

४

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं प्रकुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ २१९५ ॥

उनकी जैसी इच्छा है वैसा ही हो, पाण्डव पुनः आवें और मेरे पुत्र पाण्डवोंके साथ फिर जुआ खेलें ॥ ३७ ॥

महाभारतके सभापर्वमें छियासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ २१९५ ॥

: ६७ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब बहुत दूर गये हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी बोले ॥ १ ॥

उपस्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वामाह भारत ॥ २ ॥

हे राजन् भरतवंशी युधिष्ठिर ! आपके पिताने ऐसा कहा है कि सभा उपस्थित है, यहां आओ और अक्ष फेंककर जुआ खेलो ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले-- प्रारब्धके कारण पुरुष शुभ अशुभ सबको प्राप्त करता है, यदि पुनः हमको जुआ खेलना हो तो यह निश्चय है कि पुरुष शुभ और अशुभ कर्मसे निवृत्त नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

बूढेकी आज्ञासे पुनः जुआ खेलने जाना ही पडेगा, यद्यपि मैं जानता हूं कि, जुआ नाशकर है तथापि राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करनेमें असमर्थ हूं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इति ब्रुवन्निवृत्ते भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले— इस प्रकारसे कहते हुए और शकुनीकी मायाको जानते हुए भी युधिष्ठिर भाइयोंके समेत पुनः लौट आए और जुएके स्थानमें पहुंचे ॥ ५ ॥

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ६ ॥

वे पांचों महारथी भरतश्रेष्ठ अपने मित्रोंके हृदयोंको दुःखी करते हुए पुनः उस सभामें प्रविष्ट हुए ॥ ६ ॥

यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये ।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ७ ॥

सब लोगोंका विनाश करनेके लिए दैवके द्वारा प्रेरित होकर वे पाण्डव फिर जुएको शुरू करनेके लिए उस सभामें यथेच्छित जगहों पर बैठ गए ॥ ७ ॥

शकुनिरुवाच—

अमुञ्चत्स्थविरो यद्वो धनं पूजितमेव तत् ।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु मे भरतर्षभ ॥ ८ ॥

शकुनि बोले— हे भरतर्षभ ! युधिष्ठिर ! जो धन बूढेने आपको दे दिया वह हमें भी मान्य है, अब बहुत मूल्यवाली एक ही बाजीके बारेमें सुनो ॥ ८ ॥

वयं द्वादश वर्षाणि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ ९ ॥

यदि आप लोग जीत जाएं तो हम लोग हरिणका चर्म ओढकर बारह वर्षतक वनमें रहेंगे ॥ ९ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १० ॥

और तेरहवें वर्ष किसी एक बस्तीमें एक वर्षतक छिपकर रहेंगे, इसी बीच कोई जान लेगा तो हम फिर बारह वर्ष वनमें रहेंगे ॥ १० ॥

अस्माभिर्वा जिता यूयं वने वर्षाणि द्वादश ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः । ॥ ११ ॥

अथवा यदि हम जीत जाएंगे तो आप भी सब द्रौपदीके सहित मृगचर्म धारण करके बारह वर्ष वनमें रहें ॥ ११ ॥

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथ वेतरैः ॥ १२ ॥

जब इस प्रकार यथायोग्य रीतिसे तेरह वर्ष बीत जायें तो हमें या आपको फिर अपना अपना राज्य मिल जाएगा ॥ १२ ॥

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! हे भारत ! आओ इसी नियमसे पुनः पांसा फेंककर हमारे साथ जुआ खेलें ॥ १३ ॥

सभासदा ऊचुः—

अहो धिग्बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् ।
बुद्ध्या बोध्यं न बुध्यन्ते स्वयं च भरतर्षभाः ॥ १४ ॥

सभासद् बोले-- ओः !! धिक्कार है इस महान् संकटके समय भी इस दुर्योधनको इसके बन्धु बांधव उपदेश नहीं देते और ये भरतश्रेष्ठ कौरव स्वयं भी अपनी बुद्धिसे जानने योग्य मार्गको जाननेका प्रयत्न नहीं करते ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

जनप्रवादान्सुबहूनिति शृण्वन्नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसङ्गाच्च पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले-- इस प्रकारसे महाराज युधिष्ठिर अनेक प्रकारके पुरुषोंके दुर्वचन सुनते हुए भी लज्जा और धर्मके वशमें होकर पुनः द्यूत खेलने लगे ॥ १५ ॥

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्ययं न विनाशः स्यात्कुरूणामिति चिन्तयन् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर जानते हुए भी यह निश्चय करके कि कुरुवंशका नाश इस प्रकारसे न हो, पुनः जुआ खेलने लगे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे शकुने ! मेरे समान अपने धर्मको पालनेवाला राजा तुम्हारे द्वारा बुलाये जाने पर कैसे निवृत्त हो सकता है, अतएव मैं तुमसे जुआ खेल रहा हूं ॥ १७ ॥

शकुनि उवाच—

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम्।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासं च सर्वशः ॥ १८ ॥

शकुनि बोला— हे पाण्डवो! गाय, घोडा, बैल, असंख्य बकरी, हाथी, कोष, सुवर्ण सब दासी दास ॥ १८ ॥

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥ १९ ॥

यह सब हम वनवासके एक ही दांवपर लगाते हैं, तुम या हम जो हारें वह वनमें जाकर रहे ॥ १९ ॥

अनेन व्यवसायेन दीव्याम भरतर्षभ।
समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ॥ २० ॥

हे भरतर्षभ! हम इसी प्रतिज्ञासे जुआ खेल रहे हैं; हे भारत! एक ही बार पांसे फेंककर यह निश्चित कर लें ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥ २२१६ ॥

वैशम्पायन बोले— युधिष्ठिरने यह सब स्वीकार कर लिया और सुबल पुत्र शकुनीने पांसे उठाये और फेंककर शकुनि युधिष्ठिरसे बोले कि लो, मैं जीत गया ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें सडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ २२१६ ॥

: ६८ :

वनवासाय चक्रुस्ते मतिं पार्थाः पराजिताः।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥ १ ॥
अजिनैः संवृतान्दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान्।
प्रस्थितान्वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

तब हारे हुए कुन्तीपुत्रोंने वनवासके लिए निश्चय किया और क्रमसे मृग चर्म और वस्त्रोंको धारण किये शत्रुओंको दमन करनेवाले पाण्डवोंको राज्यसे भ्रष्ट और चर्म पहने वनको जाते हुए देखकर दुःशासन बोला ॥ १—२ ॥

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराभूताः पाण्डुपुत्रा विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥

महात्मा राजा दुर्योधनका राज्य अखण्ड हुआ और पाण्डव लोग हारकर महा विपत्तिको प्राप्त हुए हैं ॥ ३ ॥

अद्य देवाः संप्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा ज्येष्ठा भूयांसो यद्वयं परैः ॥ ४ ॥

आज सब देवता उत्तम और सुन्दर मार्गोंसे हमारी तरफ चले आ रहे हैं अर्थात् हम पर प्रसन्न हैं, क्योंकि हम लोग आज शत्रुओंकी अपेक्षा गुणमें बडे, अवस्थामें बडे और प्रशंसाके योग्य हो गए हैं ॥ ४ ॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र अनन्त नरकमें दीर्घकालके लिए गिरा दिए गये हैं, राज्य और सुखसे सदाके लिये रहित हो गये हैं ॥ ५ ॥

बलेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान्प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ६ ॥

जो बलके अभिमानसे उन्मत्त होकर धृतराष्ट्रके पुत्रों पर हंसते थे, वही पाण्डव आज जीते जाकर और धनरहित होकर वनको जायंगे ॥ ६ ॥

चित्रान्संनाहानवमुञ्चन्तु चैषां वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति ।
निवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः ॥ ७ ॥

विचित्र कवच और चमकनेवाले दिव्य वस्त्र इनके शरीर परसे उतार लिए जायें और शकुनिके द्वारा निश्चित की गई शर्तके अनुसार इन सबको मृगचर्म पहनाये जायें ॥ ७ ॥

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा विपर्यये षण्ढतिला इवाफलाः ॥८॥

जो सदा यही बुद्धि रखते थे कि "हमारे समान जगत्में कोई नहीं है" वे पाण्डव आज समझ जाएंगे कि हम नपुंसक और वीर्यहीन हैं और बांझ तिलके समान निष्फल हैं ॥ ८ ॥

अयं हि वासोदय ईदृशानां मनस्विनां कौरव मा भवेद्वः ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥

इस प्रकारके वीर पुरुष केवल यज्ञमें दीक्षित होने पर ही इस प्रकार मृग चर्म धारण करते हैं, पर देखो, इन बलवान् पाण्डवोंने यज्ञमें दीक्षित न होकर भी मृग चर्म पहन रखे हैं। हे कौरव! ऐसी दशा तुम्हारी कभी न हो ॥ ९ ॥

महाप्राज्ञः सोमको यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद्वै दुष्कृतं नेह सन्ति क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥

महाबुद्धिमान् सोमकवंशी राजा द्रुपदने अपनी कन्या द्रौपदीको पाण्डवोंको देकर बडा बुरा कार्य किया। क्योंकि द्रौपदीके नपुंसक पति ये पाण्डव अब किसी कामके नहीं रहे ॥१०॥

सूक्ष्मान्प्रावारानजिनानि चोदितान्दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि पतिं वृणीष्व यमिहान्यमिच्छसि ॥११॥

हे द्रौपदी ! वनमें थोडेसे पहने हुए वस्त्र तथा मृगचर्मको धारण किए हुए निर्धन तथा प्रतिष्ठारहित पाण्डवोंको वनमें देखकर तुम क्या प्रसन्नता प्राप्त करोगी ? यहांपर जिसे चाहो उसे पति बना लो ॥ ११ ॥

एते हि सर्वे कुरवः समेताः क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे न त्वां तपेत्कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥

यह सब कुरुवंशी जो यहां इकट्ठे हैं, वे बलवान्, चतुर और उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, इनमेंसे किसी एकको पति बना लो ताकि यह विपरीत काल तुम्हें दुःख न दे ॥ १२ ॥

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥ १३ ॥

जिस प्रकार सत्त्वहीन तिल बेकार होते हैं, जिस प्रकार चमडेमें भूसा भरकर तैय्यार किया गया पशु बेकार होता है और जिस प्रकार चावल रहित धान बेकार होता है, उसी प्रकार ये पाण्डव बेकार हैं ॥ १३ ॥

किं पाण्डवांस्त्वं पतितानुपास्से मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्थानश्रावयद्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥

नपुंसक और गिरे हुए इन पांडवोंकी सेवा करनेसे तुम्हें क्या लाभ है। जो तिल फल नहीं दे सकते, ऐसे तिलोंको बोने आदिके पीछे किया गया श्रम बेकार ही होता है। ऐसे निर्लज्ज और कठोर वाक्य पाण्डवोंको धृतराष्ट्रके पुत्रने सुनाये ॥ १४ ॥

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी निर्भर्त्स्योच्चैस्तं निगृह्यैव रोषात् ।
उवाचेदं सहसैवोपगम्य सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥

महाक्रोधी भीमसेन उन वचनोंको सुनके ऊंचे स्वरसे उसकी निन्दा करके और क्रोधसे बीचमें ही रोककर जैसे हिमाचलका सिंह सियारको दबाता है उसी प्रकार उस दुःशासनके पास जाकर यह बोला ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच—

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले– रे दुष्ट दुःशासन! पापियोंके समान तू निष्फल बक रहा है, यह जो तू राजाओंके बीचमें गाल बजा रहा है वह शकुनिकी द्यूत विद्याके कारण ही ॥ १६ ॥

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन्मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥

जैसे तू वचनके बाणसे हमको बींध रहा है वैसे ही मैं युद्धमें अपने बाणोंसे तेरे मर्मोंको काटता हुआ तुझे इनका स्मरण कराऊंगा ॥ १७ ॥

ये च त्वामनुवर्तन्ते कामलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान्नेष्यामि यमसादनम् ॥ १८ ॥

जो लोग काम और लोभके वशमें होके तेरी आज्ञाके अनुसार चल रहे हैं, तेरी रक्षा करनेवाले हैं, उनको परिवारोंके सहित यमराजके घर भेजूंगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं दुःखाभिभूतं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं गौर्गौरिति स्माह्वयन्मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– मृगचर्मको धारण किए हुए और धर्मके कारण (शत्रुओंके नाशके) निरुद्ध मार्गवाले भीमके इस प्रकार बोलनेपर कौरवोंमें लज्जाको छोडकर दुःशासन 'गौ गौ' (ये पाण्डव बेचारे गाय हैं) कहकर उस दुःखसे सन्तप्त भीमके चारों ओर नाचने लगा ॥ १९ ॥

भीम उवाच—

नृशंसं परुषं क्रूरं शक्यं दुःशासन त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥ २० ॥

भीम बोले– हे निर्लज्ज दुःशासन! तू कठोर और क्रूर वाक्य कह सकता है, क्योंकि तेरे विना कौन ऐसा है जो छलसे धन लेकर अपनी प्रशंसा करे ॥ २० ॥

मा ह स्म सुकृताँल्लोकान्गच्छेत्पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षसि भित्त्वा ते न पिबेच्छोणितं रणे ॥ २१ ॥

यदि युद्धमें तेरी छातीको चीरकर भीमसेन खून न पिये तो पृथा पुत्र वृकोदर भीम उत्तम लोकोंको प्राप्त न हो ॥ २१ ॥

धार्तराष्ट्रान्रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
शमं गन्तास्मि न चिरात्सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंको सब धनुर्धारियोंके देखते देखते मारकर शीघ्र ही शान्तिको पाऊंगा, यह मैं आपसे सत्य कहता हूं ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् ।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन बोले— जब पाण्डव लोग सभासे चले तब मूर्ख राजा दुर्योधन प्रसन्न होकर मजाक उडानेके लिए सिंहके समान गतिवाले भीमसेनकी चालके समान चालसे चलने लगा ॥२३॥

नैतावता कृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः ।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥

भीमसेनने अपने आधे शरीरको टेढा करके उससे कहा, हे मूढ ! इससे क्या होता है, शीघ्र ही तुझे साथियोंके सहित मारकर तुझे इस प्रसंगका स्मरण कराऊंगा ॥ २४ ॥

एतत्समीक्ष्यात्मनि चावमानं नियम्य मन्युं बलवान्स मानी ।
राजानुगः संसदि कौरवाणां विनिष्क्रमन्वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

अपना अपमान और अधिक होता हुआ देखकर उस बलवान् और स्वाभिमानी भीमसेनने अपने क्रोधको रोक लिया, पर कौरवोंकी सभासे बाहर निकलकर राजाके पीछे चलते हुए भीमने यह वचन कहा ॥ २५ ॥

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः ।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥

मैं दुर्योधनको मारूंगा, अर्जुन कर्णको मारेंगे, पांसोंके छली शकुनिको सहदेव मारेंगे ॥२६॥

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः ।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥

फिर मैं सभाके बीचमें यह बडी बात कहता हूं, जब हमारा युद्ध होगा तब देवता हमारी प्रतिज्ञाओंको सत्य करेंगे ॥ २७ ॥

सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥

युद्धमें इस पापी दुर्योधनको गदासे मारूंगा, इसके सिरको अपने पैरसे पृथ्वीपर कुचलूंगा ॥ २८ ॥

×

वाक्यशूरस्य चैवास्य पुरुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

वचनमें ही वीरता दिखानेवाले, कठोर शब्द बोलनेवाले दुरात्मा इस दुःशासनके खूनको सिंहके समान पीऊंगा ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच—

नैव वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम् ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद्भविष्यति ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले— हे भीम ! इस प्रकार केवल बोलनेसे ही वीरोंका पराक्रम नहीं जाना जाता, अबसे चौदहवें वर्षमें जो होगा उसे ये लोग देख ही लेंगे ॥ ३० ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासनका रुधिर पृथिवी पीवेगी ॥ ३१ ॥

असूयितारं वक्तारं प्रस्रष्टारं दुरात्मनाम् ।
भीमसेन नियोगात्ते हन्ताहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥

हे भीमसेन ! ईर्ष्या करनेवाले, निन्दा करनेवाले, दुरात्मा कर्णको तुम्हारी आज्ञासे युद्धमें मैं मारूंगा ॥ ३२ ॥

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥

और भीमकी प्रसन्नताके लिए यह अर्जुन प्रतिज्ञा करता है, कि कर्ण और कर्णके साथियों को मैं बाणोंसे मारूंगा ॥ ३३ ॥

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वाञ्शितैर्बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥

जो और राजा लोग बुद्धिके भ्रमसे मेरे साथ युद्ध करेंगे, उन सबको सैंकडों बाणोंके द्वारा मैं यमके घरको भेजूंगा ॥ ३४ ॥

चलेद्धि हिमवान्स्थानान्निष्प्रभः स्याद्दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात्प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥ ३५ ॥

यदि मेरी यह सत्यप्रतिज्ञा पूर्ण न होगी तो समझ लो कि हिमाचल अपने स्थानसे चलायमान हो जायेगा, सूर्य प्रकाशरहित हो जायेगा और चन्द्रमाकी शीतलता नष्ट हो जायेगी ॥ ३५॥

न प्रदास्यति चेद्राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनो हि सत्कृत्य सत्यमेतद्भविष्यति ॥ ३६ ॥

आजसे चौदहवें वर्षमें यदि दुर्योधन आदरपूर्वक हमको राज्य न देगा तो यह मेरी प्रतिज्ञा अवश्य सत्य होगी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान्माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन बोले— अर्जुनके ऐसे कहने पर श्रीमान् प्रतापी माद्रीनन्दन सहदेव भारी भुजाको हिलाकर क्रोधसे लालनेत्र करके सर्पके समान श्वास लेते हुए शकुनिको मारनेके इच्छुक होकर ऐसा वचन बोले ॥ ३७–३८ ॥

अक्षान्यान्मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥

हे मूढ ! हे गान्धार देशीय जनोंके यशनाशक ! तू जिनको अक्ष मानता है, वे अक्ष नहीं हैं, अपितु युद्धमें मेरे द्वारा स्वीकृत तीक्ष्ण बाण ही हैं ॥ ३९ ॥

यथा चैवोक्तवान्भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।
कर्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥

भीमसेनने बन्धुबान्धवोंके सहित तुझे लक्ष्य करके वचन कहा है, मैं उस कर्मको अवश्य करूंगा । तू भी आजसे अपने सब काम पूरा कर डाल ॥ ४० ॥

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वां विक्रम्य सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥

हे शकुनि ! यदि तू क्षत्रियोंके धर्मानुसार युद्धमें खडा होगा, तो पराक्रमसे भाइयों सहित युद्धमें शीघ्र ही तुझे मारूंगा ॥ ४१ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशां पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! सहदेवका वचन सुनकर मनुष्योंमें परम सुन्दर नकुल भी यह वचन बोले ॥ ४२ ॥

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन्धृतराष्ट्रजैः।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥

राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदीको इस जुएमें धृतराष्ट्रके जिन पुत्रोंने दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिए रूखे वचन सुनाये हैं ॥ ४३ ॥

तान्धार्तराष्ट्रान्दुर्वृत्तान्मुमूर्षून्कालचोदितान्।
दर्शयिष्यामि भूयिष्ठमहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥

उन कालकी प्रेरणासे मृत्युकी इच्छा करनेवाले, दुर्व्यवहार करनेवाले धृतराष्ट्रके पुत्रोंमेंसे बहुतोंको मैं यमका घर दिखा दूंगा ॥ ४४ ॥

निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन्।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ॥ ४५ ॥

महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे द्रौपदीकी दशाकी याद करके, बहुत शीघ्र ही पृथिवीको धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे सूनी करूंगा ॥ ४५ ॥

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ २२६२ ॥

इस प्रकारसे वह सब विशाल भुजधारी नरसिंह पाण्डव अनेक प्रतिज्ञायें करके धृतराष्ट्रके पास पहुंचे ॥ ४६ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥ २२६२ ॥

: ६९ :

युधिष्ठिर उवाच—

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— मैं भरतवंशियों तथा वृद्ध पितामह राजा सोमदत्त तथा राजा बाल्हीकसे ॥ १ ॥

द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥

द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा और राजाओं, विदुर, धृतराष्ट्र, धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे ॥ २ ॥

युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान्सभासदः ।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥

युयुत्सु, सञ्जय और अन्य सभासदोंसे अब जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। आप सबसे आज्ञा लेकर मैं वन जाऊंगा और फिर आकर आप लोगोंसे मिलूंगा ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

न च किंचित्तदोचुस्ते ह्रिया सन्तो युधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले-- सब लोगोंने लज्जित होकर युधिष्ठिरसे कुछ न कहा, किन्तु बुद्धिमान् युधिष्ठिरका सबने मनसे ही कल्याण चाहा ॥ ४ ॥

विदुर उवाच—

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥

विदुर बोले— आर्या राजपुत्री कुन्ती सुकुमारी और वृद्धा है, नित्य ही उन्हें सुख भोगना उचित है, इस कारणसे वह वनको जानेके योग्य नहीं हैं ॥ ५ ॥

इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥

वह आदरके साथ यहीं मेरे घर रहेंगी, हे कुन्तीपुत्रो ! तुम लोग इसे समझो। तुम्हारा सदा आरोग्य हो ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद्व्यथते वै पराजयात् ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यही मेरा उपदेश समझो, कि कोई भी अधर्मसे हार जानेके कारण अपनी हारमें दुःखी नहीं होता ॥ ७ ॥

त्वं वै धर्मान्विजानीषे युधां वेत्ता धनंजयः ।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥ ८ ॥

तुम धर्मको जानते हो और अर्जुन युद्धोंको जाननेवाले हैं, भीमसेन शत्रुओंको मारनेवाले और नकुल धन इकट्ठा करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥ ९ ॥

सहदेव नियममें चलनेवाले और धौम्य ब्रह्मको जाननेवालोंमें उत्तम हैं। द्रौपदी धर्म और अर्थमें चतुर और धर्मका आचरण करनेवाली है ॥ ९ ॥

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियवादिनः ।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥ १० ॥

तुम लोग आपसमें एक दूसरेके प्रिय हो, सब परस्पर मीठी वाणी बोलनेवाले हो, शत्रु तुम लोगोंमें फूट नहीं डाल सकता, तुमको यहां कौन नहीं चाहेगा ? ॥ १० ॥

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत ।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽच्युत ॥ ११ ॥

हे भारत ! यह तुम्हारे मनकी शान्त और निश्चल स्थिति तुम्हारा सब प्रकारसे कल्याण करनेवाली है। हे अच्युत ! शत्रु चाहे इन्द्रके तुल्य भी क्यों न हो, इसे नहीं जीत सकता ॥ ११ ॥

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १२ ॥

पहिले हिमाचल पर्वतपर मेरु सावर्णिने तुमको उपदेश दिया था हस्तिनापुरमें कृष्णद्वैपायन व्यासने तुमको उपदेश दिया था ॥ १२ ॥

भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शंभुना ।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥ १३ ॥

भृगुतुङ्ग क्षेत्रमें परशुरामने, दृषद्वती नदीके तट पर महादेवने तुमको उपदेश दिया है, अंजन पर्वतमें महर्षि असितका उपदेश भी तुमने सुना है ॥ १३ ॥

द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ।
मा हार्षीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ॥ १४ ॥

नारद तुमसे सदा मिलते रहेंगे, धौम्य तुम्हारे पुरोहित हैं, ऋषियोंसे पूजित बुद्धिको किसी भी संकटमें तुम त्याग न करना ॥ १४ ॥

पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ।
शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन्धर्मोपसेवया ॥ १५ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! अपनी बुद्धिसे तुमने इलाके पुत्र पुरूरवाको जीत लिया है और बलसे अन्य राजाओंको जीत लिया है, धर्मके आचरणसे ऋषियोंको जीत लिया है ॥ १५ ॥

ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ।
विसर्गे चैव कौवेरे वारुणे चैव संयमे ॥ १६ ॥

मनकी धारणासे इन्द्रकी जय, क्रोधको जीतनेमें यमराजकी जय, दानमें कुबेरकी जय और इंद्रियोंको वश करनेमें वरुणकी जय तुमको प्राप्त हो ॥ १६ ॥

आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ।
भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ॥ १७ ॥

परोपकारके लिए अपने शरीरको भी दे देना, सौम्यभाव, जीवन ये गुण जलसे सीखो, भूमिसे क्षमा, सम्पूर्ण तेज सूर्यमण्डलसे ॥ १७ ॥

वायोर्बलं विद्धि स त्वं भूतेभ्यश्चात्मसंभवम् ।
अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यामि पुनरागतान् ॥ १८ ॥

वायुसे बल और पराक्रम सीखना और सम्पूर्ण प्राणियोंसे तुम्हें आत्माभिमान प्राप्त हो । तुम निरोग रहो, तुम्हारा कल्याण हो, फिर लौटकर आये हुए तुमको मैं देखूंगा ॥ १८ ॥

आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ।
यथावत्प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! आपद्धर्म, कठिन काम और सब तरहके कार्य करनेके अवसरों पर तथा अन्य अवसरों पर भी यथायोग्य रीतिसे व्यवहार करते जाओ ॥ १९ ॥

आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ॥ २० ॥

हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! तुम्हें अनुमति है, तुम जाओ, तुम्हारा कल्याण हो । कृतार्थ और कल्याण युक्त तुमको फिर आया हुआ हम लोग देखें ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ २२८३ ॥

वैशम्पायन बोले— विदुरके ऐसे कहने पर सत्य विक्रमी युधिष्ठिरने तथास्तु कहके भीष्म और द्रोणाचार्यको प्रणाम करके प्रस्थान किया ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ २२८३ ॥

: ७० :

वैशम्पायन उवाच—

तस्मिन्संप्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम् ।
आपृच्छद्भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— युधिष्ठिरके चलने पर दुःखसे अत्यन्त व्याकुल द्रौपदीने यशस्विनी कुन्तीकी वन्दना तथा और स्त्रियोंसे मिलकर उनकी आज्ञा ली ॥ १ ॥

यथार्हं वन्दनाश्लेषान्कृत्वा गन्तुमियेष सा।
ततो निनादः सुमहान्पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥

यथायोग्योंको वन्दना करके और अन्योंको गलेसे लगाकर द्रौपदीने जानेकी इच्छा की, तब पाण्डवोंके रनिवासमें हाहाकार मच गया ॥ २ ॥

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम्।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद्वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

कुन्ती भी द्रौपदीको जाती हुई देखकर बहुत सन्तापसे युक्त और शोकसे विह्वल होकर वाणीसे कष्टके साथ यह वचन बोली ॥ ३ ॥

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥ ४ ॥

हे पुत्रि ! इस महान् दुःखको पाकर तुमको शोक करना नहीं चाहिये, क्योंकि तुम स्त्रियोंके धर्मको जाननेवाली, शील और आचारसे युक्त हो ॥ ४ ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन्प्रति शुचिस्मिते।
साध्वीगुणसमाधानैर्भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥

हे शुचिस्मिते ! तुम्हें मैं क्या उपदेश करूं, तुम स्वयं ही साध्वी और गुणयुक्त हो, तुमने दोनों कुलोंको आभूषित किया है ॥ ५ ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥

हे पापवर्जिते ! यह कुरुलोग भाग्यवान् हैं जो तुमने इन्हें जलाया नहीं। तुम सुखसे जाओ मुझ माताके वात्सल्यसे तुम्हारी वृद्धि हो ॥ ६ ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैक्लव्यं नोपजायते।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

होनेवाले कार्योंमें स्त्रियोंके मनमें विकार नहीं होता, बडे जनोंके धर्मसे तुम रक्षित हो, शीघ्र ही तुम्हें कल्याण प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन्।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नास्य सीदेन्महन्मनः ॥ ८ ॥

मेरे पुत्र सहदेवकी वनमें रहते हुए सदा रखवाली करना, जिससे महामनस्वी यह सहदेव दुःख पाकर शोक न करे ॥ ८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेश्यभिनिर्ययौ ॥ ९ ॥

देवी द्रौपदी तथास्तु कहके नेत्रोंसे आंसू बहाती हुई आर्तवके रक्तसे गीले एक वस्त्रको पहिने हुए, बालोंको खोले चली ॥ ९ ॥

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथापश्यत्सुतान्सर्वान्हृताभरणवाससः ॥ १० ॥
रुरुचर्मावृततनून्ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।
परैः परीतान्संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ॥ ११ ॥

उस रोती तथा जाती हुईके पीछे पीछे कुन्ती भी बहुत दुःखित होकर चली । पश्चात् अलंकार और वस्त्ररहित, मृगचर्म ओढे हुए, लज्जासे कुछ नीचा मुख किये हुए, अपने पुत्रोंको, प्रसन्न मुखवाले शत्रुओंसे और शोकयुक्त मित्रोंसे घिरा हुआ देखा ॥ १०-११ ॥

तदवस्थान्सुतान्सर्वानुपसृत्यातिवत्सला ।
सस्वजानावदच्छोकात्तत्तद्विलपती बहु ॥ १२ ॥

उस दशामें स्थित पुत्रोंको देखकर उनके पास जाकर मातृ-प्रेमसे पुत्रोंको गलेसे लगाकर बहुत विलाप करने लगी ॥ १२ ॥

कथं सद्धर्मचारित्रवृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान्दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान्सदा ॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात्कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजं चेदमागः पश्यामि वो धिया ॥ १४ ॥

सत्यधर्मको करनेवाले शुद्ध-वृत्ति और स्थितिवालोंको, दृढभक्त तथा देवताओंकी पूजा करनेवालोंको दुःख कैसे प्राप्त हुआ, विधिकी यह कैसी उलटी गति हुई । यह किसके अनिष्ट चिन्तनसे तुम्हारे ऊपर यह संकट आया है, इस बातका मैं विचार कर रही हूँ ॥ १३-१४ ॥

स्यात्तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥ १५ ॥

शायद यह मेरे ही भाग्यका दोष हो, जो मैंने उत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी दुःख भोगनेके वास्ते तुम्हें उत्पन्न किया था ॥ १५ ॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वनेष्वृद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥ १६ ॥

वीर्य, सत्त्व, बल, उत्साह और तेज आदि गुणोंसे युक्त होनेपर भी वैभव नष्ट हो जानेके कारण दीन हुए हुए तुम दुर्गम वनोंमें किसी तरह रहोगे ? ॥ १६ ॥

यद्येतदहमज्ञास्यं वनवासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥ १७ ॥

यदि पहले ही मैं जान जाती कि वनमें रहना ही तुम्हारा निश्चय है, तो पाण्डुके मरनेके पश्चात् शतशृङ्ग पर्वतसे हस्तिनापुरमें कभी न आती ॥ १७ ॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसंप्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत्प्रियाम् ॥ १८ ॥

मैं तुम्हारे तप और बुद्धियुक्त पिताको धन्य मानती हूं जिन्हें पुत्रोंके सम्बन्धमें इस मानसिक दुःखको सहन करनेके पूर्व ही स्वर्ग जानेकी इच्छा हो गई ॥ १८ ॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्येऽद्य माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव हि ॥ १९ ॥

धर्मज्ञ कल्याणी माद्रीको भी मैं धन्य मानती हूं जो इन्द्रियोंसे जाननेके अयोग्य उस परम गतिको प्राप्त हो गई ॥ १९ ॥

रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिगिमां क्लेशभागिनीम् ॥ २० ॥

उस माद्रीने अपने प्रेम, बुद्धि और (परलोक) गमनसे मुझे ठग लिया । जिसे केवल जीना ही प्यारा है, ऐसी मुझ दुःखिनीको धिक्कार है ॥ २० ॥

एवं विलपतीं कुन्तीमभिसान्त्व्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ २१ ॥

इस प्रकारसे विलाप करती हुई कुन्तीको प्रणाम करके और शान्त करके, दुःखसे भरे हुए पाण्डवलोग वनको चले गये ॥ २१ ॥

विदुरादयश्च तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयन्गृहं क्षत्तुः स्वयमार्ततराः शनैः ॥ २२ ॥

विदुर आदि भी उस दुःखिनी कुन्तीको बातोंसे समझाकर और स्वयं भी दुःखी होकर धीरे धीरे विदुरके घर ले गये ॥ २२ ॥

राजा च धृतराष्ट्रः स शोकाकुलितचेतनः ।
क्षत्तुः संप्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ २३ ॥

राजा धृतराष्ट्रने शोकसे व्याकुल और चञ्चलचित्त होके विदुरके पास दूत भेजा और कहलवाया कि " जल्दी आओ " ॥ २३ ॥

तलो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत्संविग्नो धृतराष्ट्रो नराधिपः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥ २३०७ ॥

तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके घर पर गये, तब व्याकुल होकर नराधिप धृतराष्ट्रने विदुरसे पूछा ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ २३०७ ॥

: ७१ :

धृतराष्ट्र उवाच—

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च तावुभौ ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे क्षत्त ! कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये पांचों पाण्डुपुत्र किस प्रकारसे वनको जा रहे हैं ? ॥ १ ॥

धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी वा तपस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषामङ्गविचेष्टितम् ॥ २ ॥

धौम्य और तपस्विनी द्रौपदी कैसे वनको जा रही है, यह सब सुननेकी इच्छा करता हूं, तुम उनकी चेष्टा हमसे कहो ॥ २ ॥

विदुर उवाच—

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहू विशालौ कृत्वा तु भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ३ ॥

विदुर बोले— कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर वस्त्रसे अपने मुखको छिपाकर जा रहे हैं, भीम अपनी विशाल बाहुओंको ऊपर उठाकर जा रहे हैं ॥ ३ ॥

सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ४ ॥

अर्जुन बालू उडाते उडाते राजाके पीछे गमन कर रहे हैं, माद्रीके पुत्र सहदेव अपने मुखमें मिट्टी पोतते हुए जा रहे हैं ॥ ४ ॥

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ५ ॥

अत्यन्त सुन्दर नकुल भी विह्वलचित्त होकर अपने सब शरीरको मिट्टीसे पोतकर राजाके पीछे जा रहे हैं ॥ ५ ॥

कृष्णा केशैः प्रतिच्छाद्य मुखमायतलोचना।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ६॥

विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी द्रौपदी बालोंसे मुखको छिपाकर राजाके पीछे रोती हुई चली जा रही है ॥ ६॥

धौम्यो याम्यानि सामानि रौद्राणि च विशां पते।
गायन्गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ७॥

हे राजन्! हाथमें कुश लिये हुए धौम्य भी यम और रुद्र देवोंके साम गाते हुए रास्तेपर चले जा रहे हैं ॥ ७॥

धृतराष्ट्र उवाच—

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ८॥

धृतराष्ट्र बोले— हे विदुर! पाण्डव लोग अनेक प्रकारके रूप बनाकर बनको जो जा रहे हैं, इसमें क्या कारण है, वह तुम मुझसे कहो ॥ ८॥

विदुर उवाच—

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ ९॥

विदुर बोले— यद्यपि तुम्हारे पुत्रोंसे छले गये हैं, राज्य और धन छीन लिया गया है, तथापि बुद्धिमान् धर्मराजकी बुद्धि धर्मसे विचलित नहीं हुई ॥ ९॥

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत।
निकृत्या क्रोधसंतप्तो नोन्मीलयति लोचने ॥ १०॥

हे राजन्! महाराज युधिष्ठिर आपके पुत्रोंपर सदा दया करते आए हैं, फिर भी तुम्हारे पुत्रोंने छलसे उन्हें हराया, अतएव क्रोधसे संतप्त होकर आंखें नहीं खोलते ॥ १०॥

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद्गच्छति पाण्डवः ॥ ११॥

अपनी घोर दृष्टिसे इन्हें नहीं जलाऊंगा" यह सोचकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुंह छिपाये चले जा रहे हैं ॥ ११॥

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥ १२॥

हे भरतश्रेष्ठ! जिस निमित्त भीमसेन हाथोंको ऊपर किए चले जा रहे हैं उसका कारण हमसे सुनिये, भीम समझते हैं कि बाहुबलमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ १२॥

बाहू विशालौ कृत्वा तु तेन भीमोऽपि गच्छति ।
बाहू दर्शयमानो हि बाहुद्रविणदर्पितः ।
चिकीर्षन्कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ॥ १३ ॥

इसीलिए अपने बाहुओंकी सम्पत्ति पर अभिमान करनेवाले वे भीम अपनी भुजाओंको फुलाकर उन्हें दिखाते हुए तथा अपनी भुजारूपी सम्पत्तिके अनुरूप ही शत्रुओंसे बदला लेनेके कामको करनेकी इच्छा करते हुए जा रहे हैं ॥ १३ ॥

प्रदिशञ्शरसंपातान्कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ।
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ॥ १४ ॥

इस अवसर पर जो कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन बालू फेंकते हुए राजाके पीछे जा रहे हैं, वह मानों इस रूपमें बाण वर्षाकी सूचना दे रहे हैं ॥ १४ ॥

असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १५ ॥

हे भारत धृतराष्ट्र ! आज जिस प्रकार उसके द्वारा उडाई गई धूल सतत गिर रही है, उसी प्रकार वह शत्रुओंपर सतत बाण वर्षा करेंगे ॥ १५ ॥

न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १६ ॥

हे भारत ! अब मेरे मुखको कोई न पहचान सके, इसलिए सहदेव मुखपर मिट्टी पोतकर उसी मुंहसे जा रहे हैं ॥ १६ ॥

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।
पांसूपचितसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! मार्गमें स्त्रियोंके मन अपनी ओर आकर्षित न करूं इसलिये नकुल सब अङ्गमें मिट्टी पोतकर उसी शरीरसे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

एकवस्त्रा तु रुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणिताक्तार्द्रवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

एक वस्त्र पहने हुई, रोती हुई, खुले केशवाली रजस्वला, रुधिरसे गीले वस्त्रवाली द्रौपदी यह कहती जा रही है ॥ १८ ॥

यत्कृतेऽहमिमां प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ १९ ॥

कि जिनके करनेसे मेरी यह दशा हुई है, अबसे चौदहवें वर्ष उनकी स्त्रियां भी पति, पुत्र, भाई और प्यारे पुरुषोंके मर जानेसे ॥ १९ ॥

बन्धुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः।
एवं कृतोदका नार्यः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २० ॥

बहुत रुधिरसे युक्त शरीरवाली, खुले केशवाली, रजस्वला तथा उत्तर कार्यमें जल आदि देनेके बाद शोकसे धूलमें लोटनेके कारण धूलसे युक्त होकर हस्तिनापुरमें प्रवेश करेंगी ॥ २० ॥

कृत्वा तु नैर्ऋतान्दर्भान्धीरो धौम्यः पुरोहितः।
सामानि गायन्याम्यानि पुरतो याति भारत ॥ २१ ॥

हे भारत! कुशाओंकी नोकोंको नैर्ऋत्य दिशाकी तरफ करके यम देव देवतावाले सामवेदीय मन्त्र गाते हुए बुद्धिमान् पुरोहित धौम्य आगे जा रहे हैं ॥ २१ ॥

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥ २२ ॥

जब महायुद्धमें सर्व कौरव मारे जायेंगे तब उनके गुरु भी इन्हीं मन्त्रोंका गान करेंगे। इस प्रकार कहते हुए धौम्य भी जा रहे हैं ॥ २२ ॥

हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम्।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म समन्ततः ॥ २३ ॥

हे महाराज! नगरवासी प्रजागण भी दुःखी होकर चारों ओर यों कह कह रो रहे हैं, हाय! हाय! देखो यह हमारे स्वामी इस प्रकार वनको जा रहे हैं ॥ २३ ॥

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम्।
कथयन्तः स्म कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥ २४ ॥

इस प्रकारसे मनस्वी कुन्तीके पुत्र आकार और इंगितोंसे अपने मनोगत अभिप्रायको प्रकट करते हुए वनको जा रहे हैं ॥ २४ ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात्।
अनभ्रे विद्युतश्चासन्भूमिश्च समकम्पत ॥ २५ ॥

इस प्रकारसे जब वे पुरुषव्याघ्र हस्तिनापुरसे चले, तो बिना बादलके ही बिजली चमकने लगी और भूमि कांपने लगी ॥ २५ ॥

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशां पते।
उल्का चाप्यपसव्यं तु परं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २६ ॥

हे राजन्! अकालमें ही सूर्यको राहुने ग्रस लिया और एक उल्का भी नगरकी बाईं तरफसे प्रदक्षिणा करते हुए फट गई ॥ २६ ॥

प्रव्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ २७ ॥

हे राजन्! मांस खानेवाले गिद्ध सियार और कौव्वे देवताओंके स्थान, स्मशान, कोठे और अटारियोंपर बैठकर बोलने लगे ॥ २७ ॥

एवमेते महोत्पाता वनं गच्छति पाण्डवे ।
भारतानामभावाय राजन्दुर्मन्त्रिते तव ॥ २८ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी बुरी सलाहके कारण पाण्डवोंके वन जाते समय इस प्रकार भरतवंशियोंके नाशकी सूचना देनेवाले ये महाभयंकर उत्पात हो रहे हैं ॥ २८ ॥

नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ २९ ॥

इसी समय महर्षियोंसे घिरे हुए नारद सभामें कौरवोंके आगे आकर उपस्थित हो गए और आते ही उन्होंने यह भयंकर वाक्य कहा ॥ २९ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३० ॥

आजसे चौदहवें वर्ष दुर्योधनके अपराध और भीमसेन तथा अर्जुनके बलसे समस्त कुरुकुल नष्ट हो जायगा ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद्देवर्षिसत्तमः ॥ ३१ ॥

इस प्रकारसे कहकर अतिशय ब्रह्मतेजकी लक्ष्मीको धारण किये हुए ब्रह्मऋषियोंमें उत्तम भगवान् नारद आकाशमें जाकर अन्तर्ध्यान हो गए ॥ ३१ ॥

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि इन सबने द्रोणाचार्यको द्वीप अर्थात् अपना एक-मात्र सहारा जाना और यह मानकर सब राज्य उनको अर्पित कर दिया ॥ ३२ ॥

अथाब्रवीत्ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥ ३३ ॥

तब द्रोणाचार्यने क्रोधी दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और सब कौरवोंसे कहा ॥ ३३ ॥

अवध्यान्पाण्डवानाहुर्देवपुत्रान्द्विजातयः ।
अहं तु शरणं प्राप्तान्वर्तमानो यथाबलम् ॥ ३४ ॥
गतान्सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान्सराजकान् ।
नोत्सहे समभित्यक्तुं दैवमूलमतः परम् ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणोंने देवोंके पुत्र पाण्डवोंको अवध्य कहा है, तथापि मैं अपने बलके अनुसार भक्ति-पूर्वक सब प्रकारसे शरणमें आए हुए राजा सहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी रक्षा करूंगा, मैं अब इन कौरवोंका त्याग नहीं कर सकता, फिर भी इसके बाद प्रारब्ध ही सबका कारण है ॥ ३४–३५ ॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति कौरवाः ॥ ३६ ॥

आज पाण्डवलोग जुएमें हारकर धर्मपूर्वक वनको जा रहे हैं और, हे कौरवो ! वे बारह वर्ष वनमें रहेंगे ॥ ३६ ॥

चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं प्रत्यानयिष्यन्ति मम दुःखाय पाण्डवाः ॥ ३७ ॥

वे ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करके क्रोध और असहिष्णुताके वशमें होकर वे पाण्डव तुमसे अपनी शत्रुताका बदला निकालेंगे और उनका यह कार्य मेरे दुःखका कारण बनेगा ॥ ३७ ॥

मया तु भ्रंशितो राज्याद्द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजत्क्रोधाद्वधाय मम भारत ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! मैंने मित्रताके युद्धमें द्रुपदको राज्यसे भ्रष्ट किया था, अतएव उसने क्रोधमें आकर मेरे वधके लिए एक यज्ञ किया ॥ ३८ ॥

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात्सुमध्यमाम् ॥ ३९ ॥

याज और उपयाज मुनियोंके तपसे उसने यज्ञवेदिके मध्यसे धृष्टद्युम्न पुत्र और सुमध्यमा द्रौपदी पुत्रीको अग्निसे प्राप्त किया ॥ ३९ ॥

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान्कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादिति मां भयमाविशत् ॥ ४० ॥

वह धृष्टद्युम्न देवोंके द्वारा दिया गया, जन्मसे ही अग्निके समान तेजस्वी वर्णवाला, धनुष, बाण और कवच धारण करनेवाला है और मैं मरणधर्मा मनुष्य हूँ, इसलिए मुझे उससे भय लगता है ॥ ४ ॥

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः पुरुषर्षभः ।
सृष्टप्राणो भृशतरं तस्माद्योत्स्ये तवारिभिः ॥ ४१ ॥

वह पुरुषश्रेष्ठ द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षमें है, तो भी, हे दुर्योधन ! मैं प्राणोंका मोह छोडकर तुम्हारे शत्रुओंसे लडूंगा ॥ ४१ ॥

मद्वधाय श्रुतो ह्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ।
नूनं सोऽयमनुप्राप्तस्त्वत्कृते कालपर्ययः ॥ ४२ ॥

यह धृष्टद्युम्न संसारमें बहुत प्रसिद्ध है और यह भी सर्व प्रसिद्ध ही है कि वह मेरे वधके लिए ही उत्पन्न हुआ है, हे दुर्योधन ! तेरे कार्यके लिए मरनेका यह उत्तम अवसर मेरे लिए निश्चयसे प्राप्त हो गया है ॥ ४२ ॥

त्वरिताः कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ।
मुहूर्तं सुखमेवैतत्तालच्छायेव हैमनी ॥ ४३ ॥

तुम शीघ्र ही अपना कल्याण कर लो, (पाण्डवोंको वन भेज देने रूप) इतने कार्यसे ही तुम्हारा कल्याण होनेवाला नहीं है। यह तुम्हारा सब सुख वैसा ही क्षणभंगी है, जैसी हेमन्तऋतुमें तालकी छाया ॥ ४३ ॥

यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत्प्राप्स्यथ वैशसम् ॥ ४४ ॥

महायज्ञोंको करो, भोगोंको भोगो, दान दो, क्योंकि आजसे चौदहवें वर्ष तुम सब महा नाशको प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

दुर्योधन निशम्यैतत्प्रतिपद्य यथेच्छसि ।
साम वा पाण्डवेयेषु प्रयुङ्क्ष्व यदि मन्यसे ॥ ४५ ॥

हे दुर्योधन ! यह सुनकर तुम्हारी जो इच्छा हो, वह करो, अथवा यदि तुम ठीक समझो तो, पाण्डवोंमें सामका उपयोग करो, अर्थात् उन्हें समझा बुझाकर उनको शान्त करो॥४५॥

वैशम्पायन उवाच—

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ।
सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन बोले— द्रोणाचार्यके ऐसे वचन सुनकर धृतराष्ट्र ऐसा कहने लगे, हे विदुर ! द्रोणाचार्य गुरुने सत्य ही कहा, तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ ॥ ५६ ॥

यदि वा न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥ २३५४ ॥

और यदि वे मेरे पुत्र पाण्डव न लौटें तो अच्छी तरह सत्कृत होकर ही जायें, शस्त्र, रथ, पैदल और सब भोगकी वस्तुयें उनके साथ रहें ॥ ४७ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥ २३५४ ॥

ः ७२ ः

वैशम्पायन उवाच—

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाराज ! द्यूतमें हारकर पाण्डवोंके वन चले जाने पर धृतराष्ट्रको चिन्ता हुई ॥ १ ॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

वह राजा धृतराष्ट्र खिन्न होकर विचार करते हुए और लम्बी लम्बी साँसें लेता हुआ बैठा था, उसी समय संजय बोला ॥ २ ॥

अवाप्य वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिप ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्राज्याद्राजन्किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

हे पृथिवीनाथ ! धनसे पूर्ण पृथिवीको प्राप्त करके और, हे राजन् ! पाण्डवोंको राज्यसे निकालकर अब किसके लिए शोक करते हो ? ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

अशोच्यं तु कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि मित्रवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र बोले— युद्धमें विशारद, महारथी और सहायकोंसे युक्त पाण्डवोंसे जिसका वैर होनेवाला है, वह बिना सोचे कैसे रह सकता है ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच—

तवेदं सुकृतं राजन्महद्वैरं भविष्यति ।
विनाशः सर्वलोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥

सञ्जय बोले— हे राजन् ! यह आपका ही उत्तम कर्म है कि जिससे यह शत्रुता उत्पन्न होगी और इससे परिवार सहित सभी लोगोंका विनाश होगा ॥ ५ ॥

वार्यमाणोऽपि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥

भीष्म, द्रोण विदुरके द्वारा रोके जाने पर भी तुम्हारे निर्लज्ज मूर्ख पुत्र दुर्योधनने सुतपुत्र प्रातिकामीको भेजकर कहा कि धर्मचारिणी पाण्डवोंकी प्यारी स्त्री द्रौपदीको सभामें लेही आओ ॥ ६–७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽपाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र बोले— देवता जिस पुरुषको पराभव देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि नष्ट कर देते हैं, अतः, वह सब विपरीत ही देखता है ॥ ८ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥

जब बुद्धि विपरीत हो जाती है और नाश उपस्थित होता है, तब अन्याय भी न्यायके समान दीखने लग जाता है और वह बात उस पुरुषके हृदयसे बाहर नहीं निकलती ॥ ९ ॥

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशान्ते नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥

उस पुरुषको अनर्थ अर्थरूप और अर्थ अनर्थरूप दीखने लगते हैं और वे अनर्थ ही उसके विनाशके लिए तैय्यार हो जाते हैं वेही उसे प्रिय लगते हैं ॥ १० ॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥

काल लाठी लेकर किसीका सिर नहीं फोडता है, विपरीत बुद्धिको उत्पन्न करना यही कालका बल है ॥ ११ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥

यह घोर, भयंकर और रोमांच उत्पन्न करनेवाली आपत्ति तपस्विनी द्रौपदीको सभामें खींचकर लानेवालोंने स्वयं मोल ली है ॥ १२ ॥

अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावरीम् ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत्सभामध्यमृते दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणीं वरारोहां शोणितेन समुक्षिताम् ॥ १४ ॥

अयोनिसे उत्पन्न, रूपवती, उत्तम कुलमें उत्पन्न, धर्मोंको जाननेवाली और यशस्विनी स्त्री धर्म अर्थात् मासिकधर्मसे युक्त होनेके कारण रक्तसे भीगी हुई सुन्दरी उस द्रौपदीको कपटसे जुआ खेलनेवालोंके अलावा और कौन सभामें खींचकर ला सकता है ? ॥ १३-१४ ॥

एकवस्त्रां च पाञ्चालीं पाण्डवानभ्यवेक्षतीम् ।
हृतस्वान्भ्रष्टचित्तांस्तान्हृतदारान्हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान्सर्वकामेभ्यो दासभाववशं गतान् ।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥

एक वस्त्र पहने हुए तथा सर्वस्वको हारे हुए, भ्रष्ट चित्तवाले, अपहृत स्त्रियोंवाले, अपहृत लक्ष्मीवाले, सब कामनाओंसे रहित, दासभावको प्राप्त हुए, धर्मके पाशमें बंधे होनेके कारण पराक्रम दिखानेमें असमर्थ अपने पतियोंकी तरफ देखती हुई ॥ १५–१६ ॥

क्रुद्धाममर्षितां कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥

और क्रोधयुक्त, असहिष्णु, दुःखी कृष्णाको कौरवोंकी सभामें दुर्योधन, कर्णने अनेक कडुवी बातें कही ॥ १७ ॥

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ।
अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ॥ १८ ॥

हे सञ्जय ! द्रौपदीके दुःखार्त दृष्टिसे पृथिवी भी भस्म हो सकती है, फिर क्या मेरे पुत्र अब बच सकेंगे ? ॥ १८ ॥

भारतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह सङ्गताः ।
प्राक्रोशन्भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ॥ १९ ॥

द्रौपदीको सभामें आते देखकर कुरुकुलकी सब स्त्रियां गान्धारीके साथ साथ बहुत बुरी तरह रोती थीं ॥ १९ ॥

अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ।
ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन्द्रौपद्याः परिकर्षणे ॥ २० ॥

सभामें द्रौपदीको खींचनेके कारण ब्राह्मण क्रुद्ध हो गए हैं, इसलिए अब संध्याके समय अग्निहोत्र नहीं किए जाते ॥ २० ॥

आसीन्निष्टानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ।
दिवोल्काश्चापतन्घोरा राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन्भयम् ॥ २१ ॥

घोर वायु चलने लगी, आकाशमें वज्रका शब्द होने लगा, आकाशसे उल्कायें गिरने लगीं, प्रजाओंमें बहुत भयंकर भय उत्पन्न करते हुए, राहुने विना समय सूर्यको ग्रस लिया ॥ २१ ॥

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्च व्यवशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २२ ॥

रथशालाओंमें आग लग गई, भरतवंशियोंके अकल्याणकी सूचना देते हुए ध्वजायें भी टूट गईं ॥ २२ ॥

दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन्भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतोदिशम् ॥ २३ ॥

दुर्योधनकी अग्निशालामें गीदड घोर शब्द करने लगे, उनके शब्दको सुनकर सब दिशाओंमें गधे बोलने लगे ॥ २३ ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महारथः ॥ २४ ॥

हे सञ्जय ! तब द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य, बाह्लीक और महारथी सोमदत्त चले गए ॥२४॥

ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद्यदिच्छति ॥ २५ ॥

तब मैंने विदुरसे प्रेरित होकर कहा, कि मैं द्रौपदीको, वह जो जो चाहेगी, वह सब वर दूंगा ॥ २५ ॥

अवृणोत्तत्र पाञ्चाली पाण्डवानमितौजसः ।
सरथान्सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥ २६ ॥

तब द्रौपदीने रथ और धनुषोंसे युक्त अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको मांगा अर्थात् दासभावसे उनकी मुक्ति मांगी और मैंने भी वह वर उसे दे दिया ॥ २६ ॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् ।
एतदन्ताः स्थ भरता यद्वः कृष्णा सभां गता ॥ २७ ॥

उसी समय महापण्डित सब धर्मोंके जाननेवाले विदुरने कहा कि हे कौरवो ! समझ लो कि जब द्रौपदी सभामें आई, तभी तुम सबका अन्त भी आ गया ॥ २७ ॥

एषा पाञ्चालराजस्य सुतैषा श्रीरनुत्तमा ।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान्दैवसृष्टोपसर्पति ॥ २८ ॥

यह जो पांचालराजकी कन्या द्रौपदी है, वह एक उत्तम लक्ष्मी है । देवोंके द्वारा उत्पन्न की गई यह द्रौपदी पाण्डवोंके पीछे जा रही है ॥ २८ ॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्तेऽत्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महौजसः ॥ २९ ॥
तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैरभिरक्षितः ॥ ३० ॥

असहिष्णु पृथापुत्र पाण्डव उस द्रौपदीके दुःखको नहीं सह सकेंगे । इस कारण उन सत्यशील श्रीकृष्णसे रक्षित होकर अत्यन्त तेजस्वी पांचाल और महाधनुर्धारी वृष्णिगण तथा पांचालोंसे रक्षित होकर बीभत्सु अर्जुन शीघ्र ही आएगा ॥ २९-३० ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः ।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः ॥ ३१ ॥

उनके बीचमें महा बलशाली तथा महा धनुर्धारी भीमसेन कालदण्डके समान गदाको घुमाता हुआ आ पहुंचेगा ॥ ३१ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ३२ ॥

तब बुद्धिमान् अर्जुनके गाण्डीव धनुषका शब्द सुनकर भीमकी गदाके वेगको सहनेमें ये राजा समर्थ न होंगे ॥ ३२ ॥

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः सार्धं न विग्रहः।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवाञ्शक्तिमत्तरान् ॥ ३३ ॥

कौरवोंसे मैं पाण्डवोंको सदा बलवान् मानता हूं, अतः कौरवोंका पाण्डवोंके साथ हमेशा शत्रुता करना मुझे पसन्द नहीं है ॥ ३३ ॥

तथा हि बलवान्राजा जरासन्धो महाद्युतिः।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३४ ॥

तेजस्वी महाबलवान् राजा जरासन्धको भीमने युद्धमें बाहुओंकी चोटसे ही मार डाला ॥ ३४ ॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ॥ ३५ ॥

इसलिए, हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि ही हो। दोनों पक्षोंके लिए जो कल्याणकारी हो, उसे तुम निःशंक करते जाओ ॥ ३५ ॥

एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः।
उक्तवान्न गृहीतं च मया पुत्रहितेप्सया ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ समाप्तमनुद्यूतपर्व ॥ २३९० ॥

हे संजय! इस प्रकारसे विदुरने धर्म और अर्थसे सम्पन्न बातें मुझसे कहीं परंतु पुत्रोंका हित करनेकी इच्छासे मैंने वे बाते नहीं मानीं ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके सभापर्वमें बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ अनुद्यूतपर्व समाप्त ॥ २३९० ॥

॥ सभापर्व समाप्त ॥